

श्रीनरणाद्ववासुखधिकउत्त ॥ ३४ ॥ वृत्तिश्रीधमदास
क... वी...वाणी ॥
द... ग...
गणि विरचितं त्रयदिरामालाधक... मेमा...
...
...
...
...
...
... श्रीनंदलालजी महाराजकी नेभाष्य ॥

जैन आगमों का अर्थशास्त्रीय मूल्यांकन

डॉ. दिलीप धींग

जैन आगमों का अर्थशास्त्रीय मूल्यांकन

(An Economical Evaluation of Jain Agam Texts)

लेखक

डॉ. दिलीप धींग

[बी. कॉम, एम. ए.-प्राकृत (स्वर्ण पदक विजेता), पी.एच.डी.]



प्रकाशक

प्राकृत भारती आकदमी, जयपुर

प्रकाशक:

देवेन्द्रराज मेहता

संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक,

प्राकृत भारती अकादमी

१३-ए, गुरुनानक पथ, मेन मालवीय नगर,

जयपुर-302017

दूरभाष : 0141-2524827

कंपानी चेरिटेबल ट्रस्ट,

507, तुलसीयानी चेम्बर्स

नरिमन प्वाइंट - 400021

मुम्बई

प्रथम संस्करण - अप्रैल, 2007

मूल्य : 500/- रुपये

© डॉ. दिलीप धींग

ISBN- 978-81-89698-45-4

पृष्ठ संयोजन :

श्याम अग्रवाल, विमल सोनी

प्राकृत भारती अकादमी,

जयपुर

मुद्रक:

दी डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर

फोन नं० - 0141-2562929

जैन आगमों का अर्थशास्त्रीय मूल्यांकन /

डॉ. दिलीप धींग / 2007

अनुक्रमणिका

प्रकाशकीय	xv
ज्ञान और अर्थशास्त्र (लेखकीय)	xvii
गम्भीर प्रस्तुति (पुरोवाक्)	xxi
अध्याय प्रथम : आगम साहित्य का मूल्यांकन	१-३२
परिच्छेद एक : आगम - अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य	२-१२
- परिचय और परिभाषा	
- अंगप्रविष्ट आगम	
- द्वादशांगी	
- अंगबाह्य आगम	
- बारह उपांग	
परिच्छेद दो : मूल-सूत्र, छेद-सूत्र, प्रकीर्णक और व्याख्या साहित्य	१३-२३
- मूल सूत्र	
- छेद सूत्र	
- प्रकीर्णक साहित्य	
- निर्युक्ति साहित्य	
- भाष्य साहित्य	
- चूर्ण साहित्य	
- टीका साहित्य	
परिच्छेद तीन : शौरसेनी आगम साहित्य	२४-३२
- षट्खण्डागम	
- कुन्कुन्दाचार्य का साहित्य	
- अन्य ग्रन्थ	
- चार अनुयोग	
अध्याय द्वितीय : जैन परम्परा में अर्थ-विचार	३३-८९
परिच्छेद एक : अर्थ सम्बन्धी अवधारणाएँ	३४-४१
- कर्मभूमि और अर्थ	
- श्रमण संस्कृति और श्रम	
- तीर्थंकर की माँ के लक्ष्मी और रत्नराशि के स्वप्न	

	- सम्यग्दर्शन की प्राप्ति दान से	
	- अर्थशास्त्र के आदि संस्थापक ऋषभदेव	
	- असि, मसि व कृषि	
	- विद्या, वाणिज्य व शिल्प	
	- आगमों में अर्थशास्त्र के सन्दर्भ	
परिच्छेद दो	: पुरुषार्थ चतुष्टय और अर्थ	४२-५०
	- चार पुरुषार्थ	
	- धर्म और अर्थ	
	- काम और अर्थ	
	- मोक्ष और अर्थ	
	- चारों पुरुषार्थों के अन्तर्सम्बन्ध	
	- अर्थ पुरुषार्थ की महत्ता	
	- वैषम्य निवारण में पुरुषार्थ	
	- अर्थ के उपयोग की दृष्टियाँ	
	- 'दव्व' शब्द का अर्थ	
	- अर्थोपार्जन की तीन दृष्टियाँ	
	- दान	
	- निवेश और व्यवसाय विस्तार	
परिच्छेद तीन	: अर्थोपार्जन के मुख्य साधन	५१-६५
	- अर्थोपार्जन में पर्यावरण दृष्टि	
	- अर्थोपार्जन के मुख्य साधन	
	- भूमि	
	- वन-सम्पदा	
	- खनिज सम्पदा	
	- जल सम्पदा	
	- भू-स्वामित्व	
	- श्रम (मानव संसाधन)	
	- श्रम और दास प्रथा	
	- श्रम विभाजन	
	- पूंजी	

- भ.महावीर के दस श्रावकों की पूंजी
- पूंजी और हैसियत
- प्रबन्ध
- वाणिज्यिक कौशल
- संघीय व्यवस्था का निदर्शन
- आनन्द आदि श्रावकों का प्रबन्ध कौशल
- कार्यों में समन्वय

परिच्छेद चार

: मुद्रा और विनिमय

६६-७६

- पारस्परिक निर्भरता का सिद्धान्त
- मुद्रा का आविष्कार
- मुद्रा
- स्वर्ण-सिक्के
- रजत-सिक्के
- ताम्र व अन्य मुद्रा
- जैन-सिक्के
- ऋय-शक्ति
- माप-तौल
- वितीय प्रणालियाँ
- कोष की उपलब्धता
- ऋण देना
- जमाएँ स्वीकार करना

परिच्छेद पाँच

: राजस्व और कर-प्रणालियाँ

७७-८९

- राज्य की आय के स्रोत
- लगान
- करारोपण
- 18 प्रकार के कर
- गृहकर
- वाणिज्यकर
- अन्य स्रोतों से आय
- उपहार व भेंट

- गुप्त सम्पत्ति
- लावारिस सम्पत्ति
- पराजित राजाओं से प्राप्त धन
- अर्थ-दण्ड
- कर संग्रहण
- कर मुक्ति
- करापवंचन
- बेगार प्रथा
- राज्य के व्यय
- जन-कल्याण
- शासन व्यवस्था
- सैन्य व्यवस्था
- अन्य व्यय

अध्याय तृतीय : जैन आगमों में आर्थिक जीवन

परिच्छेद एक

: प्राथमिक उद्योग व कृषि

- कृषि
- कृषि-भूमि
- कृषि और ग्राम्य अर्थव्यवस्था
- खेतों की रक्षा
- फसलें
- विभिन्न धान्य
- मसालें
- गन्ना
- कपास
- साग-सब्जियाँ व अन्य
- भण्डारण
- कृषि उपकरण
- खाद
- जुताई व बुवाई
- सिंचाई
- खेती पर आपदाएँ
- राज्य की भूमिका

१०-१७३

११-१०३

परिच्छेद दो	: पशुपालन	१०४-१०८
	<ul style="list-style-type: none"> - दस श्रावकों का पशुधन - पशुपालन का उद्देश्य - दुग्ध और दुग्धोत्पाद - भारवाहक पशु - हाथी - भेड़, बकरी व ऊँट - मृत पशु की उपयोगिता 	
परिच्छेद तीन	: उद्यानिकी, वानिकी और खनन	१०९-११६
	<ul style="list-style-type: none"> - फूल लताएँ - फल और वृक्ष - वानिकी और वनोत्पाद - धातुएँ - खनिज - मूल्यवान पत्थर - विभिन्न आभूषण 	
परिच्छेद चार	: द्वितीयक उद्योग	११७-१४३
	<ul style="list-style-type: none"> - मनुष्य की कलापियता और शिल्प - उद्योगों का वर्गीकरण - व्यवसाय, शिल्प और 72 कलाएँ - महिलाओं की 64 कलाएँ - मुख्य उद्योग - वस्त्र उद्योग - सूती वस्त्र - रेशमी वस्त्र - ऊनी वस्त्र - चर्म वस्त्र - अन्य वस्त्र - रंगाई उद्योग - तैयार वस्त्र उद्योग - प्रसिद्ध वस्त्र व्यवसाय केन्द्र - धातु उद्योग 	

- लोह उद्योग
- स्वर्ण-रजत व रत्न उद्योग
- भाण्ड उद्योग
- वास्तु विद्या
- काष्ठ उद्योग
- गुड़ व शक्कर उद्योग
- तेल उद्योग
- दवा व्यवसाय
- प्रसाधन व्यवसाय
- नमक उद्योग
- चर्म उद्योग
- मद्य व्यापार
- हाथी दाँत व्यापार
- चित्र व्यवसाय
- अन्य उद्योग धन्धे
- कर्म आर्य
- शिल्प आर्य
- भाषा और आजीविका

परिच्छेद पाँच

: व्यापार, व्यवसाय और वाणिज्य

११४-१५८

- व्यापार और व्यापारी
- स्थानीय व्यापार
- वणिक
- गाथापति
- सार्धवाह
- महिला उद्यमी
- व्यापारिक संगठन
- व्यापार केन्द्र
- प्रसिद्ध व्यापार केन्द्र

परिच्छेद छः

: आयात-निर्यात

१५९-१७३

- व्यापारिक मार्ग
- स्थल मार्ग
- उत्तरापथ

- जल-मार्ग
- समुद्री मार्ग
- यान और वाहन
- जल वाहन
- वायुयान
- आर्थिक पक्ष से जुड़े प्रमुख चरित्र
- माकन्दी सार्थवाह
- धन्य सार्थवाह
- समुद्रपालीय
- उपासकदशांग के दस श्रावक

अध्याय चतुर्थ : मूल्यपरक अर्थव्यवस्था

१७४-२४०

परिच्छेद एक

: अणुव्रतों का अर्थशास्त्र

१७५-२११

- बारह व्रतों का आर्थिक अध्ययन
- अहिंसा
- सत्य
- अचौर्य
- ब्रह्मचर्य
- अपरिग्रह
- रात्रि भोजन निषेध
- दिशा परिमाण व्रत
- उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत
- पन्द्रह कर्मादान
- अनर्थदण्ड विरमण व्रत
- सामायिक व्रत
- देशावकाशिक व्रत
- पौषधोपवास व्रत
- अतिथि-संविभाग व्रत

परिच्छेद दो

: दान, गृहस्थाचार और राष्ट्र-धर्म

२१२-२२५

- वर्षादान
- निर्धन ब्राह्मण को वस्त्रदान
- दान प्रथम
- दान बनाम संविभाग
- दान और अणुव्रत

	- दान और समता	
	- दान के दस प्रकार	
	- आपातकाल में दान	
	- जगडूशाह	
	- भामाशाह	
	- गृहस्थाचार और राष्ट्रधर्म	
	- ठाणांग के दस धर्म	
परिच्छेद तीन	: व्यसन निषेध और मार्गानुसारी के गुणों का आर्थिक पक्ष	२२६-२४०
	- सप्त व्यसन	
	- मांसाहार	
	- मद्यपान	
	- पर-स्त्री गमन या पर-पुरुष गमन	
	- वैश्या गमन	
	- शिकार	
	- चोरी	
	- जुआ	
	- अन्य व्यसन	
	- मार्गानुसारी के 35 गुण	
अध्याय पंचम	: अहिंसा और संयम का अर्थशास्त्र	२४१-३००
परिच्छेद एक	: सिद्धान्त व दर्शन का अर्थशास्त्र	२४२-२५२
	- सिद्धान्त व दर्शन का अर्थशास्त्र के साथ सह-	
	- सम्बन्ध	
	- तत्त्वज्ञान	
	- पुण्य तत्त्व	
	- पाप तत्त्व	
	- आश्रव, बन्ध व संवर	
	- निर्जरा (तप)	
परिच्छेद दो	: अनेकान्त, कर्मवाद और पुरुषार्थ	२५३-२६३
	- सापेक्षता और अनेकान्त	
	- आर्थिक जगत् में अनेकान्त	
	- नयवाद	
	- प्रबन्ध में अनेकान्त	

	- वैचारिक सहिष्णुता	
	- कर्मवाद और पुरुषार्थ	
	- पुनर्जन्म का सिद्धान्त	
	- भाग्यवाद बनाम पुरुषार्थवाद	
	- कर्मबन्ध के पाँच कारण	
	- आठ कर्म	
परिच्छेद तीन	: कषाय-मुक्ति और सम्पन्नता	२६४-२७१
	- चार कषाय	
	- षट्केश्या और व्यक्तित्व	
परिच्छेद चार	: आत्मवाद और मानववाद	२७२-२८०
	- वस्तु-स्वातन्त्र्य	
	- स्थावर जीव	
	- लस जीव	
	- मानववाद और अर्थशास्त्र	
परिच्छेद पाँच	: अहिंसा के अर्थशास्त्र के आयाम	२८१-२९३
	- अहिंसा की आधारशिला	
	- शाकाहार और अर्थतन्त्र	
	- जल-बचत और शाकाहार	
	- शाकाहार : कम जमीन पर अधिक उत्पादन	
	- शाकाहार यानि अन्न बचत	
	- कल्लखाने और अर्थ-तन्त्र	
	- कल्लखाने और पर्यावरण	
	- मांस-निर्यात और अर्थतन्त्र	
परिच्छेद छः	: संयम के अर्थशास्त्र के आयाम	२९४-३००
	- आर्थिक संयम	
	- संयम के प्रकार	
	- जनसंख्या-सिद्धान्त और ब्रह्मचर्य	
	- असंयम के परिणाम	
अध्याय षष्ठम : आगमिक और आधुनिक अर्थशास्त्र		३०१-३५९
परिच्छेद एक	: भ. महावीर का अर्थशास्त्रीय व्यक्तित्व	३०२-३०६
	- वर्धमान	
	- कौटुम्बिक प्रेम	

	- संयमित जीवन	
	- स्वावलम्बन की शिक्षा	
	- आजीविका पर चोट नहीं	
	- नारी उद्धार	
	- समता का साम्राज्य	
	- जनभाषा का प्रयोग	
परिच्छेद दो	: अपरिग्रह का अर्थशास्त्र	३०७-३१५
	- अर्थशास्त्र का मूल व्रत	
	- जैन परम्परा की देन : अपरिग्रह	
	- अस्तेय और अपरिग्रह	
	- कर्मठता और अस्तेय	
	- अप्रमाद और अस्तेय	
	- अस्तेय और प्रामाणिकता	
	- प्रामाणिकता के सुपरिणाम	
	- परिग्रह के भेद-प्रभेद	
	- परिग्रह के तीस नाम	
	- अपरिग्रह और इच्छा-परिमाण	
	- अपरिग्रह और विकास	
	- अहिंसा से अपरिग्रह तक	
	- व्यक्तित्व रूपान्तरण से व्यवस्था परिवर्तन	
परिच्छेद तीन	: मध्ययुगीन अर्थव्यवस्था	३१६-३३३
	- मौर्य साम्राज्य पर प्रभाव	
	- चाणक्य पर प्रभाव	
	- विहंगावलोकन	
	- वसुदेवहिण्डी में आर्थिक व्यवस्था	
	- कुवलयमालाकहा में आर्थिक जीवन	
	- खनन और स्फोट-कर्म	
	- आगम और अगमोत्तर युग	
	- सोमदेव सूरि का चिन्तन	
	- निःशस्त्रीकरण का प्रथम सन्देश	
	- हेमचन्द्राचार्य और कुमारपाल	
	- जैनों का अर्पदान	
	- प्राकृत : रोजी-रोटी की भाषा	

परिच्छेद चार	<ul style="list-style-type: none"> - मांग व पूर्ति में सन्तुलन : आधुनिक अर्थव्यवस्था - पूंजीवाद - समाजवाद और साम्यवाद - मूल में भूल - पर्यावरण की क्षति - भ.महावीर और महात्मा गांधी - अणुव्रत और गांधीजी - सर्वोदय - कल्याणकारी अर्थशास्त्र - बाजारवाद - नारी का चीर हरण - बाजार के आधार - भूमण्डलीकरण - भय और हिंसा का अर्थ-तन्त्र - परमाणु आयुधों का जाखीरा 	३३४-३५०
परिच्छेद पाँच	<ul style="list-style-type: none"> : तुलनात्मक अध्ययन - साधन-साध्य की शुचिता - शिक्षा और स्वास्थ्य - दवा उद्योग का निदर्शन - निष्पत्ति 	३५१-३५९
उपसंहार	<ul style="list-style-type: none"> - आगम साहित्य का महत्व - जैन परम्परा में अर्थ सम्बन्धी अवधारणाएँ - अर्जन और विसर्जन में विवेक - अर्थोपार्जन के साधन - श्रम और पूंजी - मुद्रा और राजस्व - प्राथमिक उद्योग - द्वितीयक उद्योग - व्यापार और व्यापार-केन्द्र - अणुव्रत और समता 	३६०-३७६

- गुणव्रत और संयम
- शिक्षाव्रत और संविभाग
- व्यसनमुक्ति और सम्पन्नता
- सिद्धान्त और दर्शन का आर्थिक पक्ष
- अहिंसा और अनेकान्त
- आत्म-संयम और परिवार नियोजन
- अपरिग्रह का अर्थशास्त्र
- मध्यकाल पर प्रभाव
- आधुनिक अर्थव्यवस्था और अहिंसा

सन्दर्भ-ग्रन्थ

३७७-३७८

- प्राचीन आगम और ग्रन्थ
- आधुनिक शोध ग्रन्थ
- शब्दकोष
- शोध पत्र-पत्रिकाएँ

प्रकाशकीय

मूल्यात्मक अर्थव्यवस्था की आवश्यकता

वर्तमान विश्व अनेक संकटों और समस्याओं से जूझ रहा है। समस्याओं का एक शब्द में कारण ढूँढा जाय तो वह शब्द है - हिंसा और उसका समाधान है - अहिंसा। हिंसा का प्रमुख कारण परिग्रह है। शान्ति के लिए अहिंसा और अपरिग्रह की दुनिया को आवश्यकता है। दुनिया की सारी गतिविधियाँ अर्थ से संचालित होती हैं। यदि अर्थ की व्यवस्था में अहिंसा और अपरिग्रह जैसे उदात्त और कालजयी मूल्यों का समावेश कर लिया जाय तो वसुंधरा को स्वर्ग बनाया जा सकता है। जीवन में अर्थ का प्रभाव और अभाव दोनों ठीक नहीं हैं। मूल्यपरक अर्थव्यवस्था अर्थ के अभाव और प्रभाव दोनों को समाप्त करने में सक्षम है। भगवान महावीर के सिद्धान्त और उनका आचार दर्शन समतामूलक अर्थ-समाजव्यवस्था की स्थापना करता है। डॉ. दिलीप धींग ने प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में एक ऐसी ही मूल्याधारित अर्थव्यवस्था की वकालत की है, जिसके सूत्र आगम साहित्य में मोतियों की मानिन्द बिखरे पड़े हैं।

डॉ. धींग की यह हार्दिक इच्छा रही कि प्राकृत भारती अकादमी से इस महत्वपूर्ण शोध ग्रन्थ का प्रकाशन हो। आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी के शिष्य श्रमणसंघीय सलाहकार दिनेश मुनि जी ने भी अकादमी को इस बाबत लिखा। पाठकों के हाथों में यह ग्रन्थ समर्पित करते हुए हमें प्रसन्नता है। ग्रन्थ की विषय-वस्तु समय और समाज की मांग को पूरा करती है। हमारी भावना है कि ग्रन्थ का अंग्रेजी संस्करण भी प्रकाशित हो, जिससे अधिकाधिक लोगों तक भगवान महावीर की मूल्यपरक अर्थव्यवस्था के सूत्र पहुँचाये जा सकें। विश्वास किया जाना चाहिये कि यह ग्रन्थ व्यक्ति और समाज तथा देश और दुनिया के लिए उपयोगी और मार्गदर्शक सिद्ध होगा।

देवेन्द्रराज मेहता

संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

शास्त्र और अर्थशास्त्र

संसार अर्थ के इर्द-गिर्द घूम रहा है। अर्थ को इतना महत्व मिला कि इसकी प्राप्ति के लिए हित-अहित विवेक को भी उपेक्षित किया जाने लगा। यहाँ तक, अर्थ के जो शास्त्र बने या बनाये गये, उनमें भी नीति-अनीति और हिंसा-अहिंसा के विवेक की प्रायः अवहेलना हुई है। फलस्वरूप सुख-शान्तिमय, सह-अस्तित्वपूर्ण जिस आदर्श अर्थ-समाजव्यवस्था की अपेक्षा सबको है, उसकी पूर्ति नहीं हो पा रही है। ढेर सारी चीजों और अत्याधुनिक उपकरणों के बीच आदमी अशान्त है। इस अशान्ति को मिटाने के लिए वह और-और चीजें प्राप्त करना चाहता है। उपभोक्तावादी व्यवस्था उसकी चाहत को हवा देती है। परन्तु स्थायी सुख महज भौतिक सम्पदाओं पर आश्रित नहीं है। भीतर और बाहर की सम्पदाओं के विवेकसम्मत सुमेल पर आदर्श आर्थिक सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जा सकती है। जैन आगम ऐसी उत्तम व्यवस्था के प्राचीनतम आधार हैं।

प्रस्तुत श्लेष प्रबन्ध के छः अध्यायों में जैन आगमों में प्रतिपादित आर्थिक चिन्तन का कई दृष्टियों से मूल्यांकन किया गया है। प्रथम अध्याय में जैन आगम साहित्य का परिचय दिया गया है। इस समीक्षा से यह अनुमान लगाना आसान है कि जैन आगम साहित्य का परिमाण विपुल है और विषय-सामग्री विविध है। द्वितीय अध्याय में जैन परम्परा में स्पष्ट या गर्भित रूपों में प्राप्त अर्थ सम्बन्धी तथ्यों पर विचार किया गया है। यह विचार अर्थ के प्रति सम्यक् दृष्टिकोण विकसित करता है। अर्थोपार्जन के साधनों, मुद्रा और राजस्व के आगमिक उल्लेखों का विवेचन भी इस अध्याय में किया गया है।

तीसरे अध्याय में जैन आगमों में वर्णित आर्थिक जीवन पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। यह अध्याय प्राचीन भारत के जैन आगमों में उल्लेखित व्यापार, वाणिज्य और उद्योगों की जानकारी प्रदान करता है। इसके माध्यम से तत्कालीन समाज के आर्थिक जीवन तथा आगमों में अंकित अपरिग्रही, संयमी और साहसी उद्यमियों के प्रेरक चरित्र भी उजागर हुए हैं, जो आज के भौतिकवादी मानव को अर्थ और अध्यात्म (प्रवृत्ति और निवृत्ति) के समन्वय से निष्पन्न जीने

की उत्तम कला सिखाते हैं। चौथे अध्याय में गृहस्थाचार का अर्थशास्त्रीय अध्ययन किया गया है। भगवान महावीर ने सदग्रहस्थ के लिए बारह व्रतों की जो व्यवस्था दी है, वह व्यवस्था व्यक्ति को एक नीतिवान मनुष्य और श्रेष्ठ नागरिक बनाती है। सुदृढ़ आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था के लिए आगमों में वर्णित गृहस्थाचार का अत्यधिक महत्व है। जैनाचार्यों ने गृहस्थाचार को युगानुकूल प्रस्तुतियाँ दीं। ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र-धर्म, औदार्य-भाव, व्यसनमुक्ति, मार्गानुसारी के गुण आदि का आर्थिक विवेचन अभिनव आर्थिक-विवेक और कर्तव्य-बोध पैदा करता है। समाज और धर्म दोनों के लिए उज्वल आर्थिक चरित्र बहुत आवश्यक है।

पाँचवें अध्याय में आगमिक सिद्धान्त और दर्शन का आर्थिक विवेचन किया गया है। कर्मवाद, आत्मवाद, अनेकान्त, अहिंसा आदि सिद्धान्तों के आगमिक आधार अत्यन्त मौलिक और वैज्ञानिक हैं। उन्हीं बुनियादी आधारों पर संस्कृति का भव्य प्रासाद खड़ा है। इस अध्याय में अहिंसा के शाकाहार पक्ष और संयम के ब्रह्मचर्य पक्ष का आर्थिक मूल्यांकन किया गया है; जो हिंसा, भोग और विलासिता पर खड़ी व्यवस्था के लिए बहुत समाधानकारी है। छठे अध्याय में आगमिक और आधुनिक अर्थशास्त्र पर विचार किया गया है। इस अध्याय में भगवान महावीर के अर्थशास्त्रीय व्यक्तित्व के बाद उनके अपरिग्रह दर्शन पर चिन्तन किया गया है। उसके बाद मध्ययुगीन व्यवस्थाओं पर विहंगम दृष्टिपात किया गया है। तत्पश्चात् विभिन्न आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं की समीक्षा और उनके साथ आगमिक अर्थशास्त्र की तुलना की गई है। अन्त में, उपसंहार में सभी अध्यायों का सार प्रस्तुत किया गया है। सार रूप में आगमिक अर्थशास्त्र व्यक्तिगत स्तर पर श्रम और स्वतन्त्रता, कौटुम्बिक स्तर पर स्नेह और सहयोग, सामाजिक स्तर पर समता और समानता, व्यावसायिक स्तर पर निष्ठा और प्रामाणिकता, राष्ट्रीय स्तर पर कर्तव्य और कुशलता तथा वैश्विक स्तर पर शान्ति और पर्यावरण-संरक्षण को सुनिश्चित करता है।

जैन आगमों में आर्थिक चिन्तन तथा आगमों के आचार-दर्शन का अर्थशास्त्रीय मूल्यांकन विषय पर बहुत कम कार्य हुआ है। इस सम्बन्ध में डॉ. जगदीश चन्द्र जैन की पुस्तक 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज', आचार्य श्री महाप्रज्ञ की पुस्तक 'महावीर का अर्थशास्त्र', डॉ. कमल जैन की पुस्तक 'प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन' तथा डॉ. दिनेन्द्र चन्द्र जैन की पुस्तक 'इकोनोमिक लाइफ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया एज डेपिक्टेड इन जैन कैनोनिकल

लिटरेचर' दिशा निर्देश करती हैं। इस शोध कार्य का स्वरूप, दृष्टिकोण और उद्देश्य पूर्व कार्यों से सर्वथा भिन्न है। आधुनिक आर्थिक प्रणालियों के व्यापक परिप्रेक्ष्य में आगमिक आर्थिक व्यवस्था, आचार व्यवस्था, सिद्धान्तों और दार्शनिक मान्यताओं के व्यावहारिक पक्ष को इसमें सुसंगत ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

आभार

जैनविद्या के प्रति मेरे मन में आरम्भ से ही सहज श्रद्धा और जिज्ञासा रही है। इस वजह से जैनविद्या के मनीषियों के प्रति भी सदैव आदर का भाव रहा है। इन मनीषियों में परमादरणीय प्रो. प्रेम सुमन जैन का नाम मेरे हृदय पटल पर करीब डेढ़ दशक से अंकित है। पेशे के रूप में लेखांकन और कर-परामर्श से मेरा जुड़ाव होने से अर्थशास्त्र और आगम से सम्बन्धित विषय मुझे उचित प्रतीत हो रहा था। मेरे विचारों को जानकर डॉक्टर साहब (प्रेम सुमन जी) ने मेरे शोध-प्रबन्ध का विषय सुझाया। उनके अनुभवपूर्ण और विद्वत्तापूर्ण सुझावों से मेरे शोध को नई दिशाएँ मिलीं। गुणवत्ता और मौलिकता उन्हें प्रिय हैं। ऐसे दीर्घ अनुभवी विद्वान के निर्देशन में शोध-कार्य करने का मुझे हर्ष और गर्व है।

मेरा पैतृक गाँव बम्बोरा है, जो उदयपुर से पूर्व दिशा में पचास किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। पेशे की वजह से मैं उदयपुर में रह रहा हूँ। साथ में जीवन-संगिनी सीमा और चि. प्रणत हैं। हमारा गाँव जाना होता रहता है और परिजनों का यहाँ आना होता रहता है। पिता श्री कन्हैया लाल जी धींग हमसे मिलने और हमें संभालने के लिए शहर आते रहते थे। सितम्बर-2004 की आखिरी तारीख को वे यहाँ आये तब उन्होंने मुझे शोध-कार्य शीघ्र पूरा करने के लिए कहा था। 9 अक्टूबर 2004, शनिवार (आश्विन कृष्ण १०, वि.सं. २०६१) को पूर्वाह्न करीब पौने ग्यारह बजे दिल का दौरा पड़ने से उनका अचानक अकल्पनीय अवसान हो गया। मेरे लिए ही नहीं, पूरे परिवार के लिए यह असह्य दुःख की घड़ी थी। इस शोध-कार्य की सम्पूर्ति पर मैं पूज्य पिताजी की पुनीत स्मृति और प्रेरणा को नमन करता हूँ।

जिस गृहस्थाचार की अर्थशास्त्रीय चर्चा प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में की गई है, उसके बोल बचपन से ही मैं मेरी माताजी उमराव देवी के मुँह से उनकी पाक्षिक प्रतिक्रमण-साधना के दौरान सुनता रहा हूँ। उनका जीवन अणुव्रतों से अनुप्राणित है। इसलिए इस शोध-कार्य में उनका जीवन ही मेरे लिए प्रेरणा-स्रोत बना है।

श्रमण संघीय सलाहकार श्री दिनेश मुनि जी के मुक्त सहयोग की वजह से जैनाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि शोध संस्थान पुस्तकालय में उपलब्ध पुस्तकों से मैं बहुत लाभान्वित हुआ। सुखाड़िया विश्वविद्यालय तथा जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग के पुस्तकालयों से भी मैं लाभान्वित हुआ। इनके अलावा आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, हुकम गुरु जैन ग्रन्थालय तथा अम्बा गुरु शोध संस्थान के पुस्तकालयों में उपलब्ध पुस्तकें भी मेरे शोध-कार्य के लिए उपयोगी रहीं। इन सभी पुस्तकालयों के प्रबन्धकों व सम्बन्धित जनों के प्रति मैं आभारी हूँ। जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग के अध्यक्ष डॉ. यू. सी. जैन, पूर्व अध्यक्ष डॉ. एच. सी. जैन, कर्नल डॉ. डी. एस. बया आदि का भी समय-समय पर मार्गदर्शन मिलता रहा। प्रकाशन की प्रेरणा के लिए मैं श्री मोहन सिंह जी दलाल (सुराणा), युवा उद्यमी श्री पंकज कोठारी (देवगढ़), श्री अनिल व अरुण ढाबरिया, जैन दिवाकर संगठन समिति के उपाध्यक्ष श्री कन्हैयालाल जी मेहता, श्री कालूलाल जी नागोरी आदि के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

शोध-प्रबन्ध के पुस्तकाकार प्रकाशन के लिए मैं प्राकृत भारती अकादमी के सचिव माननीय श्री देवेन्द्र राज जी मेहता, महोपाध्याय श्री विनयसागर जी, श्री सुरेन्द्र जी बोथरा एवं सदस्यों के प्रति बहुत अनुगृहीत हूँ। प्रकाशन के लिए अकादमी की सहर्ष स्वीकृति के फलस्वरूप यह शोध-प्रबन्ध पाठकों के हाथों में समय पर पहुँच पाया है।

मेरे ताऊ श्री शान्तिलाल जी धींग, अग्रज दादाभाई श्री सुरेशचन्द्र धींग व श्री अनिल धींग, अग्रजा आशा कुन्दनमल दाणी और अनुजा रेखा धर्मेश जारोली की प्रत्यक्ष परोक्ष प्रेरणा मुझे सदैव मिलती रही है। मेरे साथी श्री अभय धींग का ऑफिस के कार्यों में सहयोग मिलता है। श्री गिरीश मेहता ने शोध-प्रबन्ध की टाइपिंग में सहयोग किया। जाने-अनजाने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष जिनका भी सहयोग मिला उन सबके प्रति मैं आभारी हूँ।

- डॉ. दिलीप धींग

गम्भीर प्रस्तुति

जैन परम्परा में साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका समूह रूपी चतुर्विध संघ को तीर्थ कहा गया है। सभी तीर्थंकर सर्वप्रथम संसार सागर से संतरण में सहाय्य इस मंगल-तीर्थ की स्थापना करने के कारण तीर्थंकर कहलाते हैं तथा इसी तीर्थ के माध्यम से मोक्षमार्ग का प्रवर्तन करते हैं।

चतुर्विध संघ में जहाँ आध्यात्मिक साधना को पूर्णरूपेण समर्पित सर्वविरत साधक-साधिका वर्ग है, वहीं उनकी साधना में सहायक एवं स्वयं भी अंशतः अध्यात्म साधक (देश विरत) श्रावक-श्राविका वर्ग भी है। स्पष्ट है कि गृहस्थ श्रावक-श्राविका के बिना साधक-साधिका वर्ग की साधना भी सम्भव नहीं हो सकती है।

गृहस्थ के कर्तव्यों में स्वयं के लिए जीविकोपार्जन के साथ ही सामाजिक सारोकारों व अतिथि संविभाग व्रत के माध्यम से अर्थ व काम से असंपृक्त सर्वविरत साधक-साधिका वर्ग के जीवन यापनार्थ भोजन, वस्त्र, पात्र, आसन, वसति आदि से सहयोग करना भी अपेक्षित है। जैन परम्परा की भाँति बौद्ध परम्परा में भी उपासक-उपासिका वर्ग तथा वैदिक परम्परा की आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत गृहस्थाचार का महत्व है। गृहस्थ के अधिकांश कर्तव्य अर्थाश्रित होने से मानव संस्कृति के अदि काल से ही सभी समाजों में आर्थिक चिन्तन का विकास हुआ है। प्राचीन भारतीय वांग्मय में आर्थिक चिन्तन का विकास-क्रम देखा जा सकता है, जिसमें कौटिलीय अर्थशास्त्र प्रतिनिधि ग्रन्थ है। यह विडम्बना ही कही जायेगी कि वर्तमान विश्व परिदृश्य में पाश्चात्य आर्थिक चिन्तन इतना सर्वव्यापी है कि भारतीय आर्थिक चिन्तन को उसकी अपेक्षित प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं है। उसमें भी यदि भारतीय अर्थ-चिन्तन की दृष्टि से देखा जाय तो जैन अर्थ-चिन्तन तो लगभग मूक ही है। इसकी एक प्रमुख वजह है इसका प्राकृत भाषा में निगूढ़ प्राचीन आगम ग्रन्थों में प्रच्छन्न होना तथा वर्तमान काल के आध्यात्मोन्मुख आगमवेत्ताओं की अर्थ-चिन्तन के प्रति उदासीनता।

इन सबके बावजूद अर्थ की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। 'अर्थेण स्वप्नाः सिद्धाः' के अनुसार अर्थ से ही जीवनयापन सहित सभी सांसारिक संकल्प

सिद्ध होते हैं। अतः समाज में एक स्वस्थ आर्थिक-चिन्तन का होना अति आवश्यक है। यह प्रसन्नता का विषय है कि श्री दिलीप धींग ने अपने शोध-प्रबन्ध की विषयवस्तु के रूप में 'प्रमुख जैनागमों में प्रतिपादित आर्थिक चिन्तन' को अपने समीक्षात्मक अध्ययन के लिए चुना।

डॉ. दिलीप एक गंभीर प्रकृति एवं अध्ययनशील व्यक्तित्व के धनी हैं तथा तदनु रूप ही उन्होंने प्रस्तुत शोध-कार्य को अत्यन्त श्रमपूर्वक समग्र उपलब्ध साहित्य का आलोडन करके निष्कर्ष तक पहुँचाया है। इस शोध-प्रबन्ध में जहाँ उन्होंने जैन वांगमय से निर्यूहित अर्थ सम्बन्धी अवधारणाओं, अर्थोपार्जन के प्रमुख साधनों, मुद्रा, विनिमय, राजस्व और कर-प्रणालियों को पाठकों के सम्मुख रखने का महत् प्रयास किया है, वहीं जैनागमों व व्याख्या-साहित्य में वर्णित कृषि, पशुपालन, उद्यानिकी, वानिकी, खनन, व्यापार, व्यवसाय, वाणिज्य तथा आयात-निर्यात जैसे विषयों को भी पूरी गम्भीरता से प्रस्तुत किया है।

अर्थानुशासन किसी भी समाज की नैतिकता का आईना होता है। इस सन्दर्भ में डॉ. धींग ने इस शोध-प्रबन्ध में श्रावकाचार के आर्थिक पहलुओं का गहन परीक्षण किया है तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, परिग्रह-परिमाण जैसे ब्रतों की सम्यक् समीक्षा की है। इसके अतिरिक्त आगमिक सिद्धांत और दर्शन के अर्थशास्त्रीय पक्ष को अभिनव ढंग से प्रस्तुत किया है। अध्ययन के समापन में उन्होंने आगमिक व आगमकालीन अर्थव्यवस्था की मध्ययुगीन और आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं से तुलना करके इस शोध-प्रबन्ध की उपयोगिता बहुगुणित कर दी है।

डॉ. धींग से मैं उनके बाल्यकाल से ही परिचित हूँ तथा उनके धर्मानुराग, अध्ययनशीलता व विनम्रता जैसे गुणों का प्रशंसक भी हूँ। इस ग्रन्थ में मैं उनके व्यक्तित्व के एक नये आयाम - शोधप्रियता को देख रहा हूँ। यह लेखक की शोध विषयक प्रथम कृति है; फिर भी इसमें उनकी लेखन क्षमता, भाषा पटुता व भाव प्रवणता का स्तुत्य समावेश हुआ है। मैं आशा करता हूँ कि वे अपनी इस विधा का उत्तरोत्तर विकास करेंगे तथा हमें उनकी सबल लेखनी से और भी रचनाएँ पढ़ने को मिलती रहेंगी। मैं उनकी श्रुताराधना के मंगलमय होने की शुभकामना करता हूँ। शुभास्ते पंथानः स्युः।

- डॉ. (कर्नल) दलपतसिंह बया श्रेयस

आमुख

सृष्टि के आदिकाल से ही मानव किसी न किसी आर्थिक गतिविधि में लिप्त रहा है। वस्तुतः प्राकृतिक साधनों के दोहन एवं इससे उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन की प्रक्रिया को ही आर्थिक गतिविधि कहा जाता है। फिर इससे जुड़े जितने भी उपक्रम हैं मानव उनका सम्पादन एवं संचालन इसलिए करता है कि उत्पादन एवं उपभोग के बीच की सभी व्यवस्थाएं सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित की जा सके। आज के संदर्भ में इन सभी को प्रबन्धन (Management) की संज्ञा दी जाती है तथा प्रबन्धन से सम्बद्ध विशिष्ट ज्ञान-विज्ञान प्रबन्धन, उत्पादन प्रबन्धन, मानव संसाधन प्रबन्धन आदि - की श्रेणी में इन्हें रखा जाता है।

आधुनिक अर्थशास्त्र के जनक एडमस्मिथ ने लगभग अढ़ाई शताब्दी पूर्व यह कहा था कि धन की उत्पत्ति के मूल में श्रम तथा श्रम विभाजन निहित हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में एल्फ्रेड मार्शल ने स्मिथ का समर्थन करते हुए यह कहा कि मानव कल्याण का स्तर धन के उपार्जन के साथ ही इसके उपयोग पर भी निर्भर करता है।

जैन आगमों के अनुसार प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने लाखों वर्ष पूर्व मानव को कृषि की महत्ता से अवगत कराया तथा समाज के अलग-अलग वर्गों को उनकी क्षमता के अनुरूप कार्य करने हेतु संदेश दिया। यही बात 18वीं शताब्दी में जाकर फ्रांस के प्रकृतिवादियों के नेता डॉ. केने ने कही। मुद्दे की बात यह है कि श्रम के महत्व एवं श्रमविभाजन की जो चर्चा जैन तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने लाखों वर्ष पूर्व ही और कालान्तर में जिसे जैन आचार्यों ने लिपिबद्ध किया, उसके विषय में यूरोप के अर्थशास्त्रियों ने पिछले तीन वर्षों में ही लिखा।

आज अर्थशास्त्र में स्पष्ट किया जाता है कि धन आवश्यकताओं की पूर्ति में एक अनिवार्य उपादान है। यही बात सैंकड़ों वर्ष पूर्व पउमचरियं, वसुदेवहिंडी तथा जैन आचार्यों - हरिभद्रसूरि एवं जयवल्लभसूरि जी ने कहीं तथा बतलाया कि जिसके पास धन है वही व्यक्ति पंडित है, यशस्वी है तथा परोपकार करने में समर्थ है। परन्तु इसके साथ ही दो बातें जैन आचार्यों ने स्पष्टरूप से बताईं। प्रथम, अर्थ तथा धन के उपार्जन में नीति (Ethics) एवं भाव-अहिंसा का आधार अनिवार्य है। द्वितीय, यह भी कहा गया कि धन के तीन उपयोगों-दान, भोग एवं

नाश में विवेकपूर्ण विभाजन होना चाहिए।

इसके विपरीत आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने बतलाया कि धन में संवृद्धि में एक महत्वपूर्ण घटक लाभ है। पूरे विश्व में बढ़ती हुई गरीबी, हिंसा तथा श्रम-असंतोष की पृष्ठभूमि में एक बड़ा कारण यही है कि उद्योगपति किसी भी प्रकार से लाभ में वृद्धि करना चाहते हैं।

नोबल पुरस्कार विजेता साइमन कुजनेट्स ने आर्थिक विकास के संकेतक इस रूप में बतलाए : (i) कृषि का कुल आय में अनुपात निरन्तर कम होना चाहिए, (ii) उद्योगों का आय में अनुपात निरन्तर बढ़ना चाहिए, तथा (iii) सुखी व सम्पन्न जीवन हेतु सेवा क्षेत्र का तेजी से विस्तार होना चाहिए।

परन्तु जैसा कि हम जानते हैं, कृषि की निरन्तर उपेक्षा के फलस्वरूप आज विश्व के 90 प्रतिशत देशों में जनसंख्या की अपेक्षा खाद्य वस्तुओं के उत्पादन की वृद्धि दर कम हो गई है और इससे खाद्य सुरक्षा (Food Security) कम होने लगी है। इसके साथ ही द्रुतगति से बढ़ते हुए औद्योगिक उत्पादन एवं सेवा क्षेत्र (परिवहन, विद्युत आदि) के विस्तार से भूमंडलीय पर्यावरण प्रदूषित हो गया है।

जैन आगमों में अर्थ की उत्पत्ति में कृषि को अधिक महत्व दिया। इसके साथ ही आर्थिक साम्राज्यवाद पर अंकुश हेतु अपरिग्रह पर बल दिया गया। आज के कार्पोरेट जगत में जो उद्योगपति जितने विशाल साम्राज्य का स्वामी है, वही समाज के लिए मॉडल बन जाता है परन्तु जैन आगमों में बार-बार पारस्परिक निर्भरता का संदेश 'परस्परपग्रहो जीवानाम्' प्रतिध्वनित होता है जिसके अन्तर्गत निवेश महत्वपूर्ण तो है, परन्तु सामाजिक समरसता एवं सह-अस्तित्व भी उतने ही अनिवार्य हैं।

अर्थशास्त्र की परिभाषा देते हुए जहां आधुनिक (यूरोपीय व अमरीकी) विद्वान अर्थ या धन को केन्द्र में रखते हैं, तथा अदनुसार आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उत्पादन में वृद्धि (आर्थिक संवृद्धि) पर बल देते हैं, वहीं एक भारतीय अर्थशास्त्री- प्रो० जे० के० मेहता- इस बात को जोर देकर कहते हैं कि आवश्यकताओं को सीमित करना ही अर्थशास्त्र की विषय वस्तु होना चाहिए। तार्किक दृष्टि से यह उपयुक्त भी है। जिस गति से आज विश्वभर में पानी, खनिजों,

वन सम्पदा एवं भूमि का उपयोग बढ़ रहा है, उससे एक बड़ा संकट कुछ ही दशकों में पूरे मानव समाज पर जाने वाला है। भारत के ही अनेक क्षेत्रों में भू-जल समाप्त होने का डर है। वैज्ञानिकों ने यह भी कहना प्रारम्भ कर दिया है कि अनेक खनिज पदार्थ, खनिज तेल एवं वन सम्पदा की मात्रा अगले 50 वर्षों में समाप्त प्राय हो जाएगी। अर्थशास्त्री भी आज यह कहने लगे हैं कि आज की विकास दर को कम कर के साधनों को भावी पीढ़ी के लिए संरक्षित किया जाना चाहिए। जैन आचार्य सैंकड़ों वर्षों से यही कहते आए हैं कि आवश्यकताओं को सीमित करो, परिग्रह को सीमित करो तथा भविष्य व वर्तमान के बीच संतुलन को बनाए रखो। कहने का तात्पर्य यह है कि जैन आगमों में जो कुछ सैंकड़ों वर्ष पूर्व कहा गया था, उसकी सत्यता एवं उपादेयता आज प्रमाणित होने लगी है, क्योंकि आर्थिक संवृद्धि दर को बढ़ाने (परिग्रह) के लालच में साधनों का अंधा-धुंध उपयोग किया जा रहा है।

यदि केन्द्र, राज्य या स्थानीय सरकार टिकाऊ विकास (Sustainable Development) की नीति पर चलना प्रारम्भ कर दें तो साधनों (जल, खनिज, वायु, भूमि, वन-सम्पदा आदि) के उपयोग में विवेक रखना होगा। इसी के साथ आगमों (आचारांग, ज्ञाताधर्म कथांग) आदि में वर्णित यह बात भी आज के संदर्भ में महत्वपूर्ण हो जाती है कि शिल्प आर्य, यानी कुटीर उद्योगों का विकास करके हम न केवल ग्राम स्वावलम्बन की ओर बढ़ सकते हैं अपितु आर्थिक विषमताओं को भी कम कर सकते हैं। इसके फलस्वरूप अंततः सामाजिक असंतोष, आर्थिक अपराधों एवं अशान्ति जैसी समस्याएं भी कम होंगी। संक्षेप में जैन आगमों में वर्णित श्रावक के व्रतों-विशेषतः अपरिग्रह तथा उद्योगी हिंसा को जितना प्रचार व प्रसार होगा समाज में व्याप्त अनेक गंभीर समस्याएं उतनी ही कम होंगी। इसी प्रकार, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत को धारण करने से अनावश्यक उपभोग प्रवृत्ति से बचाया जा सकता है।

जैन आगमों में धर्म के चार अंग (दान, शील, तप तथा भाव) बतलाए गए हैं। इनमें दान का अपना अलग अर्थशास्त्र है। प्रायः सभी धर्मों (इस्लाम, ईसाई, बौद्ध) में यह बतलाया गया है कि राज्य के संसाधन सीमित होने के कारण अकिंचन तथा निर्धन व्यक्तियों के लिए समर्थ एवं धनी व्यक्तियों को अपनी आय का एक अंश व्यय करना चाहिए। अन्य शब्दों में, दान एक प्रकार का स्वैच्छिक

धर्म है जो सरकारी प्रयासों को पूरकता प्रदान करता है। करारोपण पर सरकार की अधिक निर्भरता करदाता को करवंचना हेतु प्रेरित करती है।

जैन आगमों में स्यादवाद अथवा अनेकान्त का काफी अधिक वर्णन मिलता है। आज की विषम व्यावसायिक परिस्थितियों में प्रबन्धक के लिए निर्णय लेना अत्यधिक कठिन होता है। यदि वह पूर्वाग्रह से ग्रसित हो तो प्रत्येक कदम पर इसके समक्ष समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। इसके विपरीत यदि वह अनेकान्त के अनुरूप वित्त, विणन, कार्मिक, उत्पादन आदि विषयक निर्णय लेने का प्रयास करता है तो उसे एक सौहार्दपूर्ण लेने का प्रयास करता संक्षेप में, जैन आगमों में प्रयुक्त सिद्धान्त की प्रबन्धन के क्षेत्र में पर्याप्त उपादेयता हो सकती है। समीष्टगत स्तर पर नीतियां बनाते समय भी अनेकान्त एक प्रभावी उपादान बन सकता है।

जैन आगमों में स्पष्ट किया गया है अहिंसा से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है। विश्व बैंक की हाल ही में प्रकाशित रिपोर्टों में बतलाया गया है कि जहां समूह देश घातक हथियारों का उत्पादन करते हैं, भारत, पाकिस्तार, बांग्लादेश चीन और अफ्रीका के अनेक देश अपनी-अपनी आय का बड़ा भाग इन हथियारों की खरीद पर व्यय कर रहे हैं। जहां प्रभू महावीर द्वारा प्रदत्त निम्न तीन सूत्रों का इससे उल्लंघन हो रहा है, वहीं इनसे विभिन्न देशों के बीच युद्ध का खतरा बना रहता है। ये सूत्र हैं:-

1. अहिंसप्ययाणे : हिंसक शस्त्रों का उत्पादन नहीं करना।
2. असंजुत्ताकरणे : हथियारों का संयोजन नहीं करना।
3. अपावकम्मोवदेसे : हिंसा की शिक्षा नहीं देना।

कुल मिलाकर जहां अनेक विकासशील देश पड़ोसी देशों से अपनी रक्षा के नाम पर हथियार खरीद रहे हैं, वहीं उनके आर्थिक विकास की गति पर इससे प्रतिकूल प्रभाव हो रहा है। यही राशि शिक्षा, स्वास्थ्य तथा रोजगार पर खर्च की जाए तो इन देशों की गरीबी को दूर किया जा सकेगा। यह भय तथा हिंसा का माहौल दूर करना जरूरी है।

प्रस्तुत शोधग्रन्थ कुल मिलाकर जैन आगमों में वर्णित आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था का अच्छा संकलन है। मेरी मान्यता है कि जिन व्यक्तियों के मानस पटल पर जैन आगमों का केवल आध्यात्मिक पक्ष अंकित है उन्हें इस ग्रंथ का

औधोपान्त पठन करना चाहिए। जैन आगम आत्म संयम, साधना एवं कर्मनिर्जरा पर बल देते हैं। यह सत्य है लेकिन डा. दिलीप धींग ने अपनी शोध के माध्यम से यह सिद्ध कर दिया है कि व्यावहारिक (संस्कार) क्रियाओं के सम्पादन में भी जैन आगमों में वर्णित नियम व उपनियम हमारे निजी एवं सामाजिक आर्थिक कल्याण में अभिवृद्धि करने में सहायक हो सकते हैं।

जयपुर

सी.एस.बरला

अध्याय प्रथम : आगम साहित्य का मूल्यांकन

परिच्छेद एक

आगम : अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य

परिच्छेद दो

मूल-सूत्र, छेद-सूत्र, प्रकीर्णक व व्याख्या-साहित्य

परिच्छेद तीन

शौरसेनी आगम साहित्य

परिच्छेद एक

आगम : अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य

परिचय और परिभाषा

जैन आगम साहित्य विश्व-साहित्य की अनमोल निधि है। विभिन्न काल-खण्डों में प्राचीन विश्व और प्राचीन भारत का दिग्दर्शन आगम साहित्य के माध्यम से सम्भव है। प्राकृत संसार की प्राचीनतम भाषा और सब भाषाओं की दादी माँ मानी जाती है। इसी भाषा में जैन आगम साहित्य निबद्ध है। आगमों में वर्णित घटनाएँ और उल्लेखित तथ्य ऐतिहासिक भी हैं और प्रागैतिहासिक भी। आगमों में वर्णित विषयों और तथ्यों को देखते हुए वर्तमान इतिहास की अवधि अत्यन्त छोटी है। आगमों में इतिहास के पार भी अनेक महत्वपूर्ण स्थापनाएँ हैं। जो चाहे ऐतिहासिक हों या न हों, सत्य और तथ्य से सीधी जुड़ी हुई हैं। वस्तुतः सिद्धान्त और जीवन-जगत के मूलभूत/सार्वकालिक नियमों का ऐतिहासिकता से कोई सह-सम्बन्ध नहीं होता है।

भारतीय साहित्य के इतिहास में जैनों द्वारा लिखे विविध साहित्य की उपेक्षा होती आई है। उदाहरण के तौर पर संस्कृत साहित्य के इतिहास में जब पुराणों या महाकाव्यों पर लिखना हो, तब इतिहासकार प्रायः हिन्दू पुराणों और हिन्दू महाकाव्यों से ही सन्तोष कर लेते हैं। इतिहासकारों को इतनी फुर्सत कहाँ कि वह एक-एक ग्रन्थ पढ़े और उसका मूल्यांकन करे। यह तथ्य है कि जैन इतिहास को इतिहासकारों ने बहुत उपेक्षित किया, मनमाने ढंग से प्रस्तुत किया और अनेकानेक महत्वपूर्ण साक्ष्यों को मिय तक दिया। यदि जैन राजाओं, गणतन्त्र प्रमुखों, सेनापतियों, सार्थवाहों, गृहस्थों आदि का विवरण इतिहासकारों ने गायब न किया होता तो सिद्ध हो जाता कि लिच्छवी, वज्जी आदि गणतन्त्र भगवान महावीर के अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार चलते थे तथा इस सम्बन्ध में और अनेक अद्भुत बातें हमारे समक्ष होतीं ?

इनके अलावा भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् हजार वर्ष की अवधि में दीर्घकालीन तीन दुर्भिक्ष आये और गये। दुर्भिक्ष के विकट समय में निर्ग्रन्थ श्रमण आगम-साहित्य की वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा नहीं कर सकें ? वीर निर्वाण के 160 वर्ष पश्चात् (ईस्वी सन् के पूर्व लगभग 367 में)

आचार्य भद्रबाहु ने पाटलीपुत्र में पहली आगम वाचना करवाई। बारह में-से ग्यारह अंगों का संकलन इस वाचना में किया गया।⁹ ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के मध्य सम्राट खारवेल ने उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर प्रवचनोद्धार के लिए जैन श्रमणों का एक संघ बुलाया और मौर्य काल में विस्मृत हुए अंगों का पुनः उद्धार करवाया। कुछ विद्वानों के अनुसार वीर निर्वाण के 827 वर्ष पश्चात् मथुरा में आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व तथा वल्लभी में आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में जो वाचनाएँ हुईं उनमें आगम लिपिबद्ध हो गये थे।¹⁰ तत्पश्चात् वीर निर्वाण के 980 वर्ष बाद आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने आगमों को व्यवस्थित रूप से लिपिबद्ध करवाया। आगमों के लिपिबद्ध होने के पश्चात् 1400 वर्ष की अवधि में पड़े दुष्कालों से भी अनेक आगमों का नुकसान हुआ। आचारांग का सातवाँ महापरिज्ञा अध्ययन तथा दसवाँ अंग प्रश्नव्याकरण पूर्ण रूप से टीकाकारों के युग में भी उपलब्ध नहीं थे। नन्दी-सूत्र में जिन कालिक और उत्कालिक सूत्रों की एक लम्बी सूची दी गई है, उनमें से अनेक आगम वर्तमान में अनुपलब्ध हैं।¹¹

यूँ तो जो श्रुत-सम्पदा बची या बचाई जा सकी है, वह थोड़ी है। परन्तु जितना भी उपलब्ध आगम और आगमों पर आधारित प्रकीर्णक साहित्य है, उसमें भी विविध विषयों पर विपुल शोध की संभावनाएँ हैं। आगम साहित्य दीर्घ साधनाओं के पश्चात् निर्मल हुई चेतना की अतल गहराइयों की निष्पत्ति है। वह सबके लिए सदैव कल्याणकारी है।

अंग-प्रविष्ट आगम

मुख्य तौर पर आगमों को दो भागों में बाँटा गया - अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य। अंग प्रविष्ट आगम तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट और गणधरों द्वारा रचित होते हैं जबकि अंग बाह्य आगमों की रचना स्थविर करते हैं।¹² आवश्यक मलयगिरी वृत्ति पत्र 48 के अनुसार गणधर तीर्थकर के समक्ष जिज्ञासा व्यक्त करते हैं कि भगवन्! तत्त्व क्या है? (भगवं किं तत्त्वं?) उत्तर में तीर्थकर गणधरों को "उप्पनेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा" (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप) यह त्रिपदी प्रदान करते हैं। त्रिपदी के फलस्वरूप रचित आगम अंग-प्रविष्ट और शेष सभी अंग-बाह्य होते हैं।¹³

जैन शास्त्रों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ अंग हैं। इन्हें वेद भी कहा गया है।¹⁴ अंग-प्रविष्ट आगमों की संख्या बारह हैं, इसलिए द्वादशांग कहा जाता है। द्वादशांग का दूसरा नाम गणपिटक है।¹⁵ ये श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में समान रूप से स्वीकृत हैं।

द्वादशांगी

बारह अंग आगमों को द्वादशांगी कहा जाता है। उनका क्रमिक संक्षिप्त मरिचय यहाँ दिया जा रहा है।

1. **आचारांग** : आचार को अंगों का सार कहा गया है।¹¹ द्वादशांगी में इसका प्रथम स्थान है।¹² दो श्रुतस्कन्धों में विभाजित इस आगम में आचार और दर्शन का निरूपण हुआ है। इसमें भगवान महावीर के जीवन प्रसंगों का मौलिक और मार्मिक उल्लेख है। प्रथम श्रुतस्कन्ध भाषा, छन्द-योजना आदि-की दृष्टि से सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। आचारांग में 25 अध्ययन, 85 उद्देशक, 5 चूलिकाएं एवं 18000 पद हैं। 2500 श्लोक परिणाम उपलब्ध पाठ है, जिनमें 401 गद्य सूत्र एवं 154 पद्य सूत्र हैं।¹³ महापरिज्ञा नामक एक अध्ययन लुप्त होने से इसके 24 अध्ययन 78 उद्देशक ही शेष बचे हैं।

2. **सूत्रकृतांग** : द्वादशांगी का यह द्वितीय अंग है। तत्व-चर्चा के साथ-साथ दार्शनिक और ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी विषय-वस्तु का विशेष महत्व है। इसमें 363 मतों की चर्चा है। जिनमें 180 क्रियावादी, 84 अक्रियावादी, 67 अज्ञानवादी और 32 विनयवादी हैं। यह सूत्र भी दो श्रुतस्कन्धों में विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में 16 तथा द्वितीय में 7 अध्ययन हैं, जिनमें कुल 36 हजार पद हैं। इसकी 2100 श्लोक परिणाम उपलब्ध सामग्री में 85 गद्य-सूत्र और 719 पद्य-सूत्र हैं।¹⁴

3. **स्थानांग** : जैनागमों में बताए गए तीन प्रकार के स्थविरों में-से श्रुत-स्थविर को ठाणांग और समवायांग का ज्ञाता बताया गया है। इससे इस आगम के महत्व का पता चलता है। कोश शैली में ग्रथित इस आगम में एक श्रुत-स्कन्ध, 10 स्थान, 21 उद्देशक और 72 हजार पद बताए जाते हैं। उपलब्ध पाठ 3770 श्लोक परिमाण है। 783 गद्य और 169 पद्य-सूत्र हैं।¹⁵ इस आगम में नयों की दृष्टि से पदार्थ मीमांसा की गई है।

4. **समवायांग** : इस सूत्र में एक से लगाकर कोड़ाकोड़ी संख्या तक की वस्तुओं का संग्रह है।¹⁶ अतः इसका नाम समवाय है। नन्दी-सूत्र में वर्णित और उपलब्ध समवायांग में बहुत परिवर्तन है। विषय-वस्तु की दृष्टि से समवायांग में वस्तु-विज्ञान, जैन-सिद्धान्त और जैन-इतिहास की महत्वपूर्ण जानकारी है। कुछ विद्वानों के मतानुसार ठाणांग और समवायांग की रचना नौ आगमों के बाद (दसवें

और ग्यारहवें क्रम पर) हुई थी, परन्तु स्मृति, धारणा और विषय अन्वेषण की दृष्टि से इन्हें अंगों में (तीसरे व चौथे क्रम पर) स्थान दिया गया।¹⁷

5. **व्याख्या-प्रज्ञप्ति** : भगवती-सूत्र के नाम से विख्यात इस विशालकाय आगम में 36 हजार प्रश्न और उनके उत्तर हैं। प्रश्नकर्ता गणधर इन्द्रभूति गौतम हैं और उत्तर-प्रदाता तीर्थकर महावीर हैं। आरम्भ में मंगलाचरण के रूप में पहली बार पंच परमेष्ठी को नमन रूप नमस्कार-सूत्र का उल्लेख है। साथ ही “णमो बम्भीए लिवीए” तथा “णमो सुयस्स” पदों से ब्राह्मी लिपि और श्रुत को भी नमस्कार किया गया है। 15वें, 17वें, 23वें और 26वें शतक की शुरुआत में “णमो सुयदेवयाए भगवईए” पद के द्वारा मंगलाचरण को गिनते हुए इस आगम में कुल छः स्थानों पर मंगलाचरण है। जबकि अन्य आगमों में ऐसा नहीं है। विज्ञान, वाणिज्य, इतिहास, भूगोल, राजनीति, धर्म, सम्प्रदाय, रीति-रिवाज आदि विश्व के अनेकानेक विषयों का इसमें स्पष्ट या गर्भित रूप से वर्णन है। ज्ञान-विज्ञान का इस महत्वपूर्ण कोष में धार्मिक उदारता के अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। वहाँ किसी विचारधारा और धार्मिक जीवन पद्धति को हीन दृष्टि से नहीं देखा जाता था।¹⁸ इसमें एक श्रुतस्कन्ध, 138 शतक, 1627 उद्देशक, 288000 पद, 5293 गद्य-सूत्र और 72 पद्य-सूत्र हैं।¹⁹

6. **ज्ञाताधर्मकथांग** : इस कथा प्रधान आगम में दो श्रुत-स्कन्ध हैं। प्रथम ज्ञान श्रुतस्कन्ध में 19 और दूसरे धर्मकथा श्रुतस्कन्ध में 10 वर्ग हैं।²⁰ इसका उपलब्ध पाठ 5500 श्लोक प्रमाण हैं, जिसमें 159 गद्य-सूत्र और 62 पद्य-सूत्र हैं। इसके पाँचवे अध्ययन में थावच्चा सार्थवाही से पता चलता है कि महिलाएँ भी वाणिज्य में कुशल होती थी। सातवें अध्ययन के रोहिणी कथानक से भी यह बात स्पष्ट होती है। बारहवें अध्ययन उदकज्ञात में गन्दे पानी को साफ करने की पद्धति बताई गई है। यह पद्धति वर्तमान कालीन फिल्टर पद्धति से मिलती-जुलती है।²¹ भगवान पार्श्वकालीन समाज-व्यवस्था का चित्रण भी मिलता है। सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि दृष्टियों से भी यह अंग महत्वपूर्ण है।

7. **उपासकदशा** : द्वादशांगी के इस सातवें अंग में भगवान महावीर युग के दस प्रसिद्ध श्रावकों का वर्णन है। इन दस उपासकों के माध्यम से तत्कालीन धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति का जीवन्त चित्रण हमें प्राप्त होता है। धर्मकथानुयोग प्रधान इस अंग में एक श्रुतस्कन्ध, दस अध्ययन और दस उद्देशक हैं। 11 लाख 52 हजार पदों वाले इस आगम में उपलब्ध पाठ 812 श्लोक

परिणाम हैं। जिसमें 272 गद्य-सूत्र हैं¹²² व्रत, नियम और संयम पूर्वक जीवन जीने के लिए यह ग्रन्थ आदर्श आचार-संहिता प्रस्तुत करता है। इसमें आर्थिक नीतिशास्त्र का सुन्दर निरूपण है।

8. **अन्तकृतदशा** : यह अंग तप और आत्म-साधना के वर्णन से ओत-प्रोत है। इसमें 1 श्रुतस्कन्ध, 8 वर्ग, 90 अध्ययन, 8 उद्देशन काल, 8 समुद्देशन काल और परिमित वाचनाएँ हैं¹²³ वर्तमान में यह 900 श्लोक परिमाण है। 22वें तीर्थकर भगवान अरिष्टनेमी और 24वें तीर्थकर भगवान महावीर के समय के 90 तपस्वी साधकों का इसमें वर्णन है। वासुदेव श्रीकृष्ण के जीवन-प्रसंगों के उल्लेख इस आगम में प्राप्त होते हैं। वर्तमान में यह आगम जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा में पर्युषण-काल में पढ़ा-सुना जाता है।

9. **अनुत्तरोपपातिक दशा** : इसमें ऐसे साधकों का वर्णन है, जिन्होंने कालधर्म प्राप्ति के बाद अनुत्तर विमानों में जन्म लिया तथा पुनः मनुष्य जन्म लेकर आत्म-कल्याण करेंगे। वर्तमान में उपलब्ध यह आगम स्थानांग और समवायांग की वाचना से अलग है¹²⁴ यह आगम तीन वर्गों में विभक्त है। प्रथम, द्वितीय और तृतीय वर्ग में क्रमशः 10, 13 और 10 अध्ययन हैं। कुल 33 अध्ययनों में 33 महान साधकों का वर्णन है। 33 में-से 23 राजकुमार राजा श्रेणिक के पुत्र हैं। इसमें भगवान महावीर कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी उल्लेख हुआ है।

10. **प्रश्नव्याकरण** : नन्दीचूर्णि¹²⁵ एवं समवायांगवृत्ति¹²⁶ के अनुसार इस सूत्र में 9216000 पद थे। धवला में यह संख्या 9316000 बताई गई है¹²⁷ परन्तु वर्तमान में उपलब्ध श्लोक संख्या लगभग 1256 है। इसके अलावा वर्तमान में उपलब्ध अध्ययन स्थानांग में बताए गए अध्ययनों से बिल्कुल अलग हैं। यह दो श्रुत-स्कन्धों और दस अध्ययनों में वर्गीकृत है।

11. **विपाक सूत्र** : इस ग्यारहवें अंग में कथाओं और उदाहरणों द्वारा अच्छे कर्मों का अच्छा फल और बुरे कर्मों का बुरा फल बताया गया है। प्रथम श्रुतस्कन्ध दुःखविपाक और द्वितीय श्रुतस्कन्ध सुखविपाक है। कुल 20 अध्ययन और 20 उद्देशक हैं। 1216 अनुष्टुप श्लोक प्रमाण इसका उपलब्ध पाठ है¹²⁸ इसके पाठ ऐतिहासिक, प्रागैतिहासिक और पौराणिक हैं। यह ग्रन्थ हिंसा, चोरी, मांसाहार, मदिशपान, कुव्यसन और अनाचार के दुष्परिणाम तथा संयम, दान आदि के सुपरिणाम बतलाता है।

12. **दृष्टिवाद** : भगवान महावीर के निर्वाण के 170 वर्ष पश्चात् श्रुतकेवली भद्रबाहु हुए। उनके देवलोकगमन के बाद दृष्टिवाद का शनैः शनैः लोप होने लगा और भगवान महावीर के हजारवें निर्वाण वर्ष तक वह पूर्णतः (शब्द रूप से पूर्णतः और अर्थ रूप से अधिकांशतः) लुप्त हो गया।^{१९} दृष्टिवाद में विपुल ज्ञानराशि थी। चौदह पूर्वों में वर्गीकृत इस आगम के एक एक पूर्व में लाखों करोड़ों श्लोक-परिमाण की सामग्री बताई जाती है। आचार्य शीलान्क ने सूत्रकृतांग-वृत्ति में पूर्व को अनन्त अर्थ वाला बताया। दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार सम्पूर्ण द्वादशांगी का विच्छेद हो गया; केवल दृष्टिवाद का कुछ शेष रहा, जो षट्खण्डागम के रूप में आज भी विद्यमान है।^{२०}

अंगबाह्य आगम

अंगबाह्य श्रुत स्थविरकृत और बिना प्रश्न किये तीर्थकरों द्वारा प्रतिपादित माना जाते हैं। अंगबाह्य आगमों के विभिन्न मान्यताओं और सन्दर्भों के अनुसार विभिन्न भेद मिलते हैं। यहाँ उपांग, मूल और छेद के वर्गीकरण के अनुसार परिचय दिया जा रहा है।

बारह उपांग

1. **औपपातिक** : अंगों में जो स्थान आचारांग का है वही स्थान उपांगों में औपपातिक का है। यह आगम कथानुयोग प्रधान है। इसमें 1 अध्ययन, 1 उद्देशक, 43 गद्य-सूत्र, 32 पद्य-सूत्र तथा कुल 1167 श्लोक प्रमाण उपलब्ध पाठ है।^{२१} भाषा, स्थापत्य, संस्कृति और समाज की दृष्टि से भी इस आगम का महत्व है।^{२२}
2. **राजप्रश्नीय** : इसमें 1 अध्ययन, 1 उद्देशक, 65 गद्य-सूत्र, तथा कुल 2100 श्लोक प्रमाण उपलब्ध पाठ है।^{२३} भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमण केशीकुमार और राजा प्रदेशी का महत्वपूर्ण संवाद, स्थापत्य, संगीत, कला, नाटक, दण्ड-नीति आदि अनेक विषय इस आगम में समाविष्ट हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार इस ग्रन्थ का नायक कौशल का इतिहास प्रसिद्ध राजा प्रसेनजित् रहा, जिसे बाद में चलकर प्रदेशी कर दिया गया।^{२४}
3. **जीवाभिगम** : द्रव्यानुयोग प्रधान इस उपांग में 1 अध्ययन, 18 उद्देशक, 272 गद्य-सूत्र, 81 पद्य गाथाएँ तथा कुल 4750 श्लोक प्रमाण उपलब्ध पाठ है।^{२५} जीवाजीव के वर्णन के अतिरिक्त इसमें द्वीप, सागर, रत्न,

शस्त्रास्त्र, धातु, आभूषण, भवन, वस्त्र, ग्राम, नगर, राजा, त्यौहार, उत्सव, नट, यान, उद्यान, प्रसाधन आदि का वर्णन भी मिलता है।¹⁶

4. **प्रज्ञापना** : इसके रचयिता श्यामाचार्य माने जाते हैं। जो सुधर्मा स्वामी की 23वीं पीढ़ी में हुए और भगवान महावीर निर्वाण के 376 वर्ष बाद मौजूद थे।¹⁷ इसमें प्रश्नोत्तर शैली में तत्व-निरूपण के साथ-साथ धर्म, दर्शन, इतिहास और भूगोल के तथ्य भी उल्लेखित हैं। कर्मार्य और शिल्पार्य की चर्चा इस आगम में है। इसमें 1 अध्ययन, 36 पद, 44 उद्देशक, 614 गद्य-सूत्र, 195 पद्य-सूत्र तथा कुल 7787 अनुष्टुप श्लोक प्रमाण उपलब्ध पाठ है।¹⁸

5. **जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति** : यह आगम गणितानुयोग प्रधान है। इसमें प्राचीन भूगोल का वर्णन है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव तथा उनके ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत, जिनके नाम से हमारे देश का नाम भारत हुआ, का वर्णन भी इस आगम में मिलता है। इसमें 1 अध्ययन, 7 वक्षस्कार, 178 गद्य-सूत्र, 52 पद्य-सूत्र तथा कुल 4146 अनुष्टुप श्लोक प्रमाण उपलब्ध पाठ है।¹⁹

6.-7. **चन्द्रप्रज्ञप्ति व सूर्यप्रज्ञप्ति** : दोनों उपांग गणितानुयोगमय है। प्रत्येक में 1 अध्ययन, 20 प्राभृत, 31 प्राभृत-प्रभृत तथा 2200 श्लोक परिमाण उपलब्ध पाठ है, जिसमें 108 गद्य-सूत्र और 103 पद्य-गाथाएँ हैं। दोनों के अध्ययन, प्राभृत, पाठ, सूत्र और गाथा परिमाण बराबर है।²⁰ आचार्य भद्रबाहु द्वारा सूर्यप्रज्ञप्ति पर लिखी निर्युक्ति वर्तमान में अनुपलब्ध है।²¹ प्राचीन गणित और ज्योतिर्विज्ञान की दृष्टि से ये ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं। विद्वानों की दृष्टि में इन ग्रन्थों का वैज्ञानिक और ऐतिहासिक महत्व भी है।

8.-12. **निरयावल्लिया, कप्पिया, कप्पवडंसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया और वण्हदसा**: इन पाँचों उपांगों में 1 श्रुतस्कन्ध, 52 अध्ययन और पाँच वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग एक-एक उपांग का प्रतिनिधित्व करता है। उपलब्ध मूल पाठ 1100 श्लोक प्रमाण है।²² ये आगम कथानुयोग प्रधान है। बाईसवें, तेबीसवें और चौबीसवें तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमी, पार्श्वनाथ और महावीर के समय की विभिन्न घटनाओं का रोचक वर्णन है। जिससे

तत्कालीन लोक-जीवन, राज और समाज व्यवस्था का पता चलता है।¹³
प्रो. विण्टरनिट्ज के अनुसार ये पाँचों उपांग निरयावलिका सूत्र के नाम से ही कहे जाते थे, लेकिन आगे चलकर उपांगों की संख्या का अंगों की संख्या के साथ साम्य करने के लिए इन्हें अलग-अलग गिना जाने लगा।¹⁴

सन्दर्भ

1. मालवगिणिया, दलसुख (पं.) जैन साहित्य का बहद् इतिहास, भाग-1, प्रस्तावना पृ.-13
2. महाप्रज्ञ, आचार्य : महावीर का अर्थशास्त्र - पृ.-25
3. कन्हैया लाल 'कमल', उपाध्याय मुनि : जैनागम निर्देशिका पृ.-9
4. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) प्राकृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से 1961 में प्रकाशित पृष्ठ-36
5. जैन, हीरालाल (डॉ.), भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ.-55
6. कन्हैया लाल 'कमल', उपाध्याय मुनि : जैनागम निर्देशिका प. 9-10 एवं मुनि पुण्यविजय सम्पादित नन्दीचूर्णि पृ. 8-9
7. जैन, सागरमल (प्रो.) का लेख 'आगम साहित्य में प्रकीर्णकों का स्थान, महत्व, रचनाकाल एवं रचयिता' प्रकीर्णक साहित्य : मनन और मीमांसा, प्रकाशक-आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान पृ.-1
8. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' प. 33-34 एवं 'आगम साहित्य मनन और मीमांसा' पृ.-7
9. आचारांग चूर्णि 5/185 (ब्राह्मणों के प्राचीन ग्रन्थ भी वेद कहे जाते हैं)
10. समवायांग प्रकीर्णक समवाय सूत्र 88, नन्दीसूत्र 40 (बौद्धों के प्राचीन शास्त्र को भी त्रिपिटक कहा जाता है)
11. आचारांग निर्युक्ति, गाथा-16
12. १. से णं अंगट्टयाए पढमे-समवायांग प्रकीर्णक समवाय सूत्र-89
२. स्थापनामधिकृत्य प्रथमंगम्-नन्दी मलयगिरीवत्ति पत्र 211 व 240
13. मुनि कन्हैयालाल 'कमल', उपाध्याय, जैनागम निर्देशिका - पृ. 1
14. मुनि कन्हैयालाल 'कमल', उपाध्याय, जैनागम निर्देशिका - पृ. 63
15. मुनि कन्हैयालाल 'कमल', उपाध्याय, जैनागम निर्देशिका - पृ. 97
16. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ.-62

17. दोशी, बेचरदास, जैन साहित्य का बहद् इतिहास भाग-1, पृ.-172
18. जैन, प्रेम सुमन (प्रो.) जैन साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, अध्याय पंचम पृ.-36
19. मुनि कन्हैयालाल 'कमल', उपाध्याय, जैनागम निर्देशिका - पृ. 261
20. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ.-75
21. दोशी, बेचरदास (पं.) जैन साहित्य का बहद् इतिहास, भाग-1, पृ.-220-221
22. मुनि कन्हैयालाल 'कमल', उपाध्याय, 'जैनागम निर्देशिका' पृ. 467
23. स्थानांग वक्ति पत्र 483
24. देवेन्द्र मुनि (आचार्य), आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृ. 163
25. पदगं दोगउतिलक्खा सोलस य सहस्सा। - नन्दी चूर्णि।
26. द्विनवतिर्लक्षणाणि षोडश च सहस्राणि। - समवायांगवृत्ति।
27. पण्हावायरणं णाम अंगं तेणउउदिलक्ख-सोलस सहस्सपदेहिं। - धवला, भाग-1, पृष्ठ-104
28. देवेन्द्र मुनि (आचार्य), आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृ. 186
29. हस्तीमलजी, आचार्य, जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग-2 में से 'जिनवाणी' अप्रैल 2002 में प्रकाशित लेख पृ.-241
30. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ.-98
31. मुनि कन्हैयालाल 'कमल', उपाध्याय, जैनागम निर्देशिका - पृ. 527
32. शास्त्री, नेमिचन्द्र (डॉ.), प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ-180
33. मुनि कन्हैयालाल 'कमल', उपाध्याय, जैनागम निर्देशिका, पृ.-545
34. शास्त्री, नेमिचन्द्र (डॉ.), प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ-180
35. मुनि कन्हैयालाल 'कमल', उपाध्याय, जैनागम निर्देशिका, पृ.-565

36. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ.-112
37. वही, पृष्ठ-112
38. मुनि कन्हैयालाल 'कमल', उपाध्याय, जैनागम निर्देशिका, पृ.-623
39. मुनि कन्हैयालाल 'कमल', उपाध्याय, जैनागम निर्देशिका, पृ.-671
40. मुनि कन्हैयालाल 'कमल', उपाध्याय, जैनागम निर्देशिका, पृष्ठ-729
41. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा-2 (लेखक - डॉ जैन और डॉ मेहता), पृ.-105
42. मुनि कन्हैयालाल 'कमल', उपाध्याय, जैनागम निर्देशिका, पृ.-745
43. शास्त्री, नेमिचन्द्र (डॉ.), प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ-185-186
44. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-2 पृ.-129

परिच्छेद दो

मूल-सूत्र, छेद-सूत्र, प्रकीर्णक और व्याख्या-साहित्य

मूल सूत्र

आगमों के वर्गीकरण के क्रम में अलग-अलग विद्वानों ने मूल सूत्रों के अन्तर्गत अलग-अलग आगमों को रखा है। विक्रम सम्वत् 1334 में लिखित प्रभावक चरित के श्लोक क्रमांक 241 में सर्वप्रथम अंग, उपांग, मूल और छेद का वर्णन मिलता है। उसके बाद उपाध्याय समय सुन्दर ने समाचारी शतक (पत्र 76) में इस विभाग का उल्लेख किया है। इस प्रकार 13वीं सदी के उत्तरार्द्ध में मूल सूत्र विभाग बन गया था। जिन आगमों में मुख्य रूप से श्रमणाचार सम्बन्धी मूल गुणों (5 महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि) का निरूपण तथा जो श्रमण चर्या में मूल रूप से सहायक हों उन्हें मूल सूत्र कहा जाता है।¹ डॉ. शुब्रिंग ने उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक, पिण्डनिर्युक्ति व ओष-निर्युक्ति को मूल सूत्र माना है।² वर्तमान में निम्न आगम ग्रन्थों को मूल सूत्र में परिगणित किया जाता है।³

1. उत्तराध्ययन : यह सूत्र भगवान महावीर की अन्तिम देशना का संकलन माना जाता है। इसे जैन धर्म की गीता भी कहा जाता है। चारों अनुयोगों का इसमें समावेश हो जाता है। इसमें छत्तीस अध्ययन, 1656 पद्य-सूत्र, 89 गद्य-सूत्र और कुल 2100 श्लोक प्रमाण उपलब्ध मूल पाठ हैं। भाषा और विषय की दृष्टि से यह ग्रन्थ प्राचीन है। इस आगम के अनेक सुभाषित और संवाद बौद्ध-ग्रन्थों में भी मिलते हैं। डॉ. विण्टरनिट्स ने इसे श्रमण-काव्य कहते हुए इसकी तुलना धम्मपद, महाभारत और सुत्तनिपात से की है।⁴ शिक्षाशास्त्र, आचारशास्त्र, नीतिशास्त्र, मानवीय एकता, सामाजिक समता, कर्मकाण्डों की व्यर्थता आदि अनेक उपयोगी विषयों को विभिन्न दृष्टियों और दृष्टान्तों द्वारा इसमें समझाया गया है।
2. दशवैकालिक : मूल आगमों में दशवैकालिक का विशिष्ट महत्त्व है। आचार्य शय्यम्भव रचित यह आगम निर्यूद्ध माना जाता है, स्वतन्त्र नहीं। इसका समावेश चरणकरणानुयोग में किया जाता है। इसमें 10 अध्ययन, 2 चूलिकाएँ, 14 उद्देशक तथा 700 श्लोक प्रमाण उपलब्ध मूल पाठ है; जिसमें 514 पद्य-सूत्र और 31 गद्य-सूत्र हैं।⁵

3. **नन्दी** : यह ग्रन्थ आगम साहित्य के अध्ययन में परिशिष्ट जैसा है। इसलिए इसे चूलिका-सूत्र भी कहा जाता है। इसमें 1 अध्ययन व 700 श्लोक परिमाण मूल पाठ है; जिसमें 57 गद्य-सूत्र और 97 पद्य-गाथाएँ हैं। द्रव्यानुयोगमय इस ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य देववाचक माने जाते हैं। डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, मुनि पुण्यविजय, पं. दलमुख मालवणिया आदि के मतानुसार देववाचक देवर्द्धिक्षमाश्रमण से भिन्न हैं।^९
4. **अनुयोगद्वार** : अनुयोग का अर्थ है - व्याख्या या विवरण और द्वार का अर्थ है - प्रश्न। इस प्रकार प्रश्न या प्रश्नों के मनन द्वारा वस्तु के तह तक पहुँचने को अनुयोगद्वार कहते हैं।^१ दार्शनिक सिद्धान्तों के अलावा इस ग्रन्थ में सामाजिक-सांस्कृतिक सामग्री भी पर्याप्त मिलती है। द्रव्यानुयोग प्रधान इस आगम में 4 द्वार और 1899 श्लोक प्रमाण मूल पाठ है; जिसमें 152 गद्य-सूत्र और 143 पद्य-सूत्र हैं। इसका रचना काल वीर निर्वाण संवत् 827 से पूर्व माना जाता है तथा आचार्य आर्यरक्षित इसके रचनाकार माने जाते हैं।^९

छेद-सूत्र

श्रमण परम्परा का मुख्य आधार है इसका आचार-शास्त्र। आचार-संहिता के विवेचन को चार भागों में बाँटा गया है- उत्सर्ग, अपवाद, दोष और प्रायश्चित। इस प्रकार के विवेचन का समग्र विवरण छेद-सूत्रों में मिलता है। छेद शब्द पर आचार्य कुन्दकुन्द का कहना है कि सोना, बैठना, चलना, आदि क्रियाओं में साधक की जो अनायास प्रवृत्ति होती है, उसमें यदि असजगता रखी जाती है तो वह हिंसा रूप होती है और शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्म के छेद (विनाश) का कारण होने से उसे छेद (अशुद्ध उपयोग रूप) कहा जाता है।^९ प्रो. एच. आर. कापड़िया के अनुसार छेद का अर्थ छेदन है और छेद सूत्रों का अभिप्राय उन शास्त्रों से है, जिनमें श्रमणों द्वारा नियमों का अतिक्रमण कर देने पर उनकी वरिष्ठता (दीक्षा पर्याय) का छेदन करने वाले नियम होते हैं। अन्य अर्थ के अनुसार जिन शास्त्रों की शिक्षा केवल परिणत (योग्य व समर्थ) शिष्य को दी जा सकती है, अपरिणत या अतिपरिणत को नहीं, वे छेद-सूत्र कहे जाते हैं।^{१०} छेद-सूत्रों में दोषों से बचने और दोष लग जाने पर प्रायश्चित का विधान होता है। इन छेद सूत्रों में अनुशासन के जो नियम प्राप्त होते हैं, उन्हें शासन, प्रशासन, सेना और प्रबन्ध में अनुशासन के लिए उत्तम मार्गदर्शन प्राप्त किया जा सकता है। डॉ. जैकोबी और शुब्रिंग के अनुसार

प्राचीन छेद सूत्रों का समय ई. पूर्व चौथी सदी का अन्त और तीसरी का प्रारम्भ माना गया है।¹¹ डॉ. विण्टरनिट्ज छः छेद सूत्रों के नाम देते हैं - कल्प, व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ, पिण्ड-निर्युक्ति और ओघ-निर्युक्ति।¹² चार छेद-सूत्रों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

1. **दशाश्रुतस्कन्ध** : ठाणांग में इसका अपर नाम आचार दशा प्राप्त होता है। इसमें दस अध्ययन हैं। 216 गद्य-सूत्र और 52 पद्य-सूत्रों में 1830 अनुष्टुप श्लोक प्रमाण उपलब्ध पाठ है।¹³ कल्पसूत्र को दशाश्रुतस्कन्ध का आठवाँ अध्ययन माना जाता है। इसमें भगवान महावीर की जीवनी और साधकों के आचार-विधान पर प्रकाश डाला गया है।
2. **बृहत्कल्प** : इसमें 6 उद्देशक हैं; जिनमें 81 अधिकार, 206 सूत्र और 473 श्लोक प्रमाण उपलब्ध मूल पाठ है। जैन श्रमणों के प्राचीनतम आचारशास्त्र का यह महाशास्त्र है।¹⁴ साधु किस स्थान पर कितने समय ठहर सकता है, इसका विशेष विवरण इस सूत्र में है। जिन 16 प्रकार के स्थानों का वर्णन इस ग्रन्थ में है, उनसे प्राचीन अर्थिक व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। ये सोलह स्थान हैं¹⁵ -

1. ग्राम (जहाँ 18 प्रकार के कर लिये जाते हो)
2. नगर (जहाँ 18 प्रकार के कर नहीं लिये जाते हो)
3. खेट (जिसके चारों ओर मिट्टी की दीवार हो)
4. कर्बट (जहाँ कम लोग रहते हो)
5. मडम्ब (जिसके बाद ढाई कोस तक कोई गाँव न हो)
6. पत्तन (जहाँ सब वस्तुएँ उपलब्ध हो)
7. आकर (जहाँ धातु की खानें हो)
8. द्रोणमुख (जहाँ जल व स्थल को मिलाने वाले मार्ग हो, जहाँ समुद्री माल आकर उतरता हो)
9. निगम (जहाँ व्यापारियों की वसति हो)
10. राजधानी (जहाँ राजा का आवास और राजकाज हो)
11. आश्रम (जहाँ तपस्वी आदि रहते हो)

12. निवेश/सन्निवेश (जहाँ सार्थवाह आकर उतरते हो)
 13. सम्बाध-सम्बाह (जहाँ किसान रहते हो अथवा अन्य गाँव के लोग अपने गाँव से धन आदि की रक्षा के निमित्त पर्वत, गुफा आदि में आकर उठरे हुए हो)
 14. घोष (जहाँ ग्वाले आदि रहते हो)
 15. अंशिका (गाँव/नगर का अर्ध, तृतीय या चतुर्थ भाग) और
 16. पुटभेदन (जहाँ व्यापारी अपनी चीजें बेचने आते हो)।
3. **व्यवहार-सूत्र** : चरणानुयोगमय इस आगम में दस उद्देशक हैं। 267. सूत्र संख्या और 373 अनुष्टुप श्लोक प्रमाण उपलब्ध मूल पाठ है। आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत - ये व्यवहार के पाँच प्रकार हैं। इसके रचयिता श्रुतकेवली भद्रबाहु माने जाते हैं।
4. **निशीथ-सूत्र** : निशीथ भाष्य श्लोक 64 के अनुसार निशीथ का अर्थ अप्रकाश है। उसमें कहा गया कि जो रहस्य को धारण कर सके यानि गोपनीयता बनाए रख सके वही निशीथ को पढ़ने का अधिकारी है। चरणानुयोगमय इस आगम में विशेषतः प्रायश्चित्त का विधान है। 20 उद्देशकों के 1405 गद्य-सूत्रों में 812 अनुष्टुप श्लोक प्रमाण उपलब्ध मूल पाठ है।¹⁶

इन चार छेद-सूत्रों सहित इकतीस आगम-ग्रन्थों का परिचय हुआ। बत्तीसवाँ है - **आवश्यक-सूत्र** : इसे प्रतिक्रमण-सूत्र भी कहा जाता है। इसमें इन छः आवश्यकों की आराधना का निर्देश है - सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। प्रतिक्रमण के अन्तर्गत 99 अतिचार एवं मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय, अविरति व अशुभ-योग का प्रायश्चित्त किया जाता है। गृहस्थ और साधु दोनों के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक बताया गया है। प्रतिक्रमण उत्तम जीवन जीने की कला की शिक्षा देता है। आवश्यक में 100 श्लोक प्रमाण मूल पाठ है; जिसमें 91 गद्य-सूत्र और 9 पद्य-सूत्र हैं। इसमें वर्णित गृहस्थाचार का अर्थशास्त्रीय महत्त्व आगे बताया गया है।

प्रकीर्णक साहित्य

शौरसेनी आगम साहित्य के परिचय से पूर्व प्रकीर्णक-साहित्य का परिचय दिया जा रहा है। श्वेताम्बर जैन परम्परा द्वारा आगम ग्रन्थों की मान्यता की दो विचारधाराएँ हैं - 32 आगम और 45 आगम। पैतालीस आगमों के अन्तर्गत

आवश्यक-सूत्र को छोड़ते हुए ऊपर वर्णित इकतीस आगम तथा दस प्रकीर्णक, जीत-कल्प, महानिशीथ, आवश्यक-निर्युक्ति और पिण्ड-निर्युक्ति को सम्मिलित किया जाता है।¹⁷ प्रकीर्णक आगम साहित्य का किंचित परिचय यहाँ समीचीन होगा। क्योंकि आगमों को व्यापक रूप से समझने के लिए प्रकीर्णकों का अध्ययन आवश्यक है।

नन्दी-सूत्र के टीकाकार आचार्य मलयगिरी के अनुसार तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट श्रुत के आधार पर श्रमण प्रकीर्णकों की रचना करते हैं अथवा श्रमणों की श्रुताधारित धर्मकथाओं/धर्मोपदेशों से रचित कृतियाँ प्रकीर्णक कहलाती हैं। माना जाता है कि भगवान महावीर के तीर्थ में चौदह हजार प्रकीर्णक थे। वर्तमान में दस प्रकीर्णक माने जाते हैं। कुछ अन्य प्रकीर्णक भी माने जाते हैं। इनमें नाम और क्रम भेद भी हैं। प्रकीर्णकों का परिचय यहाँ दिया जा रहा है।¹⁸

1. **चतुःशरण** : इसमें चार शरणों को उत्कृष्ट और कल्याणकारी बताया गया है - अरहन्त, सिद्ध, साधु और सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म। अन्तिम 63वीं गाथा में वीरभद्र का उल्लेख होने से इसे वीरभद्र रचित माना जाता है।
2. **आतुर प्रत्याख्यान** : सत्तर गाथाओं के इस ग्रन्थ के रचयिता भी वीरभद्र हैं। मरण (बाल, बाल-पण्डित और पण्डित) से सम्बन्धित सामग्री होने से इसे अन्तकाल प्रकीर्णक भी कहा जाता है।
3. **महाप्रत्याख्यान** : 142 गाथाओं में त्याग-प्रत्याख्यान के स्वरूप और महिमा का वर्णन है।
4. **भक्त-परिज्ञा** : वीरभद्र रचित इस ग्रन्थ में 172 गाथाएँ हैं।
5. **तन्दुल वैचारिक** : इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से गर्भ के विषय में सामग्री मिलती है। इससे पता चलता है कि प्राचीन समय के अध्यात्म मनीषी आश्चर्यजनक वैज्ञानिक जानकारी रखते थे। इसमें 139 गाथाएँ हैं।
6. **संस्तारक** : मृत्यु संसार की अटल नियति है। समाधि मरण से उसे मंगलमय बनाया जा सकता है। समाधि मरण के लिए संस्तारक यानि संथार आवश्यक है। ग्रन्थ की 123 गाथाओं में संथारे की विधि और महत्व पर प्रकाश डाला गया है।
7. **गच्छाचार** : इसमें 137 गाथाएँ हैं। गाथा 135 के अनुसार यह ग्रन्थ महानिशीथ, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रों के आधार पर लिखा गया। इसमें गच्छ अर्थात्

समूह में रहने वाले श्रमण श्रमणियों के आचार तथा श्रमण और श्रमणियों के बीच आचारगत मर्यादाओं का वर्णन है।

8. **गणिविद्या** : ज्योतिर्विज्ञान की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। 82 गाथाओं में दिवस, तिथि, नक्षत्र, करण, ग्रह, मुहूर्त, शकुन, लग्न और निमित्त इन नौ विषयों का विवेचन है।
9. **देवेन्द्रस्तव** : 307 गाथाओं के इस प्रकीर्णक में बत्तीस देवेन्द्रों का विस्तृत वर्णन है। देवताओं, देवलोक तथा जैन खगोल-भूगोल का परिचय इस ग्रन्थ से प्राप्त होता है। ग्रन्थ की मूल गाथाओं में रचनाकार के रूप में ऋषिपालित का उल्लेख है। देवेन्द्रस्तव का रचना-काल ईस्वीपूर्व प्रथम शताब्दी के आसपास है।¹⁹
10. **मरण-समाधि** : मरण विभक्ति, मरण विशोधि, मरण समाधि, संलेखना श्रुत, भक्त परिज्ञा, आतुर प्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान और आराधना इन आठ प्राचीन श्रुतस्कंधों के आधार पर इस प्रकीर्णक की रचना हुई।²⁰ यह सबसे बड़ा प्रकीर्णक है।
11. **चन्द्रवेध्यक** : इसमें विनय, आचार्य गुण, शिष्य गुण, विनय निग्रह गुण, ज्ञान गुण, चरण गुण और मरण गुण इन सात विषयों का विस्तार से विवेचन है। ग्रन्थ में अप्रमाद का उपदेश है। 175 गाथाएँ हैं।
12. **वीरस्तव** : 43 गाथाओं में भगवान महावीर की स्तुति की गई है। महावीर के अन्य अनेक नाम इस ग्रन्थ में प्राप्त होते हैं।²¹

इन प्रकीर्णकों के अलावा अन्य अनेक प्रकीर्णकों के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। यथा - तित्थोगाली, अजीव कल्प, सिद्ध पाहुड, आराधना पताका, द्वीप सागर प्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करण्डक, अंगविद्या, तिहिपइण्णग, सारावलि, पर्यन्ताराधना, जीवविभक्ति, कवच प्रकरण, जोणि पाहुड आदि। धर्म, दर्शन, अध्यात्म, जीवन-मूल्यों की चर्चा के साथ-साथ तत्कालीन समाज की प्रतिच्छवि भी इन ग्रन्थों में मिलती है। आगम और व्याख्या साहित्य के बीच कड़ी के रूप में प्रकीर्णकों का महत्व है।²² अन्य कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थों का परिचय भी यहाँ दिया जा रहा है।

महानिशीथ : छः अध्ययन और दो चूलाओं के इस ग्रन्थ में 4554 श्लोक प्रमाण पाठ है। नन्दी में उल्लेखित महानिशीथ से यह भिन्न है। इसकी अनेक

बातें मूल आगम ग्रन्थों से मेल नहीं खाती है। आचार्य हरिभद्रसूरि इस ग्रन्थ के उद्धारक माने जाते हैं।^{१३}

जीत-कल्प : इसके रचनाकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं। इसमें 103 गाथाएँ हैं।

ओघ-निर्युक्ति : इसमें श्रमणों के आचार विचार का प्रतिपादन है इसलिए कहीं इसे मूल सूत्र और कहीं छेद सूत्र के अन्तर्गत माना जाता है। आचार्य भद्रबाहु ने इसकी रचना की तथा अनेक विज्ञों की राय में यह आवश्यक निर्युक्ति का ही एक भाग है। इसमें 811 गाथाएँ हैं।

पिण्ड-निर्युक्ति : आचार्य भद्रबाहु ने इसकी रचना की तथा इसमें 671 गाथाएँ हैं। इसमें श्रमणों की आहार चर्या पर चिन्तन किया गया है।

ऋषिभाषित : इसे अर्धमागधी आगम साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है। यह ग्रन्थ आचारंग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का किञ्चित परवर्ती तथा सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन व दशवैकालिक जैसे प्राचीन आगम ग्रन्थों की अपेक्षा पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। भाषा, इतिहास और संस्कृति की दृष्टि से यह बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें धार्मिक उदारता का अनूठा दिग्दर्शन है। ऋषिभाषित न सिर्फ जैन संस्कृति अपितु समग्र भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि है।^{१४}

निर्युक्ति-साहित्य

मूल आगमों और प्रकीर्णकों पर मनीषी आचार्यों द्वारा विपुल साहित्य की रचना की गई। यह व्याख्यात्मक साहित्य एक लम्बे काल-खण्ड की सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक आदि घटनाओं और विषयों पर विपुल महत्वपूर्ण सामग्री जुटाता है। व्याख्या साहित्य में निर्युक्ति, भाष्य और चूर्ण के अलावा संस्कृत टीकाएँ तथा लोक भाषा में रचित सामग्री का समावेश किया जाता है। निर्युक्तियों के मुख्य रचनाकार आचार्य भद्रबाहु हैं। उन्होंने आचारंग, सूत्रकृतांग, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कन्ध, बह्वकल्प, व्यवहार और अन्य ग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ लिखीं। आचार की दृष्टि से कुछ निर्युक्तियाँ इतनी महत्वपूर्ण हैं कि वे आगम साहित्य में स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठित हो गईं, जैसे पिण्ड-निर्युक्ति और ओघ-निर्युक्ति।^{१५} मूल ग्रन्थों के भावार्थ और रहस्य को जानने के लिए निर्युक्ति-साहित्य का बहुत महत्व है।

भाष्य-साहित्य

निर्युक्तियों के बाद भाष्यों की रचना हुई। मूल ग्रन्थों और निर्युक्तियों पर भाष्य साहित्य की रचना हुई। भाष्यों में शब्दों व विषयों का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। भाष्य साहित्य में विभिन्न प्राकृतों के विशिष्ट प्रयोग मिलते हैं। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण और संघदासगणी मुख्य भाष्यकार हुए हैं। इन भाष्यकारों के प्राकृत गाथाओं में आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, बृहत्कल्प, पंचकल्प, व्यवहार, निशीथ, जीतकल्प, ओघ निर्युक्ति, पिण्ड निर्युक्ति आदि पर भाष्य उपलब्ध होते हैं।^{१६} भाष्य साहित्य में एक दीर्घ कालखण्ड की प्रचुर धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक और राजनैतिक जानकारी हमें प्राप्त होती है।^{१७} जैन परम्परा और प्राचीन भारतीय आर्थिक परिदृश्य को जानने समझने के लिए भाष्य साहित्य का गम्भीर अध्ययन आवश्यक है। इस साहित्य में प्राचीन अनुश्रुतियाँ, लौकिक कथाएँ और परम्परागत प्राचीन आचार-विचार का विशद विवेचन हमें मिलता है। मूल ग्रन्थों और निर्युक्तियों की तरह भाष्य की भाषा भी मुख्य रूप से अर्द्धमागधी है।^{१८}

चूर्णि-साहित्य

निर्युक्तियों और भाष्यों के पश्चात् आगमों पर चूर्णियाँ लिखी गईं। चूर्णि-साहित्य प्राकृत और संस्कृत मिश्रित प्राकृत में रचा गया। जिसमें संस्कृत कम और प्राकृत अधिक है। अभिधान राजेन्द्र कोश में चूर्णि की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि जिसमें अर्थ की बहुलता हो, महान अर्थ हो; हेतु, निपात और उपसर्ग से युक्त हो, गम्भीर हो, अनेक पदों से सम्बन्धित हो, जिसमें अनेक गम (जानने के उपाय) हों और जो नयों से शुद्ध हो, उसे चूर्णि समझना चाहिये।^{१९} निर्युक्ति और भाष्य की भाँति चूर्णि-साहित्य भी सभी आगम ग्रन्थों पर नहीं मिलता है। आचारांग, सूत्रकृतांग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति, जीवाभिगम, निशीथ, महानिशीथ, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, पंचकल्प, जीतकल्प, ओघनिर्युक्ति, व्यवहार, नन्दी, अनुयोगद्वार, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों पर चूर्णियाँ लिखी गईं।^{२०} जिनदासगणि महत्तर ने सर्वाधिक चूर्णि साहित्य की रचना की। चूर्णियाँ सरल सुबोध भाषा में है तथा इनमें भी तत्कालीन जीवन और समाज की प्रचुर सामग्री है।^{२१}

टीका साहित्य

आगम, निर्युक्ति और भाष्य प्राकृत में रचित है। चूर्णियाँ मुख्य रूप से प्राकृत और गौण रूप से संस्कृत में रचित है। टीकाएँ संस्कृत में रचित है। वह

समय संस्कृत के उत्कर्ष का था, इसलिए आचार्यों ने टीकाओं में संस्कृत को अपनाया। निर्युक्तियों में आगमिक शब्दों की व्याख्या, भाष्यों में विस्तृत विवेचन तथा चूर्णियों में निगूढ भावों को लोक कथाओं के माध्यम से समझाने का प्रयास किया गया है जबकि टीका साहित्य में आगमों का दार्शनिक दृष्टि से विवेचन है। टीकाकारों में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, आचार्य हरिभद्र, आचार्य अभयदेव, आचार्य शीलंक, कोट्याचार्य, आचार्य गन्धहस्ती, मलयगिरी, मलधारी हेमचन्द्र, नेमीचन्द्र आदि प्रमुख हैं। आधुनिक समय में भी पर्याप्त टीका-लेखन का कार्य हुआ है तथा आधुनिक भाषाओं में उल्लेखनीय अनुवाद कार्य हुए हैं।³²

सन्दर्भ

1. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ.-163
2. कापड़िया, एच.आर. (प्रो.) दि कैनानिकल लिटरेचर ऑफ दि जैनाज (1941) पृ. 44-45
3. मेहता, मोहनलाल (डॉ.) जैन दर्शन, प.-89 (वर्तमान में स्थानकवासी और तेरापंथी परम्पराएँ इन्हें मूल सूत्र मानती हैं)
4. शास्त्री, नेमिचन्द्र (डॉ.) प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ-192
5. मुनि कन्हैयालाल 'कमल', उपाध्याय, जैनागम निर्देशिका, पृ.-757
6. देखें, श्री मलयागिरीया नन्दीवत्ति पत्र 65, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ.-188, प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ-199 आदि।
7. सिंघवी, सुखलालजी (पं.), तत्त्वार्थ सूत्र पृ-8
8. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ.-190
9. कुन्दकुन्द, आचार्य, प्रवचनसार 3/16
10. कापड़िया, एच.आर. (प्रो.) दि कैनानिकल लिटरेचर ऑफ दि जैनाज पृ.-36
11. मालवणिया, दलसुख (पं.) जैन साहित्य का बहद् इतिहास भाग एक, प्रस्तावना पृ.-54, प्रकाशक-पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान (जैनाश्रम)
12. कापड़िया, एच.आर. (प्रो.) दि कैनानिकल लिटरेचर ऑफ दि जैनाज पृ.-39
13. देवेन्द्र मुनि (आचार्य), आगम साहित्य : मनन और मीमांसा पृ.-347
14. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ.-157
15. देवेन्द्र मुनि (आचार्य), आगम साहित्य : मनन और मीमांसा पृ.-357-358
16. मुनि कन्हैयालाल 'कमल', उपाध्याय, जैनागम निर्देशिका, पृ.-877
17. नगराज, मुनि, आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, प.-486 एवं डॉ.

कैलाश चन्द्र शास्त्री का प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ.-197

18. देखें 'प्रकीर्णक साहित्य : मनन और मीमांसा' सम्पादक - प्रो. सागरमल जैन
19. जैन, सागरमल एवं कोठारी सुभाष (डॉ.), आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर से प्रकाशित पुस्तक 'देविन्दत्थओ' की विस्तृत भूमिका।
20. मरण समाधि गाथा : 661-663
21. दोशी, बेचरदास, जैन साहित्य का बहद् इतिहास भाग-1, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, पृष्ठ-27।
22. जैन, प्रेमसुमन (डॉ.) 'प्रकीर्णक साहित्य का कथात्मक वैशिष्ट्य' 'प्रकीर्णक साहित्य मनन और मीमांसा' पृ.-87
23. देवेन्द्र मुनि (आचार्य), आगम साहित्य : मनन और मीमांसा पृ.-404
24. जैन, सागरमल (प्रो.) 'प्रकीर्णक साहित्य मनन और मीमांसा' (आगम संस्थान, उदयपुर द्वारा प्रकाशित) में प्रकाशित लेख - 'प्राचीनतम प्रकीर्णक : ऋषिभाषित'।
25. मेहता, मोहनलाल (डॉ.) जैन साहित्य का बहद् इतिहास भाग-दो, पृष्ठ-68
26. मेहता, मोहनलाल (डॉ.) जैन साहित्य का बहद् इतिहास भाग-दो, पृष्ठ-129
27. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ.-195-196
28. जैन, जिनेन्द्र (डॉ.), जैनागमों का व्याख्या साहित्य, जिनवाणी, जैनागम विशेषांक, अप्रैल-2002, पृष्ठ-475
29. वही, पृष्ठ-482 पर उद्धृत।
30. देवेन्द्र मुनि (आचार्य), आगम साहित्य : मनन और मीमांसा पृ.-489
31. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-234
32. देखें, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-261

शौरसेनी आगम साहित्य

उपलब्ध साहित्य की दृष्टि से शौरसेनी सबसे प्राचीन साहित्यिक प्राकृत मानी जाती है।¹ इसे शूरसेन जनपद में बोली जाने वाली लोक भाषा माना जाता है। इसकी राजधानी मथुरा थी।² इस जनपद में 84 वन थे। जिसमें 12 बड़े वन और 72 छोटे वन थे। बाद में अनेक स्थानों पर नगर बस गये। जैसे - वृन्दावन, मधुवन, विधिवन, महावन आदि। अग्रवन के स्थान पर वर्तमान में आगरा बसा हुआ है। शौरसेनी के प्रभाव और विस्तार में वृद्धि के लिए देश-विदेश के व्यापारियों का बड़ा योगदान है।³ दिगम्बर जैन परम्परा मान्यता प्राप्त आगम ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत में प्राप्त होते हैं। इन ग्रन्थों में द्वादशांगी का उल्लेख है परन्तु उसे विच्छिन्न माना जाता है। बारहवें अंग दृष्टिवाद का कुछ अंश शेष रहा, उसके आधार पर आचार्य धरसेन के सांनिध्य में विशाल ग्रन्थ षट्खण्डागम की रचना की गई।⁴

षट्खण्डागम

आचार्यद्वय श्री पुष्पदन्त और श्री भूतबलि षट्खण्डागम के सर्जक हैं। विक्रम की प्रथम शताब्दी इसका रचनाकाल माना जाता है। छः खण्डों में विभक्त होने इसका नाम षट्खण्डागम है। प्रथम खण्ड जीवस्थान के अन्तर्गत सत्प्ररूपणा की रचना आचार्य पुष्पदन्त ने तथा शेष आगम की रचना भूतबलि ने की।⁵ छः खण्डों का क्रमशः परिचय दिया जा रहा है।

1. **जीवस्थान** : इसमें आठ प्ररूपणाओं में जीव का वर्णन किया गया है। पहली सत्प्ररूपणा में 177 सूत्र हैं। दूसरी द्रव्य प्रमाणानुगम प्ररूपणा में 192 सूत्र हैं; जिनमें गुणस्थान और मार्गणाक्रम से जीवों की संख्या बताई गई है। तीसरी क्षेत्र प्ररूपणा में 92 सूत्रों द्वारा जीवों के क्षेत्र का कथन किया गया है। चौथी स्पर्शना प्ररूपणा में बताया गया है कि गुणस्थान और मार्गणा के अनुसार जीव कितने क्षेत्र का स्पर्श करता है। इसमें 185 सूत्र हैं। पाँचवीं कालानुयोग प्ररूपणा के 342 सूत्रों में जीव की अवस्था विशेष की काल मर्यादा का निरूपण है। छठी अन्तर प्ररूपणा में 397 सूत्र हैं; जिनमें विभिन्न गुणस्थानों में संक्रमण की अन्तर अवधि का वर्णन है। सातवीं भावानुयोग प्ररूपणा में 93 सूत्र हैं। आठवीं अल्प-बहुत्व प्ररूपणा में विभिन्न गुणस्थानवर्ती तथा मार्गणास्थानवर्ती

जीवों की संख्या के न्यूनाधिक्य का विवेचन है। आठ प्ररूपणाओं के अतिरिक्त जीवस्थान में नौ चूलिकाएँ हैं - समुत्कीर्तन, स्थान समुत्कीर्तन, प्रथम महादण्डक, द्वितीय महादण्डक, तृतीय महादण्डक, उत्कृष्ट स्थिति, जघन्य स्थिति, सम्यक्त्वोत्पत्ति एवं गत्यागति। प्रथम खण्ड सतह अधिकारों में विभाजित है। इसमें कुल 2375 सूत्र हैं।^१

2. **क्षुद्रकबन्ध** : मार्गणा स्थानों के अनुसार कौनसा जीव बन्धक और कौनसा अबन्धक है, इसका विवेचन इस खण्ड में है। इसमें तेरह अधिकार और ग्यारह अनुयोग हैं। कुल 1582 सूत्र हैं। कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से यह उपयोगी है।
3. **बन्धस्वामित्व विचय** : कौनसे गुणस्थानवर्ती और मार्गणावर्ती जीव कौनसे कर्मबन्ध करते हैं, इसका इसमें वर्णन है। कुल 324 सूत्र हैं।
4. **वेदना खण्ड** : इस खण्ड में 1449 सूत्र हैं। इसमें कृति और वेदना इन दो अनुयोगों के माध्यम से कर्म सिद्धान्त का निरूपण है।
5. **वर्गणा खण्ड** : इसमें स्पर्श, कर्म और प्रकृति नामक अनुयोग द्वारों का प्रतिपादन किया गया है। इन तीन अनुयोग द्वारों में क्रमशः 63, 31 और 142 सूत्र हैं। इनमें कर्म-बन्ध, बन्धक और बन्धनीय पर विचार किया गया है।
6. **महाबन्ध** : कर्म-बन्ध के चार भेद हैं - प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। महाबन्ध में इन चारों पर इतने विस्तार से विवेचन है कि यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ माना जाता है। यह खण्ड 3000 श्लोक प्रमाण है जबकि इससे पूर्व के सभी पाँच खण्ड 6000 श्लोक प्रमाण हैं।

कषाय पाहुड : आचार्य गुणधर रचित इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'पेज्जदोसपाहुड' भी है। डॉ. नेमी चन्द्र शास्त्री के अनुसार ग्रन्थ का रचनाकाल ईस्वी की प्रथम शती है।^१ 180 मूल और 53 भाष्य गाथाओं को मिलाकर इसमें कुल 233 सूत्र गाथाएँ हैं। यह ग्रन्थ सोलह अधिकारों के माध्यम से सिद्धान्त की व्याख्या करता है।

शौरसेनी आगम ग्रन्थों पर समय-समय पर अनेक टीकाओं की रचना हुई। विषय और विस्तार की दृष्टि से इन टीकाओं का महत्व व स्थान स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसा है। यहाँ षट्खण्डागम पर लिखी ख्यात टीकाएँ धवला और जय-धवला का परिचय प्रस्तुत है।

धवल : यह टीका षट्खण्डागम के पाँच खण्डों पर लिखी गई। टीकाकार आचार्य वीरसेन ने 72 हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत मिश्रित संस्कृत में इसकी रचना की। इसका तीन चौथाई हिस्सा प्राकृत और एक चौथाई हिस्सा संस्कृत में है। धवला की मुख्य विशेषताएँ हैं - कर्म सिद्धान्त का निरूपण, पूर्ववर्ती आचार्यों और समकालीन राजाओं का उल्लेख, दर्शनशास्त्र की मान्यताओं का समावेश, लोक-स्वरूप के विवेचन में नया दृष्टिकोण, अन्तर्मुहूर्त के सम्बन्ध में नई मान्यता, गणित-शास्त्र की विभिन्न प्रवृत्तियों का प्ररूपण, ज्योतिर्विज्ञान और निमित्त-ज्ञान की प्राचीन मान्यताओं का विश्लेषण, सम्यक्त्व के स्वरूप का विवेचन, भाषा और कुभाषा का वर्णन, सांस्कृतिक तत्त्वों का प्राचुर्य, श्रुत-ज्ञान के पदों की संख्या का निरूपण, गुणस्थान और जीव-समासों का विवेचन इत्यादि।

जय-धवल : आचार्य वीरसेन ने जय-धवल लिखना शुरू किया। बीस हजार श्लोक लिखने के बाद वे स्वर्गलोक सिधार गये। उनके शिष्य आचार्य जिनसेन ने चालीस हजार श्लोक और लिखकर ई. सन् 837 में इस टीका को पूर्ण किया। इस प्रकार इस ग्रन्थ में कुल 60 हजार श्लोक प्रमाण सामग्री है।

कुन्दकुन्दाचार्य का साहित्य

शौरसेनी आगम साहित्य के सृजेताओं में आचार्य कुन्दकुन्द का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी तेईस रचनाएँ प्राप्त होती हैं। उनकी रचनाओं में निश्चयनय पर अधिक बल दिया गया है। प्रवचनसार, समयसार और पंचास्तिकाय ये तीन विशाल ग्रन्थ अध्यात्म-तयों के रूप में विख्यात हैं।

प्रवचनसार : इस ग्रन्थ में तीन अधिकार हैं - ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र। ज्ञानाधिकार में आत्मा और ज्ञान का एकत्व, अन्यत्व, सर्वज्ञ की परिभाषा, इन्द्रिय और अतिन्द्रिय सुख, अशुभ, शुभ और शुद्ध उपयोग एवं मोहक्षय आदि का विवेचन है। ज्ञेयाधिकार में द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप, सप्तभंगी, ज्ञान, कर्म और कर्मफल, चेतना का स्वरूप, मूर्त-अमूर्त द्रव्यों के गुण, जीव का लक्षण, जीव और पुद्गल का सम्बन्ध, निश्चय और व्यवहार आदि पर विचार किया गया है। चारित्राधिकार में श्रमण चर्या और आचार संहिता व मोक्ष तत्व पर विमर्श है।¹⁰

समयसार : अध्यात्म प्रधान इस ग्रन्थ की तुलना उपनिषद्-साहित्य से की जाती है। समय बहुत अर्थपूर्ण शब्द है। काल, पदार्थ और आत्मा इसके मुख्य अर्थ हैं। समयसार आत्मा के सार पर केन्द्रित है। इसमें आत्मा और अनात्मा के

भेद-विज्ञान को स्पष्ट किया गया है। जीवाजीव, कर्तृकर्म, पुण्य-पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष, सर्व विशुद्ध ज्ञान और अनेकान्त दृष्टि से आत्म-स्वरूप का विवेचन इन दस अधिकारों का इस ग्रन्थ में वर्णन है।¹¹

पंचास्तिकाय : विश्व की संरचना छः द्रव्यों से मिलकर हुई। काल-द्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश; अस्तिकाय के अन्तर्गत परिगणित किये जाते हैं, क्योंकि ये बहुप्रदेशी द्रव्य होते हैं। दो अधिकारों में विभक्त इस ग्रन्थ के प्रथम अधिकार में द्रव्य, गुण और पर्याय का विवेचन तथा द्वितीय अधिकार में पुण्य, पाप, जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वों का वर्णन है।

आचार्य कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों में नियमसार, द्वादशानुप्रेक्षा, दर्शन प्राभृत, चारित्र प्राभृत, सूत्र प्राभृत, बोध प्राभृत, भाव प्राभृत, मोक्ष प्राभृत, लिंग प्राभृत शील प्राभृत, सिद्ध-भक्ति, श्रुत भक्ति, चारित्र भक्ति, योग भक्ति, आचार्य भक्ति, निर्वाण भक्ति, पंचगुरु भक्ति, कोरसामि, स्तुति, रयणसार आदि प्रमुख है।¹²

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द का योगदान न सिर्फ जैन दर्शन के लिए अपितु सम्पूर्ण भारतीय दर्शन, संस्कृति, अध्यात्म और भाषा के लिए भी अनुपम है। द्रव्य, गुण और पर्याय में उन्होंने विश्व के सभी पदार्थों का समावेश कर दिया।¹³ आगम ग्रन्थों में उल्लेखित निश्चय और व्यवहार की अवधारणा को उन्होंने नवीन अर्थ और विस्तार दिया। शौरसेनी आगम साहित्य के सृजेताओं में कुन्दकुन्दाचार्य के अलावा आचार्य यतिवृषभ, वट्टकेर, शिवार्य, नेमीचन्द्र, कुमार कार्तिकेय आदि नाम प्रमुख हैं। इन मनीषियों के ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

अन्य ग्रन्थ

त्रिलोक प्रज्ञप्ति : तिलोय पण्णत्ति में तीन लोक के स्वरूप, आकार, प्रकार, विस्तार, क्षेत्रफल, परिवर्तन आदि का वर्णन है। आचार्य यतिवृषभ रचित इस ग्रन्थ में पुराण और भारतीय इतिहास विषयक सामग्री भी प्राप्त होती है। नौ महाधिकारों में विभक्त इस ग्रन्थ में प्राचीन खगोल-भूगोल सम्बन्धी जानकारियों का समावेश है।

मूलाचार : इस ग्रन्थ की रचना आचार्य वट्टकेर ने की। पं. जुगल किशोर मुख्तार आचार्य कुन्दकुन्द को ही वट्टकेर मानते हैं। परन्तु अन्य विद्वान् मुख्तार से सहमत नहीं हैं। निःसन्देह वे स्वतन्त्र आचार्य हैं।¹⁴ दक्षिण भारत के बेट्टेकेरी स्थान

के निवासी वट्टकेर दिगम्बर परम्परा में मूल संघ के प्रमुख आचार्य थे। मूलाचार में उन्होंने श्रमण आचार संहिता का सुव्यवस्थित, विस्तृत एवं सांगोपांग विवेचन किया है।¹⁵ इस ग्रन्थ में बारह अधिकार हैं और 1252 गाथाएँ हैं।

भगवती आराधना : विक्रम की तीसरी शताब्दी में हुए आचार्य शिवाय के इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ में मुख्यतः श्रमणाचार की चर्चा है। इसमें सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य और तप की आराधनाओं का स्वरूप और विश्लेषण है। इसके टीकाकार श्री अपराजित सूरि ने अपनी टीका के अन्त में इसका नाम आराधना टीका दिया है।¹⁶ विशेष तौर पर अन्तिम समय की आराधना (मरणसमाधि या समाधिमरण) की विधि और महिमा का इसमें वर्णन है। इसमें 2166 गाथाएँ हैं, जो 40 अधिकारों में वर्गीकृत हैं।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा : इसमें 497 गाथाएँ हैं। इसमें 12 अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) के अतिरिक्त सप्त तत्त्व, जीव समास, मार्गणा, द्वादशव्रत, दान और उसके प्रकार, धर्म के दस प्रकार, सम्यक्त्व के आठ अंग, बारह प्रकार के तप, ध्यान आदि का वर्णन भी है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त गोम्मतसार, लब्धिसार, चारित्र-लब्धि, त्रिलोकसार, द्रव्य संग्रह, जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति संग्रह, धर्म रसायन, आराधना सार, तत्त्व सार, दर्शन सार, सिद्धान्त सार, वसुनन्दी श्रावकाचार, श्रुतस्कन्ध, निजात्माष्टक, छेद पिण्ड, भाव त्रिभंगी, आश्रव त्रिभंगी, अंग पण्णत्ति, कल्लणा लोयणा, ढाढ़सी गाथा, छेद शास्त्र आदि अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थों और सूत्रों को आगम तुल्य स्थान प्राप्त है। इन ग्रन्थों का अनुयोग दृष्टि से भी वर्गीकरण प्राप्त होता है।¹⁷

चार अनुयोग

1. **चरणकरणानुयोग :** इसमें आचार पक्ष को स्पष्ट करने वाले ग्रन्थों को लिया जाता है। अर्थशास्त्र के अन्तर्गत उपभोक्ता के व्यवहार, उत्पादन, वितरण और उपयोगिता के सिद्धान्तों के अध्ययन में चरणकरणानुयोग का महत्व है।
2. **धर्मकथानुयोग :** धर्म और अध्यात्म के साथ-साथ तत्कालीन समय के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन का जीवन्त वर्णन इस अनुयोग में वर्गीकृत आगमों में मिलता है।
3. **गणितानुयोग :** गणित और गणितीय सूत्रों के बिना अर्थशास्त्र का अध्ययन पूरा नहीं हो सकता है। बहतर कलाओं में गणित की गणना भी है। अनेक

आगमों में गणित सम्बन्धी आश्चर्यजनक सामग्री प्राप्त होती है। इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि आगम-युग में अर्थशास्त्र सम्बन्धी स्वतन्त्र विषय था। मध्यकाल में महावीराचार्य (आठवीं-नौवीं सदी) ने तो गणित पर स्वतन्त्र ग्रन्थ 'गणित सार संग्रह' लिखकर जैन-गणित अथवा गणितानुयोग को नये आयाम दिये।¹⁸

4. **द्रव्यानुयोग** : द्रव्यानुयोग के अर्थशास्त्रीय अध्ययन में पर्यावरण और उसके संरक्षण की तर्कसंगत समझ बढ़ती है। पर्यावरण आर्थिकी के अध्ययन में द्रव्यानुयोग का महत्व है।

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री और अन्य मनीषियों ने आगम साहित्य की अनेक विशेषताएँ बतलाई हैं।¹⁹ उनमें से कुछ विशेषताएँ दृष्टव्य हैं -

- 1 मानवता की प्रतिष्ठा हेतु जातिभेद और वर्गभेद की निस्सारता।
- 2 शील, सदाचार और संयम का निरूपण।
- 3 शोषित और शोषक में समता लाने के लिए आर्थिक विषमताओं में सन्तुलन उत्पन्न करने हेतु अपरिग्रहवाद और संयम को जीवन में उतारने की प्रवृत्ति।
- 4 क्रियाकाण्डों का वैचारिक विरोध।
- 5 साधना के लिए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का निरूपण।
- 6 अपने पुरुषार्थ पर विश्वास कर सर्वतोमुखी विशाल दृष्टि का विकास।
- 7 अपने को स्वयं अपना भाग्य विधाता समझ कर परोक्ष शक्ति का पल्ला छोड़ पुरुषार्थ में प्रवृत्त होने की प्रेरणा।
- 8 विविध आख्यानों द्वारा जीवन की अनेक दृष्टियों से व्याख्या।
- 9 मिथ्याभिमान छोड़कर उदारतापूर्वक विचार सहिष्णु बन अपनी भूल को सहर्ष स्वीकार करने की प्रवृत्ति।
- 10 विरोधी विचारों को महत्व देना तथा अपने विचारों के समान अन्य के विचारों का भी आदर करना।
- 11 निर्भय और निर्वैर होकर शान्ति के साथ जीना और दूसरों को जीवित रहने देने की प्रवृत्ति।

- 12 वैयक्तिक विकास के लिए हृदय की वर्षतियों से उत्पन्न अनुभूतियों को विचार के लिए बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत करना और बुद्धि द्वारा निर्णय हो जाने पर कार्य में प्रवर्षित करना।
- 13 दया, ममता, करुणा आदि के उद्घाटन द्वारा मानवता की प्रतिष्ठा।
- 14 संस्कृति और समाज के इतिहास का यथार्थ परिज्ञान आगम साहित्य के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। जीवन और जगत् के विविध अनुभवों की जानकारी इस साहित्य में निहित है।²⁰

ऊपर वर्णित आगम शास्त्रों के परिचय से स्पष्ट है कि आत्म-विद्या इनका केन्द्रीय विषय है। इसकी परिधि में जीवन और जगत् की जो अन्य विद्याएँ और विधाएँ हैं, उनके आर्थिक-पक्ष की मीमांसा करना इस शोध का उद्देश्य है।

सन्दर्भ

1. जैन, प्रेम सुमन (डॉ.) 'प्राकृत भारती' में प्राकृत भाषा एवं साहित्य लेख, प. 5-6
2. जैन, बलभद्र (पं.) का लेख 'मूल संघ की आगम-भाषा शौरसेनी' 'शौरसेनी आगम-साहित्य की भाषा का मूल्यांकन' पुस्तिका में प्रकाशित, पृ. 1-3
3. हीरालाल, सिद्धान्ताचार्य (पं.), शौरसेनी आगम-साहित्य की भाषा का मूल्यांकन (कुन्दकुन्द भारती द्वारा प्रकाशित), पृ.-8
4. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) प्राकृत साहित्य का इतिहास, प.-272
5. वही प.-274 एवं देखें, डॉ. हीरालाल जैन लिखित षट्खण्डागम की प्रस्तावना, भाग प्रथम
6. शास्त्री, नेमिचन्द्र (डॉ.) 'प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृष्ठ-204-05
7. वही, प. 213
8. वही, प. 217-18
9. मालवणिया, दलसुख (पं.), आगम युग का जैन दर्शन, प.-231-232
10. देवेन्द्र मुनि (आचार्य) 'आगम साहित्य : मनन और मीमांसा' प.-580-81
11. शास्त्री, नेमिचन्द्र (डॉ.) 'प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृष्ठ 226-27
12. शास्त्री, नेमिचन्द्र (डॉ.) 'प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृष्ठ 229
13. कुन्दकुन्द, आचार्य, प्रवचनसार 1.87
14. शास्त्री, नेमिचन्द्र (डॉ.) 'प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृष्ठ 232 एवं आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ.-590
15. प्रेमी, फूलचन्द जैन (डॉ.) मूलाचार एक परिचय, जिनवाणी जैनागम विशेषांक, अप्रैल-2002, पृष्ठ-495

16. शास्त्री, कैलाशचन्द्र (पं.), भगवती आराधना, जिनवाणी जैनागम विशेषांक, अप्रैल-2002, पृष्ठ-501
17. मालवणिया, दलसुख (पं.), आगम युग का जैन दर्शन, प.-24
18. जैन, प्रेमसुमन (डॉ.) जैन साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, षष्ठम अध्याय, प्राचीन जैन साहित्य में गणितीय शब्दावली, पृ.-45 एवं डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री की पुस्तक 'भारतीय संस्कृति के विकास में जैन वांगमय का अवदान' (दूसरा खण्ड) के पृ. 355 व 379 पर जैन गणित सम्बन्धी लेख अवलोकनीय।
19. शास्त्री, नेमिचन्द्र (डॉ.) 'प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृष्ठ 161-162
20. शास्त्री, नेमिचन्द्र (डॉ.) 'प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृष्ठ 246

अध्याय द्वितीय : जैन परम्परा में अर्थ विचार

परिच्छेद एक
अर्थ सम्बन्धी अवधारणाएँ

परिच्छेद दो
पुरुषार्थ चतुष्टय और अर्थ

परिच्छेद तीन
अर्थोपार्जन के मुख्य साधन

परिच्छेद चार
मुद्रा और विनिमय

परिच्छेद पाँच
राजस्व और कर-प्रणालियाँ

अर्थ सम्बन्धी अवधारणाएँ

जैन धर्म का अपना मौलिक और स्वतन्त्र दर्शन है। अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी कालखण्ड, पुद्गल परावर्तन, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य जैसी मौलिक वैज्ञानिक अवधारणाएँ सृष्टि को शाश्वत सिद्ध करती हैं। इन अवधारणाओं के आधार पर जैन परम्परा में उल्लेखित अनन्त चौबीसियों की मान्यता सही सिद्ध होती है। इसका फलित यह है कि निर्ग्रन्थ श्रमण परम्परा अनादिकालीन है और अनन्त काल तक इसका अस्तित्व रहेगा। अर्थात् यह शाश्वत है। नन्दी और समवायांग में इसी दृष्टि से जैनागमों को भी अनादि-अनन्त कहा गया है।

कर्मभूमि और कर्म

प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में पाँच-पाँच आरे होते हैं। वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल रहा है। इसके तीसरे आरे के अन्त तक कल्पवृक्षीय व्यवस्था रही; जिसे 'भोग भूमि' कहा गया। शनैः शनैः भोग भूमि की व्यवस्थाएँ समाप्त होने लगीं। उसके बाद 'कर्म भूमि' युग आरम्भ होता है। कर्म का आशय पुरुषार्थ से है। जीवन के भौतिक अभौतिक सभी क्षेत्रों में पुरुषार्थ आवश्यक है। जिसे आधुनिक सभ्यता का प्रारम्भिक युग कहा जाता है, जैन परम्परा में उसे कर्मभूमि कहा गया। पुरुषार्थ की बुनियाद पर ही सभ्यता और संस्कृति का मंगलाचरण होता है। भारतीय सभ्यता के प्रारम्भिक युग के पूर्व की मानव सभ्यता का जो विवरण जैन परम्परा में प्रस्तुत किया गया है, उसमें सच्चाई के साथ-साथ वैज्ञानिकता भी है। इस परम्परा को विकसित करने में मुख्यतया तीन आधार हैं - प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ ऋषभदेव, उनके बाद के 22 तीर्थंकर एवं 24वें तीर्थंकर भगवान महावीर और उनकी शिष्य परम्परा।

श्रमण संस्कृति और श्रम

श्रमण परम्परा का आरम्भ जिस संस्कृति से हुआ वह आर्य एवं वैदिक संस्कृति के पूर्व की थी। श्रमण परम्परा में 'समण' शब्द के तीन अर्थ हैं - सम, शम और श्रम। इसका अर्थ है मानसिक-वैचारिक सन्तुलन व परिपक्वता के साथ सबके प्रति समता और समानता का व्यवहार करते हुए श्रमपूर्वक जीवन जीना। इसकी सम्पूर्ण साधना विवेकसम्मत श्रम और पुरुषार्थ पर अवलम्बित है। पुरुषार्थ

की इस व्यवस्था को आरम्भिक तौर पर जिन्होंने सम्भाला और नेतृत्व किया उन्हें 'कुलकर' कहा गया। कुल यानि समुदाय और कुलकर यानि समुदाय का प्रमुख। कुलकरों को मानव सभ्यता का सूत्रधार माना जाता है। उन्होंने प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं के विधिपूर्वक व विवेकसम्मत उपयोग की कला सिखाई। मानव समाज को कृषि और औद्योगिक संस्था की ओर प्रवृत्त करने में कुलकरों की आरम्भिक भूमिका मानी जाती है। उन्हें ग्राम और नगर संस्कृति का जनक भी माना जाता है।^{१३}

कुलकर चौदह हुए। विमलवाहन प्रथम और नाभि अन्तिम कुलकर थे। परन्तु महापुराण और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में ऋषभ को पन्द्रहवें कुलकर की संज्ञा दी गई है। आचार्य जिनसेन के अनुसार नाभि ने आहार, भक्ष्याभक्ष्य विवेक और पात-निर्माण की कला सिखाई थी।^{१४} कर्मभूमि के अनुरूप समाज निर्माण के क्रम में कुलकरों ने अनेक नई व्यवस्थाएँ दीं। हाकार, मकार और धिक्कार जैसी न्यायसंगत दण्ड-व्यवस्थाएँ भी उस समय शुरू हो चुकी थीं।

तीर्थकर की माँ के लक्ष्मी और रत्न-राशि के स्वप्न

प्रथम तीर्थकर आदिनाथ ऋषभदेव नाभिराय के पुत्र थे। माता मरूदेवी की कुक्षी में जब ऋषभ का अवतरण हुआ, तब उनकी माता ने चौदह स्वप्न देखे। प्रत्येक तीर्थकर की माता इन उत्तम स्वप्नों का दर्शन करती है। इन स्वप्नों के अन्तर्गत एक स्वप्न होता है - लक्ष्मी। लक्ष्मी समृद्धिदायिनी तथा धन की देवी मानी जाती है। लक्ष्मी का स्वप्न कुल में धन की वृद्धि का सूचक माना जाता है।^{१५} इसके अलावा अन्य स्वप्नों में रत्न-राशि भी स्पष्टतः धन की प्रतीक है। गज और वृषभ भी सम्पत्ति के सूचक माने जाते रहे हैं। इस सम्बन्ध में एक दोहा प्रसिद्ध है - गजधन, गौधन, बाजधन और रतनधन खान। जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूलि समान। वर्तमान में दुपहिया, चौपहिया वाहन और अन्य यान्त्रिक वस्तुएँ सम्पत्ति की सूची में आ गई हैं।

स्वप्न प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अनेक बातें स्पष्ट करते हैं। तीर्थकर अहिंसा और अध्यात्म के सर्वोच्च शिखर होते हैं। वे लोक में सर्वोत्तम तथा लोक/त्रिलोक के स्वामी होते हैं।^{१६} जिस कुल में उनका जन्म होता है, वह कुल सभी श्रेष्ठताओं से सम्पन्न होता है। वह आर्थिक और भौतिक दृष्टि से भी सम्पन्न होता है। तीर्थकर के माता-पिता के तथा स्वयं तीर्थकर के जीवन में किसी अभाव का कहीं कोई वर्णन नहीं प्राप्त होता है। अन्तिम तीर्थकर महावीर तो जब माँ त्रिशला के

गर्भ में आये तो समूचे राज्य में धन-धान्य और वैभव की अभिवृद्धि होने लगी। इसीलिये उनका नाम वर्द्धमान रखा गया।^१ इसके अलावा आगम ग्रन्थों में एक और अत्यन्त महत्वपूर्ण बात कही गई है कि कैवल्य/मोक्ष प्राप्ति जैसी दुर्धर्ष/उत्कृष्ट साधना वही व्यक्ति कर सकता है जिसके शरीर का संहनन वज्रऋषभ नाराच का हो। आत्म-कल्याण के लिए शारीरिक सामर्थ्य की शर्त, कायिक बल की बात, धर्म और अर्थ के शाश्वत सम्बन्ध का स्पष्ट निदर्शन है। लोक प्रचलित सूत्र 'जे कम्मे सूर ते धम्मे सूर' यहाँ पूरी तरह लागू होता है।

जैन परम्परा में अर्थ-विचार बहुत ही गहन अर्थ लिये हुए है। वहाँ अर्थ है, अर्थ का विचार है, आचार है; परन्तु आसक्ति का सर्वत्र निषेध है। फलतः अर्थ के अधिकतम कल्याणमय उपयोग का विवेक वहाँ विद्यमान है।

सम्यक्दर्शन की प्राप्ति दान से

जैन धर्म का आरम्भ सम्यग्दर्शन से होता है। सम्यग्दर्शन जीवात्मा के लिए अनन्त निशा के बाद की स्वर्णिम भोर है। इस चिर-प्रतीक्षित सुबह के साथ ही अध्यात्म-यात्रा की शुरूआत मानी जाती है। जैन परम्परानुसार तीर्थ के संस्थापक/प्रवर्तक तीर्थंकर कहलाते हैं। आगमों में उनके पूर्व-जन्मों/भवों का उल्लेख/परिचय प्राप्त होता है। इन भवों की गणना सम्यक्-दर्शन प्राप्ति के उपरान्त की जाती है। इसमें यह बताया जाता है कि किस प्रकार जीवात्मा सामान्य परिस्थितियों में आत्मा की प्रतीति करता हुआ आत्म-विकास के सर्वोच्च शिखर पर प्रतिष्ठित हो जाता है। इस महान यात्रा के आरम्भ के साथ कितने सन्दर्भ अर्थ से जुड़े हुए हैं; यह यहाँ बताया जा रहा है।

बात प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के प्रथम भव से शुरू करते हैं। आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक मलयगिरी वृत्ति, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित तथा कल्पसूत्र की टीकाओं में ऋषभदेव के तेरह भवों का उल्लेख है। प्रथम भव में उनका जीव अपर महाविदेह क्षेत्र के क्षितिप्रतिष्ठ नगर में धन्ना सार्थवाह होता है।^१ धन्ना के पास विपुल धन वैभव था। देश-विदेश में उसका व्यावसायिक साम्राज्य फैला हुआ था। एक बार धन्ना को वसन्तपुर में व्यवसाय के लिए जाना था। सहयोग की भावना से सैकड़ों व्यक्तियों को उसने अपने साथ लिया। उधर जैनाचार्य धर्मघोष भी उनके शिष्य समुदाय के साथ धर्म प्रचारार्थ वसन्तपुर जाना चाहते थे। बीहड़ और भयानक मार्ग होने की वजह से वे विहार नहीं

कर पा रहे थे। उन्होंने धन्ना के यात्रा दल के साथ विहार की इच्छा व्यक्त की। आचार्य की इच्छा का सम्मान करते हुए धन्ना ने दल के सदस्यों को निर्देशित किया कि आचार्य और उनके शिष्यों का पूरा ध्यान रखा जायें। आचार्य ने धन्ना को श्रमणाचार और आहार सम्बन्धी नियमों से अवगत कराया। धन्ना श्रमण चर्या को ध्यान में रखते हुए मुनि-वृन्द की सेवा-भक्ति करता है।

वर्षा ऋतु की वजह से मार्ग में सबको ठहरना पड़ा। सब अपनी-अपनी व्यवस्थाओं में लग गये। इस दौरान धन्ना भूलवश आचार्य और उनके शिष्यों का ध्यान नहीं रख पाया। वर्षाकाल की समाप्ति पर एकाएक उसे आचार्य का स्मरण हुआ। उसने भूल के लिए क्षमा याचना करके आचार्य से आहार के लिए अभ्यर्थना की। उत्कृष्ट भावों के साथ धन्ना ने आचार्य और उनके शिष्यों को घृत बहराया। परमोज्ज्वल भावों के साथ विधिपूर्वक किये गये इस दान से धन्ना दुर्लभ सम्यक्त्व की प्राप्ति कर लेता है। अन्तिम तीर्थंकर महावीर के सम्यक्त्व प्राप्ति की घटना भी आहार दान से जुड़ी हुई है। ऐसी और अन्य घटनाएँ भी शास्त्रों में प्राप्त होती हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि धर्म अर्थ का हेतु है या अर्थ धर्म का?

अर्थशास्त्र के आदि संस्थापक ऋषभदेव

अर्थ की स्वीकार्यता और अस्वीकार्यता सापेक्ष है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की आयु चौरासी लाख पूर्व थी। बीस लाख पूर्व तक वे कुमारवस्था में रहे तथा तिरेसठ लाख पूर्व तक उन्होंने राज्य का संचालन किया। कुल 83 लाख पूर्व तक वे गृहस्थ/सांसारिक जीवन में रहे। जीवन का लगभग 99 प्रतिशत भाग उन्होंने समाज-निर्माण, प्रजा-पालन तथा कर्म-युग को नई व्यवस्थाएँ देने में समर्पित किया। कला, लिपि और गणित का ज्ञान सर्वप्रथम उन्होंने कराया। भरत ने बहतर कलाओं की शिक्षा प्राप्त की, बाहुबलि ने प्राणी-लक्षण सीखे। आर्थिक साधनों के रूप में मान (माण), उन्मान (तोला, मासा आदि), अवमान (गज, फुट, इंच आदि) और प्रतिमान (छटांग, सेर, मन आदि) जैसी व्यापारिक कलाएँ भी शुरू हुईं।¹⁰ ऋषभदेव आदिकालीन मानव सभ्यता के सूत्रधार थे। वे प्रथम राजा थे। उन्होंने राज-व्यवस्था की स्थापना की, नगर बसाया, मन्त्री-मण्डल बनाया और राज्य की सुरक्षा के लिए समुचित व्यवस्थाएँ कीं। वे प्रथम समाजशास्त्री थे। उन्होंने खेती-बाड़ी, पाक-विद्या, पात निर्माण विद्या आदि की शिक्षाएँ दीं तथा विवाह परम्परा के माध्यम से परिवार व्यवस्था की शुरुआत की। डॉ. जगदीश चन्द्र जैन के अनुसार प्राकृत में

अर्थशास्त्र, राजनीति, कामशास्त्र, निमित्तशास्त्र, अंगविद्या, रत्नपरीक्षा, संगीतशास्त्र, आदि पर भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये थे।¹¹

असि, मसि व कृषि

सर्वप्रथम ऋषभदेव ने संसार को असि, मसि और कृषि का बोध प्रदान किया। असि यानि राजतन्त्र, मसि यानि अर्थतन्त्र और कृषि यानि प्रजातन्त्र।¹² असि, मसि, कृषि को अर्थशास्त्र की त्रिपदी कहा जा सकता है। मानव सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, कला-शिल्प, व्यापार-वाणिज्य आदि सभी प्रकार की उन्नतियों की आधारशिलाएँ इस त्रिपदी पर रखी गईं। असि में आत्मरक्षा और सुशासन की व्यवस्था है। मसि में लिपि और लेखन-कला का बोध है। विज्ञानों के मत में ई.पू. पाँचवीं शताब्दी में लेखन का रिवाज था।¹³ राजप्रश्नीय सूत्र में पत्त, पुस्तक, पुस्तक का पुट्टा, डोरी, गांठ, मषिपात, ढक्कन, जंजीर, स्याही, लेखनी, अक्षर आदि का लेखन सामग्री के रूप में उल्लेख है।¹⁴ आगमों में अठारह लिपियों का उल्लेख भी सुव्यवस्थित लेखन प्रणाली का संकेत है। भगवती सूत्र में ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है - *णमो बंभिए लिवीए।*

विद्या, वाणिज्य और शिल्प

आचार्य जिनसेन ने भगवान ऋषभ के समय प्रचलित आजीविका के छः साधनों का उल्लेख किया है। जिनमें असि, मसि और कृषि के अलावा विद्या, वाणिज्य (व्यापार, व्यवसाय) और शिल्प (कला, हुनर, कौशल) को सम्मिलित किया गया है। उस समय के मानवों को भी 'षट्कर्मजीविनाम्' कहा गया है।¹⁵ प्राप्त साधनों और संसाधनों को अहिंसक तरीकों से कैसे बहुगुणित किया जाय, इसके लिए प्रजापति ऋषभ ने अपनी प्रजा को बीज का रहस्य बताया। उनके बीज के रहस्य में कृषितन्त्र, अर्थतन्त्र से लगाकर आत्मतन्त्र तक की साधनाओं के सार छुपे हुए हैं।

ऋषभ प्रथम भाषाविद् थे। उन्होंने उनकी ज्येष्ठ पुत्री ब्राह्मी को अक्षर दिये, अठारह लिपियों का ज्ञान कराया और सम्पूर्ण व्याकरण सिखाया। वे प्रथम गणितज्ञ थे। उन्होंने उनकी दूसरी पुत्री सुन्दरी को अंक दिये, अंक/गणित शास्त्र दिया। कला, शिल्प सब कुछ दिया। विश्व के सारे विषय अक्षरों और अंकों में समाहित है।

आगमो में अर्थशास्त्र के सन्दर्भ

जैन पौराणिक परम्परा में ऋषभ को तत्कालीन अर्थव्यवस्था का संस्थापक माना गया है। जिनसेनाचार्य के अनुसार ऋषभ ने उनके ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत

को अर्थशास्त्र और अन्य विद्याओं की शिक्षा दी थी।¹⁶ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार भरत का सेनापति सुषेण अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में निपुण था।¹⁷ प्रश्नव्याकरण से पता चलता है कि उस समय 'अथसत्थ' अर्थात् अर्थशास्त्र विषयक ग्रन्थों की रचना होती थी।¹⁸ ज्ञाताधर्मकथांग में राजा श्रेणिक के पुत्र अभय कुमार को अर्थशास्त्र का ज्ञाता बताया गया है। अभयकुमार अर्थशास्त्र के साथ-साथ व्यवसाय-नीति और न्याय-नीति में भी निष्णात थे। वे राज्य, राष्ट्र, कोष, भण्डार, सेना, वाहन, नगर, महल तथा अन्तःपुर सभी की व्यवस्था देखते थे। वे अपने समय के श्रेष्ठ प्रबन्धक थे।¹⁹ नन्दी सूत्र में बताया गया है कि विनय से उत्पन्न बुद्धि से व्यक्ति अर्थशास्त्र और अन्य लौकिक शास्त्रों में निपुण हो जाता है।²⁰ बृहत्कल्पभाष्य में बताया गया है कि जीविकोपार्जन के लिए गृहस्थ 'अथसत्थ' का अध्ययन करते थे।²¹ दशवैकालिक चूर्णि में चाणक्य के अर्थोपार्जन के नियमों का उल्लेख प्राप्त होता है।²² निशीथ चूर्णि में धनार्जन की प्रक्रिया को 'अट्टुप्पत्ति' अर्थात् अर्थप्राप्ति कहा गया है।²³

अर्थशास्त्र के रचयिता आचार्य कौटिल्य (ई. पूर्व तीसरी सदी) से पूर्व अनेक प्राचीन आचार्यों और विद्वानों ने अर्थशास्त्रों की रचना की थी। कौटिल्य (चाणक्य) अपने अर्थशास्त्र में स्पष्ट लिखते हैं कि प्राचीन आचार्यों ने जिन अर्थशास्त्रों की रचना की थी, उन सबका सार लेकर कौटिल्य ने इस अर्थशास्त्र की रचना की है।²⁴ इससे स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर के समय में अर्थशास्त्र पर एक से अधिक ग्रन्थ विद्यमान थे। अर्थशास्त्र था तो समाज, राजनीति और जीवन के लिए आवश्यक सभी विधाओं की जानकारी और सुविकसित व्यवस्थाएँ भी थीं। आगम साहित्य में वर्णित धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक जीवन से यह तथ्य सुस्पष्ट होता है। वसुदेवहिण्डी में उल्लेख है कि कौशाम्बीवासी अगड़दत्त अर्थशास्त्र का अध्ययन करने के लिए आचार्य दृढप्रहरी के पास गया था।²⁵ जैन परम्परा/प्राकृत साहित्य में आर्थिक पक्ष का जितना वर्णन है, सम्भवतः अन्य किसी साहित्य में नहीं है।²⁶ स्पष्ट है, तत्कालीन समय में अर्थ पर विशद् विमर्श हुआ था। फलस्वरूप अर्थशास्त्र जैसा एक सम्पूर्ण विषय भी उस समय था।

सन्दर्भ

1. मालवणिया, दलसुख (पं.) जैन साहित्य का बहद् इतिहास, भाग-1, प्रस्तावना, प.-30
2. जैन, प्रेम सुमन (डॉ.) 'जैन धर्म और जीवन मूल्य'
3. देवेन्द्र मुनि (आचार्य), ऋषभदेव एक परिशीलन, प. 123
4. जिनसेन (आचार्य), महापुराण 3/204
5. दिगम्बर परम्परा के अनुसार सोलह स्वप्न।
6. 'अभिसेयदाम' कल्पसूत्र - 5
7. सामायिक सूत्र में नमोत्थुणं का पाठ एवं भक्तामर स्तोत्र श्लोक 26 व 31
8. कल्पसूत्र (सूत्र 103)
9. आवश्यक हरिभद्रीया वृत्ति, आवश्यक मलयगिरी वृत्ति, त्रिषष्टि. 1/1/36
10. जैन, प्रेम सुमन (डॉ.) 'जैन धर्म और जीवन मूल्य'
11. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) प्राकृत साहित्य का इतिहास, भूमिका प.-4
12. जैन, नेमीचन्द्र (डॉ.) 'भगवान ऋषभनाथ' पष्ठ-7
13. ओझा, गौरी शंकर (डॉ.) भारतीय लिपि माला, पृ.-2
14. राजप्रश्नीय सूत्र 131, निशीथ भाष्य 12/400, हरीभद्रीय आवश्यक टीका, प.-284
15. असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं च शिल्पमेव च। कर्माणीमानि गोढा स्युः प्रजाजीवन हेतवः। - आदिपुराण 16/179, एवं 39/143
16. आदिपुराण 16/119
17. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 1/5
18. प्रश्नव्याकरण 5/4
19. ज्ञाताधर्मकथांग 1/11
20. नन्दीसूत्र, गाथा 74

21. बहत्कल्पभाष्य, भाग 1
22. दशवैकालिक चूर्णि, प.-102
23. निशीथ चूर्णि, भाग 4 गाथा 6397 (अट्टुपत्ति ववहारो)
24. पथिव्या लभे पालने च यावन्त्यर्थं शास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्तावितानि प्रायशस्तानि
संहत्येकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्। - कौटिलीय अर्थशास्त्र 1.1
25. ईस अत्थसत्थ रहचरियसिक्खा कुसले आयरिउ। वसुदेवहिण्डी-संघदासगणि,
भाग 1
26. जैन, प्रेमसुमन (डॉ.) जैन धर्म और जीवन मूल्य, अध्याय पंचदश, प.-
125

पुरुषार्थ चतुष्टय और अर्थ

चार पुरुषार्थ

मानव प्रकृति में चार तत्व हैं - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। आगम साहित्य में इन चार तत्वों के लिए कहा गया है -

1. **कामकामे** - मानव कामकामी है। काम उसकी प्रकृति का एक तत्व है। मनुष्य पर्याय में मैथुन संज्ञा (कामेच्छा) को प्रबलतम बताया गया है। काम के साथ पुरुषार्थ शब्द प्रयोग पारिवारिक व सामाजिक दायित्वों का बोध कराता है। इस दायित्व-बोध से व्यक्ति की काम-साधना निष्काम-साधना की ओर अग्रसर होती है। जीवन के उदात्त लक्ष्य उसके निकट आ जाते हैं या वह उन महान लक्ष्यों के निकट पहुँच जाता है। पुरुषार्थ की सफलता और सार्थकता उसके उत्कर्ष में है।

2. **अत्थलोलुए** - वह अर्थ का आकांक्षी है। आगम वर्णित चार संज्ञाओं (प्राणियों की मूलभूत इच्छाएँ) में एक है - परिग्रह यानि संग्रह-वृत्ति। अर्थ-पुरुषार्थ मानव की इस वृत्ति की संपूर्ति में श्रम, कौशल आदि को आवश्यक बनाता तथा उसे नीति-शास्त्र से अनुशासित करता है। अर्थ पुरुषार्थ के साथ आहार संज्ञा की तर्षसि भी जुड़ी है।

3. **धम्म सद्धा** - मनुष्य में धर्म की श्रद्धा है। चरित्त की श्रद्धा है। आस्था है। यह आस्था उसे भय से मुक्त होने में सहायक बनती है। काम और अर्थ अस्थायी रूप से भय-मुक्ति का भरोसा दिलाते हैं, जबकि धर्म चिरस्थायी और आभ्यन्तर भय-मुक्ति की साधना का नाम है।

4. **संवेग** - वह मुक्त होना चाहता है। मुक्ति अभय की शाश्वत अवस्था है।

भारतीय और जैन संस्कृति में मनुष्य जीवन की दृष्टि से इन्हें चार पुरुषार्थों के रूप में वर्णित किया गया है। प्राकृत कथाओं में इनमें से दो को ही पुरुषार्थ माना है - काम और मोक्ष। शेष दो पुरुषार्थ इनकी प्राप्ति में सहायक बताये गये हैं। धर्म पुरुषार्थ को मोक्ष और अर्थ पुरुषार्थ को काम के लिए सहायक बताया गया है।

धर्म और अर्थ

मोक्ष जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, साध्य है। धर्म उसे प्राप्त करने के लिए साधन स्वरूप है। फिर, मोक्ष स्वतन्त्र पुरुषार्थ कैसे ? वस्तुतः धर्म पुरुषार्थ का उत्तरार्द्ध मोक्ष पुरुषार्थ है। इस प्रकार मोक्ष पुरुषार्थ की साधना में अर्थ और काम गौण हो जाते हैं। चारों पुरुषार्थों में अर्थ साध्य स्वरूप तो नहीं है, परन्तु आधारभूत एवं सहायक है। धर्म पुरुषार्थ के पूर्वार्द्ध में जीवन की जो साधना की जाती है, उसमें अर्थ और काम की संयमित साधना सम्मिलित है। परन्तु अणगार-धर्म में अर्थ और काम पुरुषार्थ निषिद्ध है। आगार-धर्म की आराधना में अर्थ से जीवन की वे समस्त सुविधाएँ और सामग्री जुटाई जाती है, जिसकी आवश्यकता शेष तीनों पुरुषार्थों के लिए होती है।

काम और अर्थ

जैन परम्परा में चारों पुरुषार्थों में सन्तुलन के लिए बार-बार निर्देश किया गया है। मोक्ष पुरुषार्थ साध्य रूप हाने से तथा धर्म पुरुषार्थ सहायक रूप होने से अर्थ पुरुषार्थ कभी अनर्थ का कारण और काम पुरुषार्थ कभी अनाचार का कारण नहीं बन सका। अर्थ और काम पर यह नियन्त्रण जीवन, समाज और देश के लिए वरदान बन गया। अर्थ और काम मनुष्य को मौज-मस्ती और प्रत्यक्ष सुख प्रदान करते हैं इसलिए वह अर्थ और काम की ओर तुरन्त प्रवृत्त हो जाता है। यदि अर्थ और काम पर धार्मिक, नैतिक और सामाजिक नियन्त्रण नहीं हो तो परिवार और समाज के मूलाधार ही खिसक जाएँगे।

मोक्ष और अर्थ

पुरुषार्थ चतुष्टय में अर्थ पुरुषार्थ के आधारभूत स्थान से जीवन की सम्पूर्ण साधना में अर्थ की महत्ता सुनिश्चित होती है। अर्थ के साथ पुरुषार्थ शब्द कर्म, कौशल, कर्तव्य और श्रम की ओर संकेत है। धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ के द्वारा अर्थोपार्जन में न्याय-नीति की शर्त से साधन शुद्धि की प्रबल प्रेरणा दी गई है।

चारों पुरुषार्थों के अन्तर्सम्बन्ध

पारिवारिक और सामाजिक क्षेत्र में अर्थ प्रमुखतम और आधारभूत पुरुषार्थ है ही; धार्मिक क्षेत्र में भी अर्थ ने खासा स्थान बना लिया। जिस अर्थ को धर्म के लिए सहायक माना गया, उस अर्थ की निर्विघ्न और निर्दोष प्राप्ति के लिए धर्म को भी सहायक माना गया। लोग आज भी अर्थ प्राप्ति के लिए विशेष धर्म साधनाएँ,

तप, अनुष्ठान, मन्त्र जाप आदि किया करते हैं। धर्म का फैलाव भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दिशाओं में दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार अर्थ और धर्म अन्योन्याश्रित हो जाते हैं और काम और मोक्ष की साधना इन पर निर्भर हो जाती है। आगम ग्रन्थों के अनेक पात्र आत्म-कल्याण के लिए धर्म करते हैं और जीविका तथा परिवार के भरण-पोषण के लिए जान जोखिम में डालकर भी अर्थोपार्जन के लिए पुरुषार्थ करते हैं। देश-देशान्तर की यात्रा करते हैं। सार्थवाह व्यापार के माध्यम से लोगों में सामुदायिक भावना जगाने और संयुक्त साहस से लाभ कमाने के लिए प्रेरित करते हैं।

न्यायपूर्ण अर्थ की इसी अवधारणा को आगे बढ़ाते हुए सोमदेवसूरि कहते हैं कि अर्थ के बिना धर्म और काम संभव नहीं, इसलिए अर्थोपार्जन सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये।⁹ उनका कहना है 'जो मनुष्य काम और अर्थ की उपेक्षा करके केवल धर्म की ही सतत् उपासना करता है, वह पके हुए खेत को छोड़कर जंगल को काटता है।' सुखी और सन्तुलित जीवन के लिए मानव धार्मिकता के साथ-साथ धनोपार्जन करें और व्यय करें तथा अपने लौकिक सुख को कायम रखता हुआ लोकोत्तर सुख की साधना करें।¹⁰ चूंकि अर्थ से सारे प्रयोजन सिद्ध होते हैं इसलिये व्यक्ति को अप्राप्त धन की प्राप्ति, प्राप्त धन की रक्षा तथा रक्षित धन की वृद्धि करनी चाहिये, जिससे वह धनवान हो सके।¹¹ अर्थ होगा तो उसे दान के रूप में विसर्जित और भलाई के कार्यों में विनियोजित किया जा सकेगा।

अर्थ पुरुषार्थ की महत्ता

पउमचरियं में धन का महत्व बताते हुए कहा गया है कि जिसके पास धन है वही सुखी है, पण्डित है, यशस्वी है, महान है; धर्म भी उसके अधीन है। अहिंसा के उपदेश वाले धर्म के पालन में भी धनवान ही समर्थ हो सकता है।¹² वसुदेवहिण्डी में कहा गया है कि अर्थ से ही सारे कार्य सम्भव होते हैं। धन होने से ही लोग आदर करते हैं। अल्प धन जानकर आत्मीय भी मुँह मोड़ लेते हैं; परायों का तो कहना ही क्या?¹³ कुवलयमालाकहा में स्थाणु और मायादित्य का संवाद अर्थ पुरुषार्थ की महत्ता और अर्थ पुरुषार्थ में अनिन्दित (अहिंसक) साधनों से धनोपार्जन की प्रेरणा देता है।¹⁴ हरिभद्रसूरि कहते हैं कि अर्थरहित पुरुष को पुरुष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि न तो वह यश प्राप्त कर सकता है, और न सज्जनों की संगति और न ही वह परोपकार कर सकता है।¹⁵ जयवल्लभ कहते हैं कि धनहीन का कोई आदर नहीं करता है।¹⁶

वैषम्य-निवारण में पुरुषार्थ

डॉ. सागरमल जैन चारों पुरुषार्थों को वैषम्य निराकरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं¹² -

विषमताएँ	विषमता के निराकरण का सिद्धान्त	निराकरण का परिणाम	पुरुषार्थ चतुष्टय से सम्बन्ध
आर्थिक	अपरिग्रह	साम्यवाद (परिग्रह-परिमाण)	अर्थ-पुरुषार्थ (सम-वितरण)
सामाजिक	अहिंसा	शान्ति व अभय (अयुद्ध)	धर्म-पुरुषार्थ (नैतिकता)
वैचारिक	अनाग्रह (अनेकान्त)	वैचारिक समन्वय एवं समाधि	धर्म व मोक्ष पुरुषार्थ
मानसिक	अनासक्ति	आनन्द (वीतरागावस्था)	काम व मोक्ष पुरुषार्थ

एक अर्थ-पुरुषार्थ के डाँवाडोल होने से अन्यान्य पुरुषार्थ खतरे में पड़ जाते हैं। चारों पुरुषार्थों में अर्थ की सामर्थ्यवान सत्ता और महत्ता निर्विवाद और असन्दिग्ध है। परन्तु अर्थ का प्रभाव और अर्थ का अभाव दोनों ठीक नहीं है। अर्थ के प्रति एक सम्यक् दृष्टिकोण होना चाहिये। आगम में उसी सम्यक् दृष्टिकोण का प्रतिपादन है।

अर्थ के उपयोग की दृष्टियाँ

यह निर्विवाद है कि जैन परम्परा ने अहिंसा पर सर्वाधिक बल दिया है। सर्वोच्च आध्यात्मिक ऊँचाई के लिए सम्पूर्ण अहिंसा अनिवार्य है। जीवन की सुदीर्घ यात्रा में अहिंसा की बहुआयामी और सर्वव्यापी आवश्यकता है। परिवार, समाज, आजीविका आदि क्षेत्रों में भी अहिंसा के विचार को केन्द्र में रखा गया। अहिंसा के केन्द्र में रहने से सर्वोदय-विचार और साधन-शुद्धि जैसी बातें आगम युग में ही मूर्त रूप ले चुकी थीं। जैनाचार में धनार्जन में न्याय नीति और अहिंसा का जो विवेक प्रदान किया गया है, धन के उपयोग में भी वैसे ही गहरे विवेक का निर्देश किया गया है। कभी कभी लगता है कि धन का आदर्श उपयोग, धनार्जन से भी कठिन कार्य है। जैन परम्परा का आचार शास्त्र धन के सर्वोत्तम और विवेकसम्मत उपयोग का सख्त और सूक्ष्म निर्देश करता है।

‘द्व्व’ शब्द का अर्थ

प्राकृत साहित्य में एक शब्द आया है - ‘द्व्व’ (द्रव्य/धन)। इसका अर्थ करते हुए बताया गया कि वह द्रवित होता रहे; एक स्थान से दूसरे स्थान पर चलता रहे।¹³ प्रवाहमान नीर स्वच्छ तो होता ही है, वह देश देशान्तर को भी लाभान्वित करता है, सरसब्ज बनाता है। उसके नैसर्गिक कल-कल नाद से सम्पूर्ण प्रकृति पुलकित हो जाती है। बहती सरिता समता, गतिशीलता और परोपकार का अमर सन्देश देती है। इसी प्रकार समाज में अर्थ की प्रवाहशीलता का महत्व है। भगवान महावीर के अर्थ के संविभाग और असंग्रह के उपदेश में व्यष्टि और समष्टि का समग्र हित सन्निहित है।

अर्थोपयोग की तीन दृष्टियाँ

सामान्यतः धन की तीन गतियाँ बताई गई हैं - दान, भोग और नाश। इनमें दान और भोग धन के उपयोग की श्रेणियाँ हैं। जिस धन का उपयोग नहीं किया जाता है, उपयोगकर्ता की दृष्टि से उसकी परिणति नाश है। भगवान महावीर के प्रमुख श्रावक आनन्द ने अपनी विपुल धन-सम्पदा को बराबर चार हिस्सों में बाँट रखा था।¹⁴ :-

1. एक विभाग व्यापार, व्यवसाय, वाणिज्य और उद्योग में।
2. एक विभाग से आश्रितों का भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा तथा कौटुम्बिक दायित्व।
3. एक विभाग से अतिथि-सेवा, दान, परोपकार, परमार्थ आदि। तथा
4. एक विभाग निधि (कोष) के रूप में सुरक्षित।

इस दृष्टि से धन की चार गतियाँ फलित होती हैं - निवेश, दान, भोग और नाश।

दान

जैन ग्रन्थों में दान को श्रावक का आवश्यक कर्तव्य बताया गया है।¹⁵ केवल किसी को कुछ दे देना ही दान नहीं है, अपितु उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का विचार भी होना चाहिये। भ. महावीर कहते हैं - समनोज्ञ व्यक्ति समनोज्ञ (सुविहित) साधु को अशन, पान, खादिम, स्वादिम अर्थात् आहार और वस्त्र, पात्र, शैया प्रदान करें, परम आदर पूर्वक उसकी वैयावृत्ति करें तो वह धर्म का आदान करता है।¹⁶ इन्द्रभूति गौतम भ. महावीर से पूछते हैं - भगवन् ! जो श्रमणोपासक (सदृहस्थ) यदि तथारूप श्रमण या माहण को एषणीय आहार देता

है, तो उसे क्या लाभ होता है ? भगवान्‌ फरमाते हैं - वह एकान्त कर्म निर्जरा (धर्म प्राप्ति) करता है, किन्तु किंचित भी पाप-कर्म नहीं करता है।¹⁷ स्वामी कार्तिकेय कहते हैं कि 'जो लक्ष्मी पानी में उठने वाली तरंगों के समान चंचल है, दो-तीन दिन ठहरने वाली है, उसका सदुपयोग यही है कि दयालु होकर योग्य पात्र को दान दिया जाय। ऐसा नहीं करके जो व्यक्ति केवल लक्ष्मी का संचय करता रहता है, उसे जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट पात्रों में दान नहीं करता है; वह अपनी आत्म-वंचना करता है। उसका मनुष्य जन्म पाना वृथा है।¹⁸ सुपात्रदान की महिमा का बखान करते हुए आचार्य राजेन्द्र सुरीश्वर कहते हैं - मुनिवरों के दर्शन मात्र से दिन में किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है, तो फिर जो उन्हें दान देता है, उसे जगत में ऐसी कौनसी वस्तु है जो प्राप्त न हो। यहाँ तक सम्यक्त्व की उपलब्धि भी दान से प्राप्त होती है।¹⁹ धन, साधनों और संसाधनों के उपयोग में सुपात्रदान को उत्कृष्ट दान और उत्कृष्ट दान को सुपात्र दान बताया गया है।

सुपात्रदान को उत्तम दान बताने के पीछे मुख्य कारण यह है कि सुपात्रदान अहिंसा, संयम और तप की आराधना में प्रबल निमित्त है। धन का उपयोग इस प्रकार होना चाहिये जिससे अहिंसा का विस्तार हो और समतामूलक समाज रचना में वह निमित्त बन सकै। किसी भी प्रकार से धन के उपयोग में यह विवेक दृष्टि हो कि अहिंसा की परम्परा आगे-से-आगे बढ़ती रहे। इसीलिए तीर्थकरों ने अनुकम्पा दान का मुक्त समर्थन किया है। ठाणांग²⁰ में दस प्रकार के दानों में अनुकम्पा को प्रथम बताया गया है। अनुकम्पा मन की उस उच्चतर अवस्था का नाम है, जहाँ व्यक्ति दूसरों के दुख से अनुकम्पित हो जाए। किसी के दुख से द्रवित/अनुकम्पित होकर उसकी मदद करना मानवोचित कर्तव्य है। अनुकम्पा दान का लक्षण बताते हुए आचार्य उमास्वाति कहते हैं - अनुकम्पा दान वह है जो दयनीय, अनाथ, दरिद्र, संकटग्रस्त, रोगग्रस्त एवं शोकपीडित व्यक्ति को अनुकम्पा लाकर दिया जाता है।²¹ अनुकम्पा को व्यवहार सम्यक्त्व का एक लक्षण बताया गया है। तेबीसर्वे तीर्थकर भ. पार्श्वनाथ के शिष्य केशी श्रमण राजा प्रदेशी का हृदय परिवर्तित कर देते हैं। राजा प्रदेशी व्रत ग्रहण करता है। एक व्रत के अन्तर्गत प्रदेशी ने राज्य सम्पदा के चार भाग किये। उनमें से एक भाग राज्य के दीन, दुखी, अनाथ और जरूरतमन्द व्यक्तियों के कल्याण के लिए रखने का संकल्प किया।²² इस प्रकार परमार्थ और परोपकार में धन के उपयोग की महिमा से ग्रन्थ भरे पड़े हैं। विधि और विवेक से दिये गये दान अथवा किये गये सहयोग के अनेक आर्थिक आयाम हैं।

निवेश और व्यवसाय विस्तार

धन को व्यापार, वाणिज्य और व्यवसाय में लगाना निवेश है। इसमें बचत और लाभ तत्व भी समाविष्ट रहते हैं। अतिरिक्त धन से व्यावसायिक पूंजी में बढ़ोतरी करना, नया व्यवसाय आरम्भ करना, नव रोजगार सृजन तथा रोजगार के लिए आर्थिक सहयोग आदि निवेश के विभिन्न रूप हैं। भगवान महावीर के प्रमुख श्रावक आनन्द ने अपने धन का एक चौथाई हिस्सा चार करोड़ स्वर्ण व्यापार में लगा रखा था।

दान की चर्चा के अन्तर्गत अपने साधनों और संसाधनों के संविभाग को श्रावक का प्रमुख कर्तव्य बताया गया है। दान का तात्पर्य किसी को कुछ दे देना भर नहीं, अपितु पारस्परिकता के नियम का विवेकसम्मत अनुपालन है। आजीविका व्यक्ति के सांसारिक जीवन का धरातल है। वह धार्मिक/आध्यात्मिक जीवन के लिए भी आवश्यक है।

रोजगार के लिए योग्य व्यक्ति को आर्थिक सहयोग करना धन का श्रेष्ठ उपयोग है। इससे सामाजिकता मजबूत बनती है तथा समाज सम्पन्न होता है। इसमें देने और लेने वाले दोनों पक्ष निर्भर भी रहते हैं और उपकृत भी होते हैं। पारस्परिक निर्भरता और पारस्परिक उपकार का दृष्टिकोण “परस्परोग्रहो जीवानाम्”²³ से फलित होता है। आर्थिक-सामाजिक समता, सहअस्तित्व, शान्ति, सौहार्द और मानवता की दृष्टि से यह सूत्र अत्यन्त मूल्यवान है।

सहयोग के अलावा अपने व्यवसाय का विस्तार करना भी धन के उपयोग की एक दृष्टि है। व्यवसाय-का-विस्तार रोजगार के नये अवसर पैदा करता है। उद्यमशीलता और पूंजी की उपलब्धता सब जगह नहीं होती। व्यवसाय या बड़ा व्यवसाय करना सबके वश की बात नहीं है। ऐसे में नव-उद्यम अनेक व्यक्तियों के लिए रोजगार का आधार बन जाता है। उपासकदशांग के कोश-वर्गीकरण का नीतिवाक्यामृत में समर्थन किया गया है और बताया गया है कि धन से ही धन की वृद्धि होती है। मनुष्य को अपनी आय का चौथाई भाग पूंजी वृद्धि हेतु, चौथाई भाग व्यापार करने हेतु, चौथाई उपभोग और चौथाई आश्रितों के भरण पोषण के लिए निर्धारित करना चाहिये²⁴ इस प्रकार ग्रन्थों में जगह-जगह व्यापार-वृद्धि और विस्तार की पर्याप्त सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

सन्दर्भ

1. महाप्रज्ञ, आचार्य, महावीर का अर्थशास्त्र पल.-15 एवं देखें, 'चार पुरुषार्थ'
- मुनि चन्द्रशेखरविजय; कमल प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद
2. जैन, प्रेमसुमन (प्रो.) जैन धर्म और जीवन मूल्य, अध्याय दशम, पृ.-72
3. 'धर्मकामयोरर्थमूलत्वाम्' - नीतिवाक्यामत 2/16,17
4. वही 1/47
5. वही, 1/48
6. वही 2/1, 2/3 एवं देखें - 'नीतिवाक्यामत में राजनीति' डॉ. एम. एल शर्मा,
(भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित)
7. विमलसूरि पउमचरिउं 35/66,67
8. वसुदेवहिण्डी 1/34
9. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) जैन कथा साहित्य विविध रूपों में, पृ.-10
10. समराइच्चकहा, 4/246
11. वज्जालग, गाथा 143
12. जैन, सागरमल (डॉ.), 'जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक
अध्ययन' पृ.-503-504
13. जैन, प्रेम सुमन (प्रो.) जैन धर्म और जीवन मूल्य, अध्याय पंचदश, पृ.-
126
14. उपासकदशांग - आनन्द अधिकार एवं राजप्रश्नीय सूत्र - प्रदेशी अधिकार
15. दाणं पूजा मुखं सावय धम्मे य सावयातेण विणा कृ रयणसार
16. आचारांग प्रथम श्रुत, 8वाँ अध्ययन, 2 उद्देशक
17. भगवती सूत्र 8/6
18. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 4-5
19. अभिधान राजेन्द्र कोष गा-103

20. ठाणांग, स्थान 10, सूत्र 475
21. पुष्कर मुनि, उपाध्याय, जैन धर्म में दान एक समीक्षात्मक अध्ययन पृ.-
244
22. वही पृ.- 245
23. तत्त्वार्थ सूत्र 5/1
24. अर्थनार्थोपार्जनम्। - नीतिवाक्यामत 29/97 एवं 29/105

अर्थोपार्जन के मुख्य साधन

जैन धर्म अपनी मौलिक स्थापनाओं और मान्यताओं के लिए जाना जाता है। साधन-शुद्धि की जो बात बीसवीं सदी में महात्मा गांधी ने कही, उसके प्रेरक सूत्र हमें आगम ग्रन्थों में मिलते हैं। मानव अपनी आर्थिक समृद्धि के लिए मूलतः प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर रहता आया है। जैन और अहिंसा की दृष्टि से धनोपार्जन के साधनों में यह विशेष ध्यान रखा जाता है कि प्रकृति को कम-से-कम क्षति हो। साधन शुद्धि तो हो ही, साधनों का उपयोग भी विवेकसम्मत होना चाहिये। जिससे पर्यावरण और समाज को नुकसान नहीं पहुँचे।

अर्थोपार्जन में पर्यावरण-दृष्टि

जैन ग्रन्थों में छः लेश्याओं का वर्णन मिलता है। उनमें प्रथम तीन - कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओं को अप्रशस्त कहा गया है तथा अन्तिम तीन - पद्म, तेजो और शुक्ल लेश्याओं को प्रशस्त। लेश्याओं के क्रम को समझने के लिए एक रोचक उदाहरण दिया गया है। छः यात्री होते हैं। उन्हें भूख लगती है। भोजन की तलाश करते हुए फलों से लदा एक जामुन का पेड़ उन्हें दिखाई पड़ता है। कृष्ण लेश्या वाला फल प्राप्ति के लिए पेड़ को जड़मूल से उखाड़ने की बात करता है। नील लेश्या वाला कहता है - जड़ से उखाड़ने से क्या फायदा ? पेड़ की शाखाएँ काट लेने से ही अपना काम हो जायेगा। इस पर तीसरा कहता है - जिन डालियों पर फल लगे हैं, उन्हें काटना पर्याप्त है। उसे कापोत लेश्या वाला कहा गया। पद्म लेश्या वाला बोलता है - फलयुक्त टहनियाँ तोड़ना काफी है तो तेजो लेश्या वाले ने सिर्फ फल तोड़कर खा लेने का सुझाव दिया। इस पर शुक्ल लेश्या वाला बोलता है कि फल तोड़ने की भी कहाँ आवश्यकता है ? वृक्ष के नीचे जो फल सहज रूप से गिर गये हैं, उनसे ही हमारी भूख शान्त हो जाएगी। इस दृष्ट्यन्त में क्रूरता से करुणा की ओर याता है। साथ ही, अर्थशास्त्रीय दृष्टि से साधनों और संसाधनों को बिना नुकसान पहुँचाये या कम-से-कम नुकसान पहुँचाये अधिकतम लाभ प्राप्त करने की प्रेरणा भी है। ऐसे अनेक कथानक और दृष्ट्यन्त जैन आगम ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं, जिनमें प्रकृति, पर्यावरण, जीव-जन्तुओं, पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों की रक्षा के अमर सन्देश दिया गये हैं।

धनोपार्जन के मुख्य साधन

अर्थशास्त्र में धनोपार्जन के साधनों के अन्तर्गत भूमि, श्रम, पूंजी और प्रबन्ध को परिगणित किया गया है।¹ वृक्ष, वन, पहाड़, जल, निर्झर, खेती-बाड़ी, खनिज सब कुछ भूमि के आश्रित है। यदि यह कह दिया जाय कि अर्थोपार्जन का एकमात्र मूलभूत साधन भूमि ही है तो गलत नहीं होगा। क्यों कि श्रम, पूंजी और प्रबन्ध तो भूमि और प्रकृति में उपलब्ध चीजों को उचित प्रकार से प्राप्त करने के माध्यम हैं।

धनोपार्जन का दूसरा मुख्य साधन है - श्रम/परिश्रम/पुरुषार्थ। श्रम के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं होता। प्राप्त का समुचित उपयोग भी श्रम के बगैर सम्भव नहीं। श्रमण संस्कृति का तो आरम्भ ही 'श्रम' से होता है। पर्याप्त संसाधन और श्रम भी हो, लेकिन पूंजी के बिना आर्थिक चक्र को गतिशील नहीं रखा जा सकता है। पूंजी; भूमि, श्रम और प्रबन्ध के आर्थिकीकरण का मुख्य घटक है। प्रबन्ध के अन्तर्गत नियोजन, संगठन, समन्वय, नियंत्रण, निर्णयन, अभिप्रेरण, विपणन आदि बातों का समावेश होता है। आगम-ग्रन्थों में अर्थोपार्जन के इन सभी घटकों की पर्याप्त चर्चा प्राप्त होती है। परन्तु उनका अर्थशास्त्रीय दृष्टि से वर्गीकरण और विवेचन नहीं हैं।

भूमि

जैसा कि बताया जा चुका है, भूमि मूलभूत साधन है। यहाँ सभी प्राकृतिक संसाधनों को भूमि के अन्तर्गत समाविष्ट किया गया है। इसके अन्तर्गत मुख्यतः वन सम्पदा, खनिज सम्पदा और जल सम्पदा को लिया जाता है।² जैनागमों में षट्कायिक जीवों की रक्षा के सन्देश में इन सम्पदाओं के रक्षण व संरक्षण का भाव और संकल्प विद्यमान है।

वन सम्पदा

आगम युग का भारत विपुल जंगलों से परिपूर्ण था। वन आर्थिक जीवन का आधार तो थे ही, आत्म-साधना के लिए भी उपयुक्त माने जाते थे। व्याख्याप्रज्ञप्ति³ और प्रज्ञापना⁴ में विशाल वनखण्डों के उल्लेख मिलते हैं। औपपातिक सूत्र में वनखण्ड का वर्णन करते हुए कहा गया है कि - पूर्णभद्र चैत्य चारों ओर से विशाल वनखण्ड से घिरा हुआ था। वृक्षों की अत्यधिक सघनता के कारण वह वनखण्ड काला, काली आभा वाला, नीला, नीली आभा वाला, हरी, हरी आभा वाला दिखाई

देता था। उसकी हवा शीतल, शीतल आभामय; मिट्टी स्निग्ध, स्निग्ध आभामय तथा सुन्दर वर्ण वाली थी। वहाँ की छाया अत्यन्त गहरी होती थी। उसका दृश्य इतना रमणीय लगता था, मानो बड़े-बड़े बादलों की घटाएँ घिरी हों।^९ वनखण्ड का यह वर्णन समृद्ध पर्यावरण का प्रमाण है।

उत्तराध्ययन-चूर्णि में राजगृह के बाहर स्थित 18 योजन की अटवी का वर्णन है।^{१०} औपपातिक-सूत्र के अनुसार चम्पानगरी के वनों में तिलक, बकुल, लचुक, छत्तोप, शिरीष, सप्तपर्ण, दधिपर्ण, लौध्र, धव, चन्दन, अर्जुन, नीम, कुड़च, कदम्ब, सव्य, पनस, दाड़म, शाल, ताल, प्रियक, प्रियंगु, पुरोगम, राजवृक्ष, नन्दीवृक्ष आदि वृक्षों की सघन पंक्तियाँ थीं। ये वृक्ष पद्मलताओं, नागलताओं, अशोकलताओं, चम्पकलताओं, आम्रलताओं, पीलुकलताओं, वासन्तीलताओं, अतिमुक्तलताओं आदि अनेक प्रकार की लताओं से आवेष्टित रहते थे।^{११} हर ऋतु में वृक्ष फलों और फूलों से लदे रहते थे। ऐसी विपुल वन-सम्पदा और वनस्पति-सम्पदा से तत्कालीन समय का पर्यावरण उत्तम बना हुआ था। उस आरोग्य प्रदायिनी जलवायु में लोग स्वस्थ प्रसन्न रहते थे और आजीविका सुलभ थी। वनों में अनेक प्रकार के जीव-जन्तु और पशु-पक्षी भी होते थे। जिनमें तोता, मैना, मयूर, कोयल, बत्ख, हंस, कलहंस, सारस, तीतर, बटेर, चकोर, चंदीमुख, चक्रवाक, भृंगारक, कोण्डलवा आदि पक्षी तथा हाथी, खरगोश, हिरण, रीछ, मेष, सांभर, चीता, चमरी गाय, बकरी, सुअर आदि अनेक पशु पाये जाते थे।^{१२} जंगल लोगों की आजीविका के आधारस्तम्भ थे। अनेकानेक व्यवसाय और उद्योग-धन्धे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से वनों से जुड़े थे। आचारांग-सूत्र में बताया गया है कि लकड़ी से अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनती हैं। श्रमण को ऐसे व्यावसायिक उपयोग के बारे में नहीं बोलना चाहिये। यह निषेध श्रमणों के लिए है। इससे लकड़ी के आर्थिक महत्व का पता चलता है।^{१३} उपासकदशांग में हरे-भरे वन काटने और लकड़ी के कोयले बनाने का निषेध किया गया है।^{१४}

खनिज सम्पदा

आगम-ग्रन्थों के परायण से पता चलता है कि प्राचीन समय में खनिजों के बारे में आश्चर्यजनक जानकारी थी। आगम ग्रन्थों^{१५} में अनेक दुर्लभ मणि-रत्नों और खनिजों के उल्लेख से समाज द्वारा खनिज सम्पदा के उपयोग का पता चलता है। पृथ्वीकाय की प्ररूपणा में उत्तराध्ययन (36/73) का यह श्लोक द्रष्टव्य है

पुढवी य सक्करा बालुया य, उवले सिला य लोणूसे। अय-तम्ब-तउय-सीसग, रूप-सुवण्णे य वइरे य। आगे की गाथाओं में विभिन्न रत्न-मणियों का वर्णन है। इस प्रकार खनिजों के अन्तर्गत खारी मिट्टी, लोहा, ताम्बा, सीसा, पारा, मूंगा, चांदी, सुवर्ण, वज्र, हरिताल, मनसिल, शस्यक, अंजन, प्रवाल, अभ्रपटल, अभ्रमालुक, गोमेदक, रुचक, लोहिताक्ष, अंकरत्न, स्फटिक, लोहिताक्ष रत्न, मरकत रत्न, मसारागल्ल रत्न, भुजमोचक रत्न, वैडूर्य रत्न, चन्दन रत्न, गेरुक रत्न, हंस रत्न, पुलक रत्न, सौगंधिक रत्न, इन्द्रनील मणि, जलकान्त मणि, सूर्यकान्त मणि आदि अनेक नाम प्राप्त होते हैं। खनिज सम्पदा पर मुख्य रूप से धातु उद्योग और रत्न उद्योग निर्भर थे।

जल सम्पदा

वह समय प्रचुर प्राकृतिक संसाधनों का समय था। उनका अंधाधुंध दोहन नहीं होने से पर्यावरण उत्तम था। सघन और हरे-भरे वन थे। प्रचुर शुद्ध जल उपलब्ध था। कृषि के साथ ही जल को कृषि के लिए संगृहीत करके उपयोग करने की कला मानव ने सीख ली थी। सिंचाई के लिए पुष्करिणी, बावड़ी, कुआँ, तालाब, सरोवर आदि¹⁴ के अलावा नदियों पर बांध बनाने के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।¹⁵ महाक्षत्रप ने चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में बनवाई गई सुदर्शन झील और उस पर बने बांध का जिर्णोद्धार कराया था। इससे स्पष्ट होता है कि मौर्य काल में सिंचाई के लिए झीलों और बांधों का निर्माण होता था।¹⁶ नदियों का उपयोग कृषि के अलावा यातायात में भी होता था।¹⁷ वर्तमान में जल-सम्पदा का मत्स्याखेट के रूप में दुरुपयोग किया जाता है। विपाक-सूत्र में उसे नरक (दुःख) का कारण बताते हुए उसका स्पष्ट निषेध किया है।¹⁸

इस प्रकार उत्पादन में भूमि और भूमि से सम्बन्धित वन, खनिज, जल आदि का मुख्य स्थान था। खेती-बाड़ी करने के लिए लोग वन-भूमि और ऊसर-भूमि को कृषि योग्य भूमि में बदल देते थे।¹⁹ कृषि और आवास दोनों के लिए बहुत जमीन उपलब्ध थी।

भू-स्वामित्व

भूमि पर तीन प्रकार के स्वामित्व थे - व्यक्तिगत, सामूहिक और राजकीय। श्रावक अपने इच्छा-परिमाण व्रत के अन्तर्गत खेत-वत्थु की मर्यादा करता है। भगवान महावीर का प्रमुख श्रावक आनन्द गाथापति 500 हल भूमि का स्वामी था।²⁰ व्यक्ति की सम्पत्ति के अन्तर्गत भूमि की गणना उस समय भी होती थी। इसलिए भूमि का माप, ऋय-विक्रय, दान आदि सब होता था।²¹

• भूमि पर सामूहिक स्वामित्व के अनेक उदाहरण मिलते हैं। आचारांग²² में निर्देश है कि चरागाहों में उच्चार-प्रस्रवण का विसर्जन नहीं करें। ऐसे चरागाहों पर लोगों का सामूहिक स्वामित्व होता था। गाँव के मवेशी चरागाह में चरने जाते थे। लोग बंजर भूमि को चरागाहों में बदलने में निपुण थे। इससे ग्राम स्तर या स्थानीय स्तर पर भूमि का रख-रखाव और स्वामित्व सिद्ध होता है। जिसकी तुलना वर्तमान में पंचायती राज या ग्राम-स्वराज से की जा सकती है।

व्यक्तिगत और सामूहिक स्वामित्व के अलावा समस्त भूभाग और वन-प्रान्त पर राज्य का स्वामित्व होता है। भूमिस्थ निधि और खनिज पर भी राज्य का अधिकार होता है।²³ भूमि को आर्थिक दृष्टि से उपयोगी बनाने के लिए राज्य की ओर से प्रयास किये जाते थे। राज्य की ओर से भूमिहीन कृषकों को भूमि प्रदान की जाती थी, जिस पर हुई उपज का निर्धारित भाग राजकोष में भी जमा कराना होता था।²⁴ ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार नन्दन मणिकार ने राजा श्रेणिक को धन भेंट करके पुष्करिणी बनाने की आज्ञा प्राप्त की थी।²⁵ स्पष्ट है कि भूमि धनोपार्जन और उत्पादन का मुख्य आधार थी तथा प्राचीन समय से ही भूमि और प्राकृतिक संसाधनों का आर्थिक महत्व समझा जाने लगा था।

श्रम (मानव संसाधन)

जैसा कि कहा जा चुका है कि श्रमण संस्कृति श्रम पर ही अवलम्बित है। वह श्रम जिस प्रकार अध्यात्म-क्षेत्र में अभीष्ट है, उसी प्रकार भौतिक क्षेत्र में भी। भौतिक क्षेत्र में भी शारीरिक और बौद्धिक दोनों ही प्रकार के श्रम सम्मिलित हैं। अर्थशास्त्र में उसी क्रिया को श्रम माना गया है जो आर्थिक उद्देश्य से की गई हो तथा जिससे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अर्थोपार्जन हो।²⁶ अर्थशास्त्र में श्रम का महत्व इतना बढ़ा कि मनुष्य को 'संसाधन' कहा जाने लगा। प्राचीन काल से ही मानव श्रम का मुख्य हेतु माना जाता रहा है। नौकरों-अनुचरों और दास-दासियों को गृहस्थ की सम्पत्ति में परिगणित करना इसका प्रमाण है।²⁷ भगवान महावीर ने प्रथम अहिंसा और पाँचवें अपरिग्रह अणुव्रत में मानव तथा मानव-श्रम को मानवीय गरिमा प्रदान करने और उसका समुचित मूल्यांकन करने के स्पष्ट संकेत किये हैं।²⁸ उनका यह मूल्यांकन मानव को संसाधन नहीं मानकर उसे मानवीय गरिमा प्रदान करता है। दूसरा मानवीय श्रम एक सर्जनात्मक और आत्म-सन्तुष्टि का उपादान है। उसे निर्जीव वस्तुओं की तरह बिकाऊ बनाने की बजाय, उसका उदात्तीकरण किया

जाना चाहिये। मन्दिर-निर्माण के दौरान काम करते एक मजदूर से पूछा गया कि वह क्या कर रहा है ? उत्तर मिला कि वह पत्थर तोड़ रहा है। इसी प्रश्न के उत्तर में दूसरे ने कहा कि वह अपने व अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए काम कर रहा है। तीसरे का उत्तर था कि वह भगवान का घर बना रहा है। कार्य के साथ कार्य की भावना और लगन उसके महत्व को बहुगुणित कर देती है।

श्रम और दास-प्रथा

उस समय विविध प्रकार की सेवाएँ करने वाले व्यक्ति राजा और अन्य सम्पन्न घरानों में नौकरी किया करते थे। यह परम्परा आज भी विद्यमान है। जैन सिद्धान्तों और संस्कृति का यह सुप्रभाव रहा कि नौकरों और दास-दासियों पर होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध माहौल बना। वर्द्धमान के जन्म की सिद्धान्त को सूचना देने वाली दासी प्रियंवदा को सिद्धान्त ने दास-कर्म से मुक्त कर दिया था।¹⁹ भ. महावीर के प्रमुख भक्त मगध सम्राट् श्रेणिक ने भी उनके पुत्र जन्म का संवाद देने वाली दासी को दासत्व से मुक्त कर दिया था।²⁰ व्यवहार भाष्य के अनुसार एक कुटुम्बी ने उसकी दासी की सेवाओं से प्रसन्न होकर उसका मस्तक धोकर उसे दासता से मुक्त कर दिया था।²¹ एक कुटुम्बी उसके घर में दास को पीट रहा था। कुमारावस्था में वर्द्धमान उस घर के बाहर से जा रहे थे। मानव द्वारा मानव पर हुए इस अत्याचार से वर्द्धमान का दिल दहल उठा। उनका वैराग्य प्रबलतम हो गया।²² उन्होंने समाज से इन अत्याचारों को मिटाने का संकल्प किया। चन्दनबाल्य का उद्धार दास-प्रथा और नारी जाति के साथ हो रहे भेदभाव के विरुद्ध उनकी आध्यात्मिक क्रान्ति का बड़ा उदाहरण है। भ. महावीर के उपदेशों में ये स्वर आज भी गूँजते हैं कि मानव मानव पर कोई अत्याचार नहीं करें, मानव किसी प्राणी पर भी कोई अत्याचार नहीं करें।

जैन धर्म और दर्शन आत्मवाद पर खड़ा है। वहाँ मानववाद, मानवता और मानवीयता के नियमों का अनुपालन सहज ही उत्कृष्ट रूप में हुआ है। पूर्व तेबीस तीर्थंकरों की भाँति अन्तिम तीर्थंकर महावीर ने भी मानव-एकता की अलख जगाई। उनके चतुर्विध संघ में सभी वर्णों, वर्गों और जातियों के व्यक्तियों को आत्म-साधना के लिए समान अवसर प्राप्त है।

उस समय आज की भाँति उद्योग नहीं थे। इसलिए कोई औद्योगिक श्रम कानून और श्रमिक संगठन जैसी बात भी नहीं थी। परन्तु, भगवान महावीर के प्रभाव से लोग मानवाधिकार और मानवीय मूल्यों का सम्मान करने लगे थे।

वस्तुतः भ. महावीर तो प्राणिमात्र के अधिकारों की रक्षा के मौलिक उपदेशक थे। इस प्रकार भ. महावीर को हम दास-प्रथा मुक्ति के सूत्रधार और मानवाधिकारों की रक्षा के प्रथम प्रवक्ता के रूप में पाते हैं। उनके “जियो और जीने दो” के उद्घोष का समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और पर्यावरण की दृष्टि से अत्यधिक महत्व है।

श्रम विभाजन

मशीनीकरण और औद्योगिकीकरण नहीं होने से प्रचीन समय में अर्थ-व्यवस्था मुख्यतः मानव-श्रम पर अवलम्बित थी। खेती-बाड़ी और कुटीर उद्योग शारीरिक श्रम पर आधारित थे।³³ धर्मसेनगणि कहते हैं कि अकुशल श्रमिक दिनभर मेहनत करके भी बहुत अल्प अर्जित कर पाता है जबकि कुशल श्रमिक अपने कौशल से कम परिश्रम में ही अधिक अर्जित कर लेता है।³⁴ स्पष्ट है कि उस समय कुशल-अकुशल, शारीरिक-बौद्धिक आदि दृष्टियों से श्रम विभाजन होता था। जैन परम्परा में श्रम का यह वर्गीकरण कार्य और योग्यता पर आधारित था³⁵; न कि जाति और जन्म के आधार पर। जबकि वैदिक परम्परा में जन्म व जाति के आधार पर श्रम-व्यवस्था रूढ़ हो गई थी।³⁶

किसी भी कार्य को निरन्तर और बार-बार करने से व्यक्ति उसमें निष्णात हो जाता है। नन्दीसूत्र में एक दक्ष स्वर्णकार का वर्णन आता है, जो अंधेरे में स्पर्श मात्र से सोने और चाँदी का भेद कर लेता था।³⁷ अनेक स्थानों और नगरों का नामकरण काम-धन्धों और व्यवसायों के आधार पर रखा जाता था। वाणिज्यग्राम, कुम्हारग्राम, क्षत्रियग्राम, ब्राह्मणग्राम, निषादग्राम आदि नाम³⁸ अपने आप में श्रमाधारित व्यवस्था का संकेत करते हैं।

असल में रुचि और योग्यता के आधार पर श्रम का वर्गीकरण स्वतः हो जाता है। जब जन्म, जाति और जातीय आरक्षण जैसे आग्रह बढ़ जाते हैं तो अर्थ व्यवस्था और विकास पर विपरीत असर होता है। योग्यता और गुणवत्ता की उपेक्षा उचित नहीं है। उस समय धनोपार्जन के प्रचुर साधन थे। मेहनत करके व्यक्ति आसानी से अपना और कुटुम्ब का भरण पोषण कर सकता था। बेरोजगारी विशेष नहीं थी। कुशल, बुद्धिमान और उद्यमशील व्यक्ति अपने व्यावसायिक साम्राज्य को विस्तार देकर आर्थिक गतिविधियों में विशेष योगदान करते थे।

पूँजी

पूँजी को धनार्जन का प्रत्यक्ष साधन नहीं माना जाता है, परन्तु उसके बगैर धनार्जन की प्रक्रिया थम जाती है, इसलिए वह प्रमुख साधन के रूप में गिनी जाती है। पूँजी नहीं होने से व्यवसाय-निपुण परिश्रमी व्यक्ति भी धनार्जन में पिछड़ जाता है। व्यवसाय में पूँजी वह घटक है जिससे व्यवसाय की सम्पत्तियों में वृद्धि हो।

भ. महावीर के दस श्रावकों की पूँजी

व्यवसाय में पूँजी का नियोजन, पूँजी की वृद्धि आदि के प्रेरक सन्दर्भ आगम ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। भगवान श्री महावीर के प्रमुख दस श्रावकों के पास प्रभूत सम्पत्ति थी। उसका विवरण³⁹ यहाँ इस प्रकार है -

क्रम	श्रावक	पशु धन	सुवर्ण
1.	आनन्द	40 हजार गौएँ	12 करोड़
2.	कामदेव	60 हजार गौएँ	18 करोड़
3.	चुलनीपिता	80 हजार गौएँ	24 करोड़
4.	सुरादेव	60 हजार गौएँ	18 करोड़
5.	चुल्लशतक	60 हजार गौएँ	18 करोड़
6.	कुण्डकौलिक	60 हजार गौएँ	18 करोड़
7.	सद्दालपुत्र	10 हजार गौएँ	03 करोड़
8.	महाशतक	80 हजार गौएँ	24 करोड़
9.	नन्दिनीपिता	40 हजार गौएँ	12 करोड़
10.	सालिहीपिया	40 हजार गौएँ	12 करोड़

गौ के अन्तर्गत आर्थिक दृष्टि से उपयोगी सभी प्रकार के पशु (मवेशी) आ जाते हैं। महाशतक को छोड़ सभी श्रावकों ने निधि, व्यापार और घर - इन तीनों में बराबर-बराबर (1/3) सुवर्ण नियोजित कर रखा था। आनन्द के पास 500 शतक यात्रा के लिए और 500 माल ढोने के लिए थे। चार यात्री और मालवाहक जलयान थे तथा 500 हल प्रमाण भूमि थी।⁴⁰

आगम ग्रन्थों में धन-धान्य हिरण्य-सुवर्ण, द्विपद-चतुष्पद, खेत, कुप्य आदि को व्यक्ति की सम्पत्ति में परिगणित किया गया है।⁴¹ कौटिलीय अर्थशास्त्र⁴²

में भी इसी प्रकार से मानव की चल-अचल सम्पत्तियों का उल्लेख है, जिनसे पूंजी-निर्माण होता है और जो पूंजी की घटक है।

पूंजी और हैसियत

पूंजी की मात्रा के अनुसार लोगों की हैसियतें आंकी जाती थी। जिसके पास हस्ति-प्रमाण मणि, मुक्ता, प्रवाल, सुवर्ण, रजत आदि द्रव्य हो, उसे 'जघन्य इभ्य', जिसके पास हस्ति-प्रमाण वज्र, हीरे, मणि-माणिक्य हो, उसे 'मध्यम इभ्य' और जिसके पास हस्ति-प्रमाण केवल वज्र हीरों की राशि हो उसे 'उत्कृष्ट इभ्य' कहा जाता था।¹³ आचारांग में कहा गया है कि व्यक्ति अपने भविष्य की सुरक्षा, सन्तान के पालन-पोषण तथा सामाजिक दायित्व के भली-भाँति निर्वहन के लिए संचय करता है। मानव व्यवसाय के माध्यम से इतना धन उपार्जित कर लेता था कि समस्त खर्चों के बाद भी पर्याप्त धन बचा लेता था, जिसे आज की भाषा में शुद्ध लाभ कह सकते हैं। यह लाभ प्रत्यक्ष तौर पर पूंजी वृद्धि का हेतु है।¹⁴

व्यक्ति आरंभ से ही पूंजी-वृद्धि के लिए यत्नशील रहा है। इसी वजह से व्यापार और व्यवसाय की वृद्धि और समृद्धि के लिए नित नये तरीके आज दिन तक अपनाये जाते हैं। सोमदेवसूरि मनुष्य को कोष बढ़ाने का सुझाव देते हैं और पूंजी वृद्धि के तीन माध्यम बताते हैं - कृषि तथा व्यापार द्वारा, बचत द्वारा और पैतृक सम्पत्ति द्वारा।¹⁵ इनमें मुख्य माध्यम व्यवसाय की अभिवृद्धि है।

आगम ग्रन्थों में पूंजी की महत्ता को पूरी तरह समझाया गया है। पूंजी की गणना और उसके आकलन की समुचित लेखांकन प्रणालियाँ भी विद्यमान थीं। परन्तु पूंजीवाद जैसी कोई बात नहीं थी। महावीर-युग में पूंजीवाद, समाजवाद आदि वादों-विवादों से मुक्त एक स्वतन्त्र मानवीय अर्थव्यवस्था थी। अर्थोपार्जन और विसर्जन में नीति, अहिंसा और अपरिग्रह जैसे नियमों का विवेकसम्मत ढंग से परिपालन करने वाले व्यक्ति समाज को बेहतरीन व्यवस्था प्रदान कर रहे थे। भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर के अनुयायी उनमें अग्रणी थे।

प्रबन्ध

आधुनिक अर्थशास्त्र के अनुसार प्रबन्ध धनोपार्जन का एक ऐसा साधन है जो पूर्व तीनों - भूमि, श्रम और पूंजी में समन्वय स्थापित कर वाणिज्यिक गतिविधियों को सुगम और अधिकाधिक लाभप्रद बनाता है। सुविचारित, सुव्यवस्थित, सुनियोजित और दूरदर्शितापूर्ण वाणिज्यिक कौशल ही प्रबन्ध है।

आगम-युग में प्रबन्ध के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। अनेकान्त-सिद्धान्त और कषाय-उपशमन प्रबन्ध के प्राण-तत्त्व हैं। इस भूमिका पर भगवान महावीर के अनुयायियों का प्रबन्धकीय कौशल आगम-युग से आज तक विशिष्ट रहा है। प्रबन्ध आज वाणिज्य अध्ययन का एक प्रमुख उपादान बन गया है।

वाणिज्यिक कौशल

अर्जन के लिए वाणिज्यिक कौशल का इतना महत्व रहा कि धर्म के सिद्धान्तों की व्यख्या करने और धर्माचरण करने में अनेक स्थलों पर व्यावसायिक चातुर्य के उदाहरण और दृष्टान्त मिलते हैं। जिस प्रकार व्यक्ति अपने व्यवसाय के प्रति सजग रहता है उसी प्रकार उसे आत्म-साधना में भी सजग रहना चाहिये। अर्थिक और गैर-आर्थिक सभी दृष्टिकोणों से प्रबन्ध के विषय में पर्याप्त सामग्री आगम-ग्रन्थों में मिलती है।

संघीय व्यवस्था का निदर्शन

जैन परम्परा में विद्यमान संघीय व्यवस्था प्रबन्ध का एक उत्तम उदाहरण है। वहाँ संगठन, प्रशासन, अनुशासन और सहयोग को महत्व दिया गया है। आत्म-साधना को सामूहिक और संघीय व्यवस्थाएँ प्रदान की गई हैं। आचार्य संघीय व्यवस्था का अनुशास्ता होता है। उसे संघ-संचालक और धर्म-नेता (नेतृत्वकर्ता) की संज्ञा दी गई है।¹⁶ दशाश्रुतस्कन्ध¹⁷ में आचार्य की आठ सम्पदाएँ बताई गई हैं - आचार, श्रुत, शरीर, वचन, वाचना, मति, प्रयोगमति और संग्रहपरिज्ञा सम्पदा। एक श्रेष्ठ प्रबन्धक के लिए भी ऐसी ही अर्हताओं की आवश्यकता होती है। उसके लिए सदाचरण के प्रति दृढ़ता, विषय-विशेषज्ञता, प्रज्ञाशीलता तथा मानव मन का पारखी होना आवश्यक है। संघ के कुशल संचालन के लिए आचार्य के शिष्यों के प्रति और शिष्यों के आचार्य के प्रति कर्तव्यों का निरूपण किया गया है। यह निरूपण बहुत वैज्ञानिक और आत्मानुशासन पैदा करने वाला है। छेद-सूत्रों में कहा गया है कि संघ से जुड़ा साधक अपने लक्ष्य के प्रति अप्रमत्त रहे, संघ के प्रति निष्ठावान और सदुणों के प्रति विनयवान रहे। वह कोई ऐसा कार्य, वचन-प्रयोग या व्यवहार नहीं करें जिससे संगठन में कलह या विग्रह पैदा हो।

व्यावहारिक प्रबन्ध के लिए छेद-सूत्रों की व्यवस्था उचित राह सुझाती है। तीर्थंकर महावीर के अनुयायी अपने व्यावसायिक विस्तार और लाभ के लिए उच्च स्तरीय प्रबन्धकीय कौशल का परिचय देते थे तथा अनेक व्यक्तियों को उसमें निष्णात बनाते थे।

आनन्द आदि श्रावकों का प्रबन्ध-कौशल

उपासकदशांग के अनुसार गाथापति आनन्द सेवा और साधना के लिए पर्याप्त समय और संसाधनों का नियोजन करता था। उपासकदशांग⁴⁸ और अन्य आगमों के अन्य श्रावक भी वैसा करते थे। क्योंकि अर्थव्यवस्था ही नहीं, पूरी जीवन की व्यवस्था प्रबन्ध से सुचारु रूप से संचालित हो पाती थी। उन श्रावकों का लम्बा-चौड़ा कृषि, पशुपालन, लेन-देन, व्यापार, उद्योग आदि का काम-काज भी चलता था। बिना प्रबन्धकीय कौशल के अर्जन और विसर्जन का यह संयोग सम्भव नहीं था। हजारों कर्मचारी आनन्द आदि की व्यावसायिक गतिविधियों से जुड़े थे। सब अपने-अपने कार्यों में दक्ष थे। सकडालपुत्र के भाण्ड उद्योग में भी वैसा ही अच्छा प्रबन्ध रहा होगा। आज की तरह उस समय प्रबन्ध की विधा सुविकसित हुई हो या नहीं, परन्तु प्रबन्ध के गुर और गुण उस समय का व्यक्ति समझता था और तदनु रूप आचरण भी करता था। जिसे हम उद्यमिता (इण्टरप्रेनरशिप) कहते हैं, वह उस समय ज्यादा देखने को मिलती है। आचारांग के अनुसार व्यवसायी लाभ के लिए कठिन से कठिन काम में तत्पर हो जाते थे।⁴⁹ उस समय मशीन, तकनीक, आधारभूत सुविधाएँ (इन्फ्रास्ट्रक्चर) आदि आज की भाँति नहीं होने के बावजूद बड़े-बड़े व्यावसायिक औद्योगिक उपक्रम, व्यापारिक गतिविधियाँ आयात-निर्यात आदि बिना उचित व उच्च प्रबन्ध के सम्भव नहीं थे। व्यापारी विपणन में कुशल थे। वे बाजार की तलाश करते और उसे विकसित करते थे।⁵⁰ व्यापारियों की कथाओं में साहस और प्रबन्धकीय कौशल के रोमांचक उदाहरण मिलते हैं।

कार्यों में समन्वय

जैसा कि बताया गया है कि प्रबन्ध के बिना अर्थव्यवस्था का संचालन संभव नहीं है। भूमि, श्रम, पूंजी और सारे संसाधनों का सर्वोत्तम उपयोग और सभी में पूर्ण सामंजस्य प्रबन्ध का कार्य है। प्रबन्ध की इसी महत्ता के कारण उसे धनोपार्जन का एक स्तम्भ माना गया है। वर्तमान की तरह निजी और लोक, सीमित और असीमित दायित्व वाली कम्पनियाँ उस समय रही होगी, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु यह उल्लेख मिलता है कि व्यक्ति संयुक्त रूप से व्यापार करने का अनुबन्ध करते, उसमें पूंजी निर्माण के लिए सभी अपना-अपना अंशदान करते तथा उसी रूप में लाभ वितरण किया जाता।⁵¹ व्यवसाय का यह तरीका भागीदारी से बिल्कुल भिन्न है। इसकी तुलना वर्तमान के संयुक्त साहस निगम से की जा सकती है।

धनोपार्जन के साधनों का यह वर्गीकरण आधुनिक अर्थशास्त्र के अनुसार है। जबकि विवरण आगम ग्रन्थों के अनुसार है। इसमें भूमि का सम्बन्ध पर्यावरण और पारिस्थितिकी सन्तुलन से, श्रम का शोषण-मुक्ति से, पूंजी का समान वितरण से और प्रबन्ध का निष्पक्षता और श्रेष्ठ के मूल्यांकन से है। हर प्रकार की वाणिज्यिक गतिविधि में प्रत्येक साधन किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। वर्तमान में साधनों के विवेकसम्मत उपयोग की अत्यन्त आवश्यकता है।

सन्दर्भ

1. पच्चीस बोल का थोकड़ा। 17वाँ बोल।
2. मार्शल, एल्फर्ड, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, खण्ड चतुर्थ
3. जैन, कमल (डॉ.) प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन एक अध्ययन, पृ.-13
4. भगवती सूत्र 1/1/33
5. पन्नवणा 1/40
6. औपपातिक सूत्र 3
7. उत्तराध्ययन चूर्णि 8/258
8. औपपातिक सूत्र 6 एवं देखें सूत्र 7 व 8
9. प्रश्नव्याकरण 1/9
10. वही 1/6, विपाक सूत्र 4/6
11. आचारांग 2/4/202
12. उपासकदशांग 1/51 (पन्द्रह कर्मादान के अन्तर्गत हरे-भरे वक्षों को काटने का स्पष्ट निषेध है)
13. प्रज्ञापना 1/24, जीवाजीवाभिगम 3/2/21, उत्तराध्ययन 36/73-76, सूत्रकृतांग
14. प्रश्नव्याकरण 1/14, 1/3
15. पउमचरिउं 10/36
16. रुद्रराम का जूनागढ़ अभिलेख
17. जैन, कमल (डॉ.) प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन, पृ.-15
18. विपाक सूत्र 8/3
19. प्रश्नव्याकरण 2/13
20. उपासकदशांग, प्रथम अध्ययन

21. जैन, कमल (डॉ.) प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन एक अध्ययन, पृ.-18
22. आचारांग 2/10/310
23. कौटिलीय अर्थशास्त्र 2/1/19 एवं 4/1/46
24. वसुदेवहिण्डी भाग 1
25. ज्ञाताधर्मकथांग 13/15
26. टण्डन, वीरेन्द्र, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, पृ.-168
27. प्रश्नव्याकरण 10/3, बहत्कल्प भाष्य 3/2203
28. देखें, आवश्यक सूत्र में प्रथम और चतुर्थ व्रतों के अतिचार।
29. महाप्रज्ञ; आचार्य, श्रमण महावीर, प्रथम अध्याय, प.-4
30. ज्ञाताधर्मकथांग 1/59
31. व्यवहार भाष्य 6/208
32. महाप्रज्ञ, आचार्य, 'श्रमण महावीर' में वर्धमान के वैराग्य का निमित्त। पष्ठ-16
33. निशीथ चूर्ण 9/3
34. वसुदेवहिण्डी 2/264
35. कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ। वइस्से कम्मुणा होइ, सुदो हवइ कम्मुणा। - उत्तराध्ययन 25/33, पउमचरिउं 2/103, 115, 117
36. कौटिलीय अर्थशास्त्र 1/3/1, मनुस्मृति 1/89-90
37. नन्दी सूत्र 53
38. उपासकदशांग 1/4, विपाक सूत्र 8/6, व्यख्याप्रज्ञप्ति 9/33/1
39. आत्मारामजी, आचार्य सम्पादित उपासकदशांग प. 366-367
40. उपासकदशांग 1/2-28
41. प्रश्नव्याकरण 10/3, उत्तराध्ययन 3/17

42. कौटिलीय अर्थशास्त्र 1/4/1
43. अन्तकृतदशा 1/5
44. आचारांग 1/2/3/81 व 1/2/4/84
45. नीतिवाक्यमत 1/31, 29/105
46. मुनि चौधमलजी, जैन दिवाकर, नवकार मंत्र की आरती का तीसरा पद -
'णमो आयरियाणं छत्तीस गुण पालक, जैन धर्म के नेता संघ के संचालक।'
47. दशाश्रुतस्कन्ध, चतुर्थ उद्देशक (प्रथम, ततीय व अन्य उद्देशक भी द्रष्टव्य)
48. उपासकदशांग 1/28, 7/6
49. आचारांग 1/2/1/67 (अकडं करिस्सामिति)
50. निशीथ चूर्णि 3/2691, 4362
51. जैन, कमल (डॉ.) प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन एक अध्ययन,
पृ.-33

परिच्छेद चार

मुद्रा और विनिमय

समाज में हर व्यक्ति हर कार्य नहीं कर सकता है। सबमें सब योग्यताएँ नहीं होती हैं। बहुत योग्यताएँ रखने वाला भी सारे कार्य अकेला नहीं कर सकता है। हर जगह हर चीज उपलब्ध भी नहीं होती है। यहीं पर समाज का जन्म होता है और समाज की इन व्यवस्थाओं को नियमित और नियन्त्रित करने में अर्थशास्त्र का जन्म होता है।

पारस्परिक निर्भरता का सिद्धान्त

आर्थिक और गैर-आर्थिक सारा व्यापार-व्यवहार 'पारस्परिक निर्भरता के सिद्धान्त' पर चलता है। आचार्य उमास्वाति ने 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सूत्र किसी भी सन्दर्भ में दिया हो, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र में पारस्परिक निर्भरता का यह सिद्धान्त बहुत ही मूल्यवान और अर्थपूर्ण है। योगी को भी सहयोगी की आवश्यकता होती है। वन में जाकर साधना करने वाला भी निरपेक्ष रूप से स्व-निर्भर नहीं हो सकता है।

पारस्परिक निर्भरता का सिद्धान्त विकास और समृद्धि का मूल है और इसे निष्ठा व ईमानदारी से निभाया जाय तो यह सुव्यवस्था और शान्ति का हेतु भी है। इस सिद्धान्त का आरम्भ आर्थिक जगत् में वस्तुओं की अदला-बदली के रूप में हुआ, जिसे वस्तु-विनिमय कहा जाता है। वस्तु-विनिमय विनिमय की आरम्भिक प्रणाली थी, जो आगम युग में भी विद्यमान थी। परन्तु, इसके साथ ही आगम युग में मुद्रा का प्रचलन भी विद्यमान था।

मुद्रा का आविष्कार

जैसे विज्ञान के विकास में चक्र का आविष्कार महत्वपूर्ण बताया गया उसी प्रकार वाणिज्य के विकास में मुद्रा ने अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। मुद्रा ने वस्तु विनिमय की सारी बाधाओं और सीमाओं को दूर कर दिया। जैसा कि बताया गया कि विभिन्न रूपों में मुद्रा का प्रचलन आगम युग में था। ईस्वी पूर्व छठवीं शताब्दी में यानि भगवान महावीर के समय में पंचमार्क सिक्कों प्रचलन माना जाता है।¹ ए. कनिंघम ने ईस्वी पूर्व 1000 लगभग में भगवान पार्श्वनाथ के समय में पंचमार्क सिक्कों के होने की बात कही है।² ये सिक्के

ढालकर बनाये जाते थे। मानव सभ्यता, संस्कृति और वाणिज्य के विकास में यह तथ्य बहुत महत्वपूर्ण है। सिक्के कूट-काट कर भी बनाये जाते थे। राज्य के अलावा राज्य की अनुमति से विभिन्न श्रेणियाँ और निगम इन सिक्कों को जारी करते थे।^१

मुद्रा

सूक्ततांग और उत्तराध्ययन सूक्त के अनुसार मास, अर्धमास और रुवग ऋय-विक्रय के साधन थे।^१ उपासकदशांग और ज्ञाताधर्मकथांग में हिरण्य और सुवर्ण शब्दों का एक साथ प्रयोग हुआ है, जबकि निशीथ सूक्त में सुवर्ण शब्द स्वतन्त्र रूप से आया है।^१ नासिक गुहा-लेख (सन् 120) के अनुसार एक सुवर्ण 35 रजत-कार्षापण के बराबर होता था। वसुदेव उपाध्याय ने हिरण्य को स्वर्ण-पिण्ड कहा जबकि चिह्नित स्वर्ण-सिक्कों को सुवर्ण कहा है। छोटे सिक्कों को सुवर्णमासय (सुवर्णमाषक) कहा जाता था।^१ डॉ. भण्डारकर ने सुवर्णमासक का वजन एक मासा बताया है।^१ एक ही प्रकार की मुद्रा का विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न नाम तथा भिन्न मूल्य होता था। ऐसा मुद्रा की ऋय-शक्ति और क्षेत्र-विशेष की भाषा के कारण होता था। इससे सम्बन्धित राज्य की आर्थिक हैसियत का आकलन भी होता था।

स्वर्ण-सिक्के व दीनार

स्वर्ण-सिक्कों को सुवर्ण कहा गया है, जो 32 रत्ती के होते थे। कल्पसूक्त के अनुसार भगवान महावीर की माता को चौदह स्वप्न आते हैं। उनमें एक है - लक्ष्मी। लक्ष्मी के वर्णन में बताया गया - लक्ष्मी के वक्षस्थल पर स्वर्ण मुद्राओं का हार शोभित हो रहा था। यहाँ स्वर्ण मुद्रा के लिए 'दीणार' शब्द प्रयुक्त है।^१ ईस्वी सन् की पहली शताब्दी में कुशानकाल में रोम के डिनेरियस नामक सिक्के से दीनार शब्द को लिया माना जाता है।^१ साथ ही कल्पसूक्त का रचनाकाल भी प्रथम सदी माना जाता है। प्रश्न है कि दीनार रोम से भारत आया या भारत से रोम गया? निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि मयूरानक राजा ने अपने नाम से चिह्नित दीनार चलाये थे।^{१०} उत्तराध्ययनचूर्णि में एक व्यापारी गणिका को 800 दीनार देता है।^{११} आवश्यकचूर्णि में राजा कर्पाटिक को एक युगलवस्त्र और दीनार भेंट स्वरूप देता है।^{१२} दशवैकालिकचूर्णि में भी दीनार का उल्लेख है।^{१३} चूर्णिसाहित्य में दीनारों के माध्यम से लेन-देन के उल्लेखों से पता चलता है कि उस समय की स्वर्ण-मुहरों में दीनार मुख्य था।

रजत-सिक्के

ऊपर बताया जा चुका है कि सूतकृतांग में रुवग का उल्लेख चाँदी के सिक्कों के लिए माना जाता है। रुवग के लिए रुप्य शब्द भी मिलता है। राजस्थानी में 'रूपा' शब्द चाँदी के पर्याय के रूप में हुआ है। वर्तमान में हिन्दी व अंग्रेजी में मुद्रा के लिए प्रचलित शब्द 'रुपया' (Rupee) का उद्गम रुवग से हुआ लगता है। मूल्य की दृष्टि से सोने के बाद चाँदी ही ऐसी धातु है जिसका मुद्रा ढालने में बहुत उपयोग हुआ। प्रचलन की दृष्टि से रजत-सिक्के स्वर्ण-सिक्कों से ज्यादा क्षेत्र में और दीर्घ अवधि तक चलन में रहे। इसकी वजह स्वर्ण की तुलना में चाँदी की कम कीमत और अधिक सुलभता है। खुदाइयों में भी प्रचीन काल के प्रचुर रजत-सिक्के मिले हैं। रुवग के अलावा चाँदी के सिक्कों में कार्षापण, अर्द्ध-कार्षापण (आधे मूल्य का कार्षापण), पाद-कार्षापण (चौथाई मूल्य का कार्षापण), माष-कार्षापण (16वें मूल्य का कार्षापण), सुभाग, नेलग, द्रम्म आदि के उल्लेख मिलते हैं। उत्तराध्ययन¹⁴ में छोटे कार्षापण का उल्लेख मिलता है। अनाधिकृत तौर पर लोग छोटे सिक्के (कूड कहावण) भी चला देते थे। प्रश्नव्यकरण¹⁵ में उन्हें 'कूडकहापणोजीवी' कहा गया है। बेशक, वे दण्ड के भागी होते थे।¹⁶

ताम्र व अन्य मुद्रा

कार्षापण के अन्तर्गत ताम्र-कार्षापण भी हुआ करते थे। इनमें भी पण और माष हुआ करते थे। इनके अलावा काकिणी का उल्लेख मिलता है। चूर्णि-साहित्य में ताम्र सिक्कों के उल्लेख मिलते हैं। इनके अलावा कौड़ियों का भी मुद्रा के रूप में चलन था। बृहत्कल्पभाष्य¹⁷ और निशीथचूर्णि¹⁸ में कौड़ी को 'कवडुक' कहा है। निशीथचूर्णि में चर्म-मुद्रा का भी उल्लेख है, जो भीनमाल में चलती थी। छोटे-छोटे दैनिक व्यवहारों में इन मुद्राओं का बहुतायत से प्रयोग होता था। उपासकदशांग सूत्र में आचार्य आत्मारामजी ने सभी प्रकार की मुद्राओं को चौदह श्रेणियों में वर्गीकृत किया है।¹⁹

जैन-सिक्के

जैन धर्मानुयायी तथा जैन धर्म से प्रभावित राजाओं ने अपने राज्य में और शासन-काल में जो मुद्राएँ निर्गमित की, उन पर विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से जैन-धर्म की भावनाएँ अंकित की हैं। ऐसे जैन प्रतीकों से युक्त मुद्राओं को जैन

सिक्कों के-अन्तर्गत परिगणित किया गया है। देश-विदेश में खुदाई और अन्य माध्यमों से प्राप्त सिक्कों पर विभिन्न जैन प्रतीकों से जैन धर्म के इतिहास और आर्थिक विकास में उसके योगदान पर महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री ने 'प्रचीन जैन सिक्कों का अध्ययन'²⁰ विषयक निबन्ध में ऐसे अनेक जैन सिक्कों पर प्रकाश डाला है। कुछ उल्लेख दृष्टव्य हैं -

1. ईस्वी सन् से पूर्व प्रथम और दूसरी सदी के उज्जयनी के ताग्र-सिक्कों पर एक ओर वृषभ और दूसरी ओर सुमेरु अंकित है। इन सिक्कों पर स्पष्ट रूप से जैन प्रतीक अंकित है।
2. पंजाब के वनू जिले में सिन्धु नदी के पश्चिमी तट पर लीडिया के राजा क्रीसस का स्वर्ण-सिक्का मिला है। इस सिक्के में एक ओर वृषभ और सिंह का मुँह बना है तथा दूसरी ओर एक छोटा और एक बड़ा पंचमार्क अंकित है। राजा क्रीसस ने इस सिक्के पर जैन धर्म के प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के चिह्न अंकित कर अपनी भावाभिव्यक्ति की है। जैन ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि ईस्वी सन् की कई शताब्दियों पूर्व यूनान, रोम, मिस्र, ब्रह्मा, श्याम, अफ्रीका, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो आदि देशों में जैन धर्म का प्रचार था।
3. रैप्सन ने अपने 'भारतीय सिक्के' नामक ग्रन्थ और रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका के अनेक निबन्धों में भारतीय यूनानी नरेशों के सिक्कों का विवरण दिया है। इससे प्रतीत होता है कि अनेक यूनानी राजाओं पर जैन धर्म का पूर्ण प्रभाव था। जिसकी वजह से उन्होंने अपने सिक्कों पर जैन प्रतीकों को अंकित करवाया। इन सिक्कों पर वृषभ, हाथी और अश्व अंकित है, जो प्रथम, द्वितीय और तृतीय तीर्थंकरों के चिह्न हैं।
4. जनपद और गणराज्यों के प्राप्त सिक्के उदम्बर जाति के माने जाते हैं। डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री ने प्रथम प्रकार के सिक्कों को किसी जैन धर्मानुयायी राजा का माना है। जिन पर एक ओर हाथी, घेरे में बोधिवृक्ष (या अशोक वृक्ष) व नीचे एक साँप है तथा दूसरी ओर मन्दिर स्तम्भ के ऊपर स्वस्तिक और धर्म-चक्र हैं।
5. मालव जाति के कई सिक्के जैन हैं। जिन पर अशोक वृक्ष, कलश, सिंह, वृषभ आदि अंकित हैं। इस जाति के यम, मय और जायक जैन धर्म के प्रति श्रद्धावान थे। यम आचार्य सुधर्म के संघ में जैन मुनि बन गये थे।

6. यौधेय जाति के सिक्के तीन भागों में विभक्त हैं। उनमें से प्रथम प्रकार के सिक्के प्रचीन हैं और उन्हें ही जैन सिक्के माना गया है। उन पर वृषभ व हाथी का अंकन है।
7. ईस्वी सन् प्रथम शती के राजा भूमिकस और इनके उत्तराधिकारी क्षत्रप नहपान जैन थे तथा उन्होंने जैन प्रतीकों के अंकन से युक्त सिक्के जारी किये थे।
8. गौतमीपुत्र राजा शातकर्णी (प्रथम शती) को व्रती श्रावक माना जाता है। उनके सिक्कों में जैन प्रतीक अंकित हैं।
9. इसी प्रकार आन्ध्रवंशी तथा पल्लववंशी राजाओं ने भी जैन प्रतीकों से युक्त सिक्के जारी किये हैं। पल्लववंश का राजा महेन्द्रवर्मन जैन धर्मानुयायी था।
10. इसी प्रकार मध्यकाल के अनेकानेक राजाओं ने जैन प्रतीकों से युक्त सिक्के जारी करके जैन धर्म और उसके अहिंसादि सिद्धान्तों के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है।

इनके अतिरिक्त वर्तमान में भगवान महावीर के 2600वें जन्म-कल्याणक के उपलक्ष्य में सन् 2001 में भारत सरकार ने पाँच रुपये का सिक्का जारी किया। सिक्के पर एक ओर तत्त्वार्थ-सूत्र के अमर वाक्य 'परस्परपग्रहो जीवानाम्' के साथ जैन-प्रतीक अंकित है और दूसरी ओर राष्ट्रीय चिह्न और मूल्य अंकित है।

इस विवरण से कई बातें स्पष्ट होती हैं। जैसे अनेक राजाओं के शासनकाल का कोई भी सिक्का आज उपलब्ध नहीं है और अनेक के शासनकाल के एक-दो या कुछ सिक्के ही वर्तमान में प्राप्त होते हैं। निश्चित रूप से आगम काल और उससे पूर्व में हुए शासकों ने भी अपनी मुद्राओं पर अपनी धर्म-भावनाएँ अंकित की होंगी। हजारों वर्षों के दीर्घ कालखण्ड में उस समय की मुद्राओं का अनुपलब्ध होना स्वाभाविक भी है। इस बात की प्रबल संभावना इसलिए भी है कि उस काल में जैन धर्म का नेतृत्व क्षत्रिय और शासक वर्ग के हाथों में था। हालांकि सभी वर्गों और वर्गों के व्यक्ति बिना किसी भेदभाव के जैन धर्म का पालन कर रहे थे। इन तथ्यों के आलोक में समता और अहिंसामूलक अर्थव्यवस्था की मौजूदगी का अनुमान लगाया जा सकता है।

ऋय-शक्ति

मुद्रा की ऋय-शक्ति वस्तुओं की उपलब्धता पर निर्भर करती है। सुलभ वस्तुएँ थोड़ी मुद्रा से अधिक मात्रा में पाई जा सकती हैं। जबकि क्रम सुलभ या

दुर्लभ वस्तुओं के लिए अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। अलग अलग देशों/राज्यों की मुद्राओं की ऋय-शक्ति अलग अलग होती थी। ऐसा सम्बन्धित देशों/राज्यों की आर्थिक स्थिति के कारण होता था। बृहत्कल्पभाष्य में बताया गया है कि दक्षिणापथ के दो रुवगों का मूल्य उत्तरापथ के एक रुवग के बराबर तथा उत्तरापथ के दो रुवगों का मूल्य पाटलिपुत्र के एक रुवग के बराबर था। इसी प्रकार दक्षिणापथ के दो रुवगों का मूल्य कांचीपुर के एक नेलक के मूल्य के बराबर तथा कांचीपुर के दो नेलकों का मूल्य पाटलिपुत्र के एक रुवग के मूल्य के बराबर था।¹¹ आगम युग में रोजमर्रा की चीजें सर्वसुलभ थीं। प्रजा की ऋय-शक्ति कुछ लोगों या वर्गों तक केन्द्रित नहीं थी। इसलिए जनसामान्य का जीवन सुखी था। दुष्काल की विभीषिका के अतिरिक्त भुखमरी की कोई सूचना आगम ग्रन्थों में नहीं मिलती है।

माप-तौल

यह स्पष्ट है कि आगम युग का मानव व्यापार वाणिज्य में कुशल था। वाणिज्यिक विकास और आर्थिक समृद्धि के लिए वह व्यापार को व्यापार के तरीकों और नियमों से करता था। वस्तुओं को मापने व तौलने के लिए विभिन्न मापकों का उल्लेख आगमों में मिलता है। ज्ञातधर्मकथांग में चार प्रकार की माप-प्रणालियाँ बताई गई हैं - गणिम, धरिम, मेज्ज और परिच्छ।¹²

1. **गणिम** : गिन कर बेची जाने वाली वस्तुएँ गणिम कहलती थी अथवा गणिम के द्वारा वस्तुओं को गिन कर बेचा जाता था। इसके अन्तर्गत एक से लगाकर एक करोड़ तक की गिनती की जाती थी।
2. **धरिम** : इसके अन्तर्गत वस्तुओं को तौल कर बेचा जाता था। कर्ष, अर्धकर्ष, पल, अर्धपल, भार, अर्धभार, तुल आदि तौलने के माध्यम थे।
3. **मेज्ज/मेय/मान** : इसके अन्तर्गत वस्तुएँ माप कर बेची जाती थी। वस्तुओं के स्वभाव के अनुसार अलग-अलग वस्तुओं के मापक अलग-अलग हुआ करते थे। ये तीन थे - धान्यमान, रसमान और अवमान। धान्यमान के अन्तर्गत असृति (असई), प्रसृति (पसई), सेतिका, कुम्भ, कुडव, प्रस्थ, आढक, द्रोण, वाह आदि धान्यमानों के द्वारा मुक्तौलि, मुख, इदुर, आलिन्दक, अपचार आदि प्रकार के कोठरों में भरे अनाज का माप किया जाता था। ये मापक मगध में प्रचलित थे। तरल पदार्थों को मापने के लिए रसमान होते थे, जिनमें चतुष्पष्टिका, द्वात्रिंशिका, षोडशिका, अष्टभागिका आदि उपकरण थे। अवमान के अन्तर्गत हाथ, दण्ड,

नलिका, धनुष, युग, अक्ष, मूसल आदि माध्यम थे, जिनसे खेत, भूखण्ड, घर, भित्ति, कुएँ, खाई, कपड़ा, चटई जैसी वस्तुओं को मापा जाता था।

4. परिच्छ/प्रतिमान : जिन वस्तुओं में गुणवत्ता की परीक्षा के साथ व्यवहार किया जाता हो, उन्हें परिच्छ कहा गया। इनके अन्तर्गत बहुमूल्य धातुएँ स्वर्ण, रजत और रत्न, मणि, मुक्ता आदि आते हैं। गुंजा-रत्ती, कांकणी, निष्पाव, कर्ममाषक, मण्डल, सुवर्ण आदि प्रतिमानों से इनका तौल होता था।¹³

इनके अलावा अंगुल, वितस्ति, रत्नि, कुक्षि, धनुष और गव्यूत आदि का उपयोग दूरी मापने के लिए किया जाता था। परमाणु, त्सरेणु, रथरेणु, बालाग्र, लिक्षा, यूका, यव आदि का उपयोग लम्बाई मापने के लिए किया जाता था। समय की गणना समय, आवलिका, श्वास, उच्छ्वास, स्तोक, लव, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, वर्षशत (शताब्दी) से लेकर शीर्षप्रहेलिका आदि से की जाती थी।¹⁴ आगम युग के अनेक माप आज भी प्रचलित हैं।

वित्तीय प्रणालियाँ

आगम युग में प्रभूत व्यापार, वाणिज्य, कृषि, उद्योग आदि विद्यमान थे। इस आधार पर माकूल वित्तीय व्यवस्थाओं का अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु आधुनिक बैंकिंग प्रणाली जैसी व्यवस्थाएँ देखने को नहीं मिलती। देशी बैंकर्स और पारम्परिक वित्तीय प्रणालियों की तत्कालीन समय में महत्वपूर्ण भूमिका थी। श्रेष्ठी, सार्थवाह और वणिक वर्ग के सम्पन्न व्यक्ति बैंकिंग का व्यवसाय करते थे। बैंकिंग के लिए आधारभूत बातें हैं - ऋण के लिए कोष की उपलब्धता, ऋण देना और जमाएँ स्वीकार करना।

कोष की उपलब्धता

उपासकदशांग के अनुसार वाणियगाम के गाथापति आनन्द तथा अन्य नौ श्रावक अपनी सम्पत्ति को तीन हिस्सों में नियोजित करते थे।¹⁵ एक तिहाई हिस्सा निधि के लिए, एक तिहाई हिस्सा व्यवसाय के लिए और एक तिहाई हिस्सा गृह-सामग्री में नियोजित किया जाता था। व्यवसाय के लिए नियोजित हिस्से को ब्याज पर भी दिया जाता था। निधि के लिए संग्रहित धन को भी ब्याज पर दिये जाने के लिए काम में लिया जाता था। इस प्रकार वित्त-व्यवसाय अथवा बैंकिंग-व्यवसाय का संचालन किया जाता था। श्रावक आनन्द ने चार करोड़ और चुलनीपिता और महाशतक ने आठ-आठ करोड़ हिरण्य (स्वर्ण-सिक्के) व्यवसाय में लगा रखे थे।

भगवती सूत्र के अनुसार तुंगिका ग्राम के श्रावक सम्पन्न थे तथा वे बैंकिंग का कार्य भी करते थे।²⁶ जैन आचार दर्शन में अपव्यय पर अंकुश और बचत को प्रोत्साहन की प्रवृत्ति से मुद्रा-स्फीति नहीं बढ़ती थी और वस्तुओं की कीमतें नियन्त्रित रहती थी। सकल राष्ट्रीय उत्पाद पर इसका अनुकूल असर होता था। इससे समस्त प्रजा लाभान्वित होती थी।

ऋण देना

तत्कालीन समय में समाज का धनाढ्य वर्ग बैंकिंग सेवाएँ प्रदान करता था। बैंकिंग का कार्य अन्य अच्छे व्यवसायों की भाँति प्रतिष्ठा प्राप्त था। वणिक्, श्रेष्ठी, गाथापति आदि ऋण देने का कार्य करते थे। उपासकदशांग के दसों गाथापति ऋण देने का कार्य करते थे। ऋण देते समय पूरी तरह से लिखा-पढ़ी की जाती, किसी की साक्षी ली जाती अथवा गवाह के हस्ताक्षर करवाये जाते। लोग झूठे गवाही भी दे देते थे।²⁷ इससे तत्कालीन समय में लेखांकन करने और लेखा-पुस्तकें, बहियाँ आदि अभिलेख रखने की सूचना मिलती है। जो किसी भी व्यवसाय के लिए अत्यन्त जरूरी होता है। संभवतः इन बहियों के आधार पर ही ऋण न चुकाये जाने की दशा की मुख्य ऋणी के दिवंगत हो जाने पर भी उसके उत्तराधिकारी पर ऋण चुकाने का दायित्व रहता था। ऐसे ऋण को पैतृक ऋण कहा जाता था।²⁸

ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार धन्य सार्थवाह ने घोषणा की कि जो भी व्यापारी उनके सार्थ के साथ चलना चाहे और उनके पास धन नहीं हो तो उसे व्यापार के लिए अग्रिम तौर पर उधार दिया जायेगा।²⁹ राजगृह के सार्थवाह उनका धन दुगुना करने के लिए ऋण के रूप में देते थे।³⁰ इससे ऊँची ब्याज दर होने का पता चलता है तथा ऐसे अनेक उदाहरण भी मिलते हैं, जो यह स्पष्ट करते हैं कि ब्याज दरें ऊँची भी हुआ करती थी। इतनी ऊँची भी होती थी कि ऋण लेने के बाद सामान्य व्यक्ति के लिए चुकाना मुश्किल हो जाता था। जो व्यक्ति ऋण नहीं लौटा पाता उसे तिरस्कार का पात्र होना पड़ता। ऋणदाता के वहाँ दास के रूप में कार्य करना पड़ता था। विशेष परिस्थितियों में ऋणी को ऋण-मुक्त करने की सूचनाएँ भी मिलती हैं। वणिक्-न्याय के अनुसार यदि ऋण लेने वाला स्वदेश में हो तो उसे अनिवार्य रूप से ऋण चुकाना होता था किन्तु यदि वह समुद्र-यात्रा से विदेश गया हो और उसके साथ कोई हादसा हो गया हो और किसी तरह वह प्राण-रक्षा करके लौट हो तो उसका कर्ज माफ कर दिया जाता था। किसी की पूरा ऋण चुकाने की

क्षमता नहीं रही हो तो उसका आंशिक रूप से ऋण माफ किया जाता था।¹¹ इससे ऋण और अग्रिम के साथ बीमा का तत्व भी देखने को मिलता है। ऋण निर्धारित दर, निर्धारित अवधि और निश्चित उद्देश्य/उद्देश्यों के लिए दिये जाते थे। व्यावसायिक और गैर-व्यावसायिक दोनों उद्देश्यों के लिए ऋण दिये जाते थे। परिस्थितियों के अनुसार ऋण की दर और अवधि परिवर्तित होती रहती थी।

जमाएँ स्वीकार करना

जमाएँ स्वीकार करने का अर्थ है - ऋण देने के लिए ऋण लेना। इसमें कम ब्याज दर पर ऋण लिया जाता है और अधिक ब्याज दर पर उसे दिया जाता है। यह प्रक्रिया बैंकिंग व्यवसाय के लिए सामान्य बात है। जैसा कि कहा जा चुका है आगम-युग में संस्थागत बैंकिंग व्यवस्था नहीं थी। यह कार्य सम्पन्न वर्ग के हाथ में था। जो लोग सामान्य तौर पर उधारी का कार्य नहीं करते थे, वे अपने अतिरिक्त धन से अतिरिक्त आय के लिए उसें विश्वस्त व्यक्तियों के हाथों में सौंप देते थे। इस व्यवहार को निक्षेपण (निक्खेवग) कहा जाता था।¹² कभी-कभी ऐसे मामलों में जमाएँ स्वीकार करने वालों की नियत खराब हो जाती थी तो वे धन लौटाने से मना कर देते। इसके लिए वे बही खातों में हेर-फेर कर देते और जमाएँ स्वीकार करने के साक्ष्यों को पलट देते थे। इससे बैंकिंग और व्यवसाय जगत को धक्का लगता था। ब्याज दरें ऊँची होने से भी वित्त का प्रवाह अवरुद्ध होता था। लोग धन को खजानों, दीवारों और जमीन में निधि के रूप में सुरक्षित रखते थे।¹³ श्रमण परम्परा के व्रतधारी श्रावक अचौर्य, अहिंसा और अपरिग्रह के माध्यम से ऐसी अनैतिक व अहितकारी घटनाओं का प्रतिवाद कर रहे थे। इससे बैंकिंग व्यवसाय के उज्वल भविष्य के द्वार उद्घाटित हो रहे थे।

सन्दर्भ

1. जैन, के.सी., लॉर्ड महावीर एंड हिज टाइम्स, प.-306
2. कनिंघम, ए., कॉइंस ऑफ एंशेंट इण्डिया प.-43
3. विनय विजय, उपाध्याय, भारतीय सिक्के, प.-6
4. सूत्रकृतांग, 1/2/7/3, उत्तराध्ययन 8.17
5. उपासकदशांग, ज्ञाताधर्मकथांग प्रथम अध्ययन तथा निशीथ सूत्र 5.35
6. उत्तराध्ययन 8वाँ अध्ययन और प्राचीन भारतीय मुद्राएँ, प.-10
7. भण्डारकर (डॉ.) ऐंशिअंट इंडियन न्यूमिस्मेटिक्स प.-63
8. उरुथ-दीणार-मालिय-विग्रहणं - कल्पसूत्र 38
9. जैन, जगदीश चन्द्र (डॉ.) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, प.-188
10. निशीथचूर्णि 3.4316
11. उत्तराध्ययन चूर्णि 4/119
12. आवश्यकचूर्णि भाग 2
13. दशवैकालिकचूर्णि प.-42
14. उत्तराध्ययन 20/42 (कूडकहावणे) एवं 8/17
15. प्रश्नव्याकरण 2/3
16. कौटिलीय अर्थशास्त्र 4/1/76
17. बहत्कल्पभाष्य 2.1969
18. निशीथचूर्णि 3.3070
19. आत्माराम, आचार्य, श्री उपासकदशांग सूत्रम्, परिशिष्ट, पष्ठ-394
20. शास्त्री, नेमिचन्द्र (डॉ.) 'भारतीय संस्कृति के विकास में जैन वाङ्मय का अवदान' खण्ड द्वितीय अध्याय बारहवाँ।
21. बहत्कल्पभाष्य 4.3891-92 एवं निशीथचूर्णि 2.959

22. ज्ञाताधर्मकथांग 8/66
23. अनुयोगद्वार 14/188 से 191
24. अनुयोगद्वार सूत्र 132-133
25. उपासकदशांग प्रथम अध्ययन सूत्र 4
26. व्याख्याप्रज्ञप्ति 2.5.106
27. प्रश्नव्याकरण 2/10
28. सूत्रकृतांग 1/2/2/179
29. देखें, ज्ञाताधर्मकथांग 15वाँ अध्ययन
30. देखें, ज्ञाताधर्मकथांग दूसरा अध्ययन
31. बृहत्कल्पभाष्य 1.2690, 6.6309
32. निशीथ चूर्णि 1.5.292
33. निशीथ चूर्णि 3.5.4312 एवं देखें, उपासकदशांग सूत्र।

राजस्व और कर-प्रणालियाँ

राजस्व का सम्बन्ध सरकारी आय और व्यय से होता है। राज्य अपने राजकीय दायित्वों और खर्चों को वहन करने के लिए जनता से कर आदि के माध्यम से कोश भरता है। राज्य की समृद्धि बेहतर राजस्व प्रणालियाँ और उनके सही क्रियान्वयन पर निर्भर होती है। आगम-ग्रन्थों में राजस्व के बारे में पर्याप्त सूचनाएँ मिलती हैं।

राज्य की आय के स्रोत

कृषि मुख्य व्यवसाय था। बड़े पैमाने पर खेती-बाड़ी की जाती थी। इसलिए कृषि सम्बन्धी कर राज्य की आय के मुख्य स्रोत थे। इसमें सर्वप्रथम भूमि पर लगने वाले कर 'लगान' की चर्चा यहाँ की जा रही है।

लगान

जैसा कि चर्चा की जा चुकी है, भूमि पर राज्य का स्वामित्व भी होता था और व्यक्तिगत भी। व्यक्तिगत स्वामित्व के अन्तर्गत अधिकांशतः गाथापति, श्रेष्ठी आदि धनाढ्य व्यक्तियों का स्वामित्व होता था।¹ ऐसी खेतीहर जमीन के मालिक स्वयं खेती न करके उसे भूमिहीन किसानों को खेती करने के लिए सौंप देते थे तथा उनसे प्रतिफल स्वरूप उपज का निश्चित अंश प्राप्त करते थे तथा उसमें से राज्य को भी एक निर्धारित भाग देना होता था। राज्य को भू-उपयोग के बदले दिये जाने वाले शुल्क को लगान कहा जाता है। यह शुल्क उपज अथवा मुद्रा में दिया जा सकता था। भूमिहीन कृषक, जो इस प्रकार हिस्सेदारी से या बटाई से खेती करते थे, उन्हें 'भाइलग' कहा जाता था।² ऐसे भाइलगों के साथ कठोर व्यवहार न करने के निर्देश भी दिये जाते थे। इससे प्रतीत होता है कि उनके साथ न्याय नहीं होता होगा और राज्य व भले लोगों द्वारा न्याय की गुहार की जाती होगी। व्यवहार सूत्र के अनुसार खेती के अलावा भी भूमि उद्योगादि के लिए किराये पर दी जाती थी।³ आवश्यकचूर्ण में लगान को खेतकर कहा है, वह उपज का 1/4 से 1/8 तक होता था।⁴ बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार खेतकर उपज का 1/6 से 1/10 भाग होता था।⁵ अच्छी पैदावार वाली भूमि पर लगान दर अधिक होती थी। जो किसान नई भूमि को उपजाऊ बनाता उसे राज्य खेती के लिए आवश्यक विशेष सुविधाएँ प्रदान

करता था तथा लगान में कमी कर देता था।⁹ इससे स्पष्ट है कि लगान राज्य की आय का प्रमुख माध्यम था। साथ ही इससे राज्य की ओर से कृषि को अनेक रूपों में संरक्षण मिलता था।

करारोपण

राज्य की आय का मुख्य स्रोत करारोपण ही होता है। आगम कालीन राज्यों के पास प्रभूत सम्पत्ति होती थी। उत्सव और खुशी के अवसरों पर राज्य की ओर से प्रजा को करों में छूट प्रदान की जाती थी। व्याख्याप्रज्ञप्ति में 'उस्सुक्कम्' (बिना शुल्क) और 'उक्करम्' (कर-मुक्त) शब्द राज्य की कर-व्यवस्था का संकेत करते हैं।⁹ स्पष्ट है कि राज्य के द्वारा करारोपण के नियम स्थापित थे। कृषि और व्यवसाय अच्छे थे इसलिए वस्तुओं या मुद्राओं के रूप में कर-संग्रह भी अच्छा होता था। विपाक-सूत्र में राजा को सुझाव दिया गया है कि वह प्रजा को कष्ट देकर कर-संग्रह नहीं करें। ऐसा करने वाले राजा को 'पापी' कहा गया है।⁹ आचार्य जिनसेन आदर्श करारोपण के लिए उदाहरण देते हैं कि जिस प्रकार दूध देने वाली गाय को बिना पीड़ा पहुँचाये दूध प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार प्रजा को भी बिना कष्ट दिये कर प्राप्त करना चाहिये।⁹ सोमदेवसूरि ने भी कहा है कि यदि राजा प्रजा को कष्ट देकर कर प्राप्त करता है तो उसका राज्य के व्यवसाय पर भी विपरीत असर होगा तथा प्रजा छल-कपट का सहारा लेगी। वृक्ष का मूलोच्छेदन करने वाला एक बार ही फल प्राप्त कर सकता है।¹⁰ करारोपण की रोकथाम के लिए राज्य को अतिकर से बचना चाहिये।

18 प्रकार के कर

आगम ग्रन्थों में करारोपण के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। जबकि उनके व्याख्या ग्रन्थों में करारोपण की व्यवस्थित प्रणालियों का पता चलता है। इन करों में प्रत्यक्ष कर - आयकर, धनकर आदि की सुस्पष्ट सूचनाओं का अभाव है जबकि गृहकर के स्पष्ट उल्लेख हैं। मुख्य रूप से अप्रत्यक्ष कर लगाये जाते थे। उसमें राजस्व प्राप्ति के रूप में सेवाकर सुस्थापित नहीं था। उपज, उत्पादन, वाणिज्यिक गतिविधियों और बिक्री पर मुख्य रूप से कर लगाया जाता था। जिनकी तुलना वर्तमान के उत्पाद-शुल्क और विक्रय-कर से की जा सकती हैं। डॉ. जगदीश चन्द्र जैन¹¹ ने जैन-ग्रन्थों में वर्णित अठारह प्रकार के करों का उल्लेख किया है :-

1. गोकर (गाय की बिक्री पर लगने वाला कर)
2. बलिवर्दकर (बैल की बिक्री पर लगने वाला कर)

3. महिषकर (भैंस की बिक्री पर लगने वाला कर)
4. उष्ट्रकर (ऊँट की बिक्री पर लगने वाला कर)
5. छगलीकर (भेड़-बकरी की बिक्री पर लगने वाला कर)
6. पशुकर (मवेशियों व अन्य पशुओं की बिक्री पर लगने वाला कर)
7. तृणकर (घास पर लगने वाला कर)
8. भुसकर (पशु आहार की बिक्री पर लगने वाला कर)
9. पल्लकर (पुवाल/चावल/अनाज और इनके भूसे पर लगने वाला कर)
10. काष्ठकर (लकड़ी व काष्ठ वस्तुओं पर लगने वाला कर)
11. अंगारकर (कोयले व ईंधन पर लगने वाला कर)
12. सीताकर (हल व कृषि उपकरणों पर लिया जाने वाला कर)
13. उम्बरकर (देहली अथवा हर घर से लिया जाने वाला कर)
14. जंघाकर/जंगाकर (चरगाहा पर लिया जाने वाला कर)
15. घटकर (मिट्टी के बर्तनों व वस्तुओं पर लगने वाला कर)
16. चर्मकर या/तथा कर्मकर (श्रमिकों द्वारा दी गई बेगार)
17. चुल्लगकर (सामूहिक भोज, उत्सव, मनोरंजन आदि पर लगने वाला कर)
18. औतितकर (प्रासंगिक/आकस्मिक व्यवसाय पर कर या ऐच्छिक कर)

करों के इस विवरण से स्पष्ट होता है कि ये सारे कर अच्छी खेती-बाड़ी, वृहद् पशुपालन और समृद्ध ग्रामीण अर्थव्यवस्था के सूचक हैं। ग्रामों में प्राथमिक उद्योग थे। जबकि नगरों में द्वितीयक उद्योग। जब गाँवों में इतने प्रकार के कर लगते थे तो नगरों में भी द्वितीयक उद्योगों और उनसे आगे के उद्योग-धन्धों पर कर लगते थे।

गृहकर

गृहकर के बारे में मूल आगम ग्रन्थ मौन है। परन्तु निर्युक्ति और भाष्य में गृहकर के उल्लेख से आगम-युग में गृहकर होने का पता चलता है। पिण्डनिर्युक्ति के अनुसार प्रत्येक घर से प्रतिवर्ष दो द्रम (रजत-मुद्रा) गृहकर के रूप में राज्य द्वारा वसूल किये जाते थे।¹² बृहत्कल्पभाष्य और निशीथभाष्य में गृहकर को लेकर

मार्मिक घटनाओं की चर्चा है। एक वणिग ने ईंटों से पक्का घर बनाया और घर बन जाने पर उसकी मृत्यु हो गई। कम कमाई होने से उसके पुत्र गृहकर नहीं चुका पा रहे थे। उसके पुत्रों ने वह मकान श्रमण-श्रमणियों को ठहरने के लिए समर्पित कर दिया तथा वे स्वयं पास में ही झोंपड़ी बनाकर रहने लगे। ऐसा करके वे गृहकर के दायित्व से मुक्त हुए थे।¹³ ग्रन्थों में एक रुवग प्रतिगृह गृहकर बताया गया है, परन्तु वह एक रुवग कर मासिक है या वार्षिक, यह उल्लेख नहीं है। अनुमानतः यह मासिक ही जान पड़ता है। शूर्पारक नगर में गृहकर (नैगमकर) अनिवार्यतः लागू किये जाने पर वहाँ के 500 वणिग परिवारों ने विरोध किया। विरोध पर भी करारोपण समाप्त नहीं किया तो उन परिवारों ने आत्मदाह कर लिया।¹⁴ इससे कर चुकाने की अनिवार्यता और कर वसूली में सख्ती सिद्ध होती है। अहिंसक आर्थिक प्रणाली में ऐसी कठोरता को स्वीकृति देना संभव नहीं है।

वाणिज्य कर

जिन वस्तुओं में व्यापार किया जाता उन पर कर लगाया जाता था। इसलिए जब चम्पानगरी के पोतवणिग मिथिला में व्यापार के लिए गये तो उन्होंने मिथिला नरेश को विभिन्न प्रकार के मूल्यवान उपहारों से प्रसन्न कर लिया और बिना कर के व्यापार की अनुमति प्राप्त कर ली।¹⁵ राज्य के बाहर से माल आता तो उसे सुंकठाणे (जाँच-चौकी/कस्टम हाउस) पर जाँचा जाता तथा उस पर कर लगाया जाता। कर लगाने वाले अधिकारी को सुकिया कहा जाता था।¹⁶ व्यापारिक मार्गों पर कर लगाने वाली ऐसी शुल्कशालाएँ हुआ करती थीं। कर की दर वस्तु की कीमत, मार्ग-व्यय तथा अन्य खर्चों को ध्यान में रखते हुए तय थी।¹⁷ इनके अलावा व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए तथा उन्हें दुरुस्त रखने के लिए मार्ग-कर भी लिया जाता था। आयात पर करारोपण अधिक होने से यह अनुमान लगाया जाता है कि राज्य निर्यात को प्रोत्साहित करता था। बेहतर भुगतान सन्तुलन और विदेशी मुद्रा भण्डार की वृद्धि के लिए निर्यात को प्रोत्साहन दिया जाता है। इससे राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ बनती है।

अन्य स्रोतों से आय

राजकोष को भरने के लिए आय के अन्य स्रोत भी थे। उनमें हैं - उपहार व भेंट, गुप्त सम्पत्ति, निःस्वामिक धन, पराजित राजाओं से प्राप्त धन, अर्थदण्ड आदि। इनमें कुछ स्रोत नकारात्मक है, कुछ सकारात्मक और कुछ स्वाभाविक है।

उपहार व भेंट

राजाओं से विशेष मुलाकात और विशेष अवसरों पर उन्हें उपहार प्रदान किये जाते थे। इससे राजकोष की अभिवृद्धि होती थी। ज्ञाताधर्मकथांग¹⁸ इस बारे में पर्याप्त सन्दर्भ देता है। मेघकुमार के जन्मोत्सव पर राजा श्रेणिक ने अनेक लोगों और सामन्तों को आमन्त्रित किया। जन्मोत्सव में भाग लेने वालों ने राजा को हाथी, घोड़े, रत्न आदि बहुमूल्य उपहार प्रदान किये। लोग किसी व्यवसाय-विशेष के लिए अनुमति या कर-मुक्ति चाहते तो विभिन्न उपहार लेकर राजा के पास जाते। राजा उपहार स्वीकार करता तथा उन्हें नियमों के अन्तर्गत वांछित छूट या सुविधा प्रदान करता था। थावच्चा सार्थवाही अपने पुत्र के दीक्षा महोत्सव की अनुमति लेने के लिए उपहार लेकर राजा के पास गई थी। राजगृह का श्रेष्ठी नन्द मणिकार राजा श्रेणिक के पास मूल्यवान उपहार लेकर गया और राजगृह में पुष्करिणी निर्मित करने की अनुमति प्राप्त की। कैद से मुक्ति के लिए धन्य सार्थवाह ने सम्बन्धियों और साथियों के माध्यम से राजा को बहुमूल्य उपहार भिजवाये। तत्कालीन समय में राजाओं को उपहार और भेंट देना सामान्य परम्परा थी और इससे राजकोष पर अनुकूल असर होता था।

गुप्त व लखारिस धन

राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत प्राप्त गुप्त निधि राज्य की समझी जाती थी। उस समय में लोग धन को जमीन में गाड़ दिया करते थे। इसलिए गुप्त धन प्राप्ति के अनेक उदाहरण ग्रन्थों में मिलते हैं।¹⁹

जिस सम्पत्ति का कोई वारिस नहीं होता या किसी व्यक्ति का कोई उत्तराधिकारी नहीं होता तो मरणोपरान्त उस सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार हो जाता था। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार जब भृगु पुरोहित ने परिवार सहित दीक्षा गृहण कर ली तो राजा ने उसकी सम्पत्ति को राजकोष में जमा कराने के आदेश दे दिये।²⁰ एक बार एक वणिक् की मृत्यु हो जाने पर उसकी गर्भवती विधवा की सम्पत्ति इसलिए अधिगृहीत नहीं की कि पुत्र होने की स्थिति में वह उसका उत्तराधिकारी हो जायेगा।²¹ जीवन की कठिन स्थितियों में पुरुष-स्वामित्व और उत्तराधिकार के प्रति उदारता नहीं बरतना समाज को कमजोर करना है। आगम के अनेक सूत्र स्त्री को स्वामित्व, स्वतन्त्रता और अधिकारिताएँ प्रदान करते हैं।

पराजित राजाओं से प्राप्त धन

जो राजा पराजित हो जाता वह विजेता राजाओं को धन-सम्पत्ति भेंट करता था। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के अनुसार भरत चक्रवर्ती ने जब यवन, अरब आदि देशों के राजाओं पर विजय प्राप्त कर ली तो उन देशों के राजाओं ने भरत को हार, मुकुट, कुण्डल आदि आभूषण और रत्न आदि भेंट किये थे।¹² हाथीगुंफा के शिलालेख से ज्ञात होता है कि कलिङ्गाधिपति खारवेल को पराजित राजाओं से मणि, रत्न आदि सम्पत्ति प्राप्त हुई थी।¹³ इससे भी राजकोष में वृद्धि होती थी। परन्तु, ये माध्यम कोष वृद्धि के स्थायी उपाय नहीं थे। प्रासंगिक अथवा आकस्मिक माध्यमों पर निर्भरता राज्य की स्थिति को सुदृढ़ नहीं बना सकती। बेवजह शक्ति-प्रदर्शन और साम्राज्य-विस्तार की लालसा में की गई लड़ाइयों से मानव जाति को लाभ नहीं हुआ।

अर्थदण्ड

राज-नियमों का उल्लंघन करने पर जुर्माना लगाया जाता था। इससे राजस्व में वृद्धि होती थी और शासन-प्रशासन चुस्त-दुरुस्त रहता था। राजा श्रेणिक ने मेघकुमार के जन्मोत्सव की खुशी में दण्डकरों को माफ कर दिया था।¹⁴ इससे जुर्म की सजा के रूप में अर्थदण्ड व्यवस्था सिद्ध होती है। आदिपुराण में तीन प्रकार के दण्डों में अर्थहरण-दण्ड को प्रथम बताया है। अर्थदण्ड का मुख्य ध्येय प्रजा से नियमों का अनुपालन करवाना होता है, न कि राजकोष भरना।

कर-संग्रहण

राज्य में कर संग्रह की माकूल व्यवस्थाएँ थी। कहीं-कहीं कर वसूली में राज्य कर्मचारियों द्वारा कठोरता बरतने के उदाहरण भी मिलते हैं। विपाकसूत्र में विजय वर्धमान खेट का उल्लेख है। वह 500 गाँवों तक फैला हुआ था। यहाँ इकाई नामक राष्ट्रकूट कर, भर (सीमा शुल्क), भेद्य (दण्ड कर), देय (अनिवार्य कर), ब्याज आदि की वसूली में अत्यन्त निर्दयता से पेश आता था। वह कुन्त (तलवार से), लंछपोष (लंछ नामक चोरों को नियुक्त करके), आदीपन (आग लगावा कर), पंथकोट्ट (पथिकों को कत्ल करवा कर) आदि अमानुषिक उपायों से प्रजा को उत्पीड़ित और शोषित करता था।¹⁵ ऐसे राजा को ग्रन्थों में पापी राजा कहा गया है और उसके भयंकर दुष्परिणाम बताकर क्रूरता से बचने का सन्देश दिया गया है। सामान्यतया कर वसूली में इतनी कठोरता नहीं बरती जाती थी। करदाताओं को

कर जमा करने के लिए छूट दी जाती थी। छूट के उपरान्त भी कर जमा नहीं कराने पर उन्हें उचित तरीके से दण्डित किया जाता था।¹⁶ कर वसूली में अत्यधिक कठोरता राज्य और प्रजा दोनों के हित में नहीं है।

कर-मुक्ति

आगम-ग्रन्थों में कर-मुक्ति के अनेक प्रमाण मिलते हैं। राजा किसी वस्तु-विशेष, व्यक्ति या समूह-विशेष को भिन्न-भिन्न कारणों से कर-मुक्ति प्रदान किया करते थे। राज्य में खुशी के अवसरों और मंगल-प्रसंगों पर भी प्रजा को कर से राहत प्रदान की जाती थी। राजकुमार वर्द्धमान के जन्म के मंगल अवसर पर राजा सिद्धार्थ ने दस दिनों तक प्रजा को भूमिकर, चुंगीकर, दण्ड, बेगार आदि राजकीय दायित्वों से मुक्ति प्रदान की थी।¹⁷ तीर्थंकर महावीर के परम भक्त राजा श्रेणिक के पुत्र मेघरथ के जन्मोत्सव पर भी दस दिनों तक सभी प्रकार के करों से प्रजा को मुक्त कर दिया था।¹⁸ ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार हस्तिशीर्ष के पोतवणिकों से राजा कनककेतु को बहुमूल्य उपहार प्राप्त किये और पूछने पर कलियद्वीप में श्रेष्ठ सुन्दर अश्व होने की सूचना मिली तो उन्हें मुक्त रूप से व्यापार करने की अनुमति प्रदान कर दी थी।¹⁹ अनेक जनोपयोगी वस्तुओं, विशेष महत्व के उद्योगों या व्यापारों अथवा व्यक्तियों या व्यक्तियों के समूह को निर्दिष्ट अवधि या सदा के लिए छूट प्रदान की जाती थी।

करापवंचन

मानव की वृत्ति कर नहीं देने की या न्यून कर देने की रहती है। यह वृत्ति प्राचीन समय में भी थी। कई व्यापारी उचित करारोपण के बावजूद कर चोरी कर लेते थे। जबकि कई बार राज्य द्वारा अनुचित करारोपण से व्यवसायियों में करापवंचन की प्रवृत्ति बढ़ जाती थी। करों से बचने के लिए व्यापारी राजपथ से यात्रा नहीं करते थे²⁰ तथा कर बचाने के लिए अनेक प्रकार के यत्न करते थे। अचौर्य व्रत करापवंचन पर नैतिक रूप से अंकुश लगाता है।

बेगार प्रथा

राज्य संचालन में प्रत्येक वर्ग और स्तर के व्यक्ति का योगदान होता था। जो व्यक्ति निर्धन होते थे, वे राज्य के लिए श्रम का दान करते थे। इसे बेगार कहा जाता था। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार राजा की आज्ञा से श्रमिक बेगार करते थे तथा वह अनिच्छा पूर्वक की जाती थी।²¹ बेगार को राज्य का अधिकार बताया

जाता था।¹² कर-मुक्ति के अन्तर्गत राजा बेगार से भी मुक्ति प्रदान करता था। कालान्तर में इस प्रवृत्ति ने निर्धनों के शोषण का रूप ले लिया था। भगवान महावीर के उपदेशों में शोषण की स्पष्ट मनाही रही। फलस्वरूप उनके अनुयायियों ने मानवता की प्रतिष्ठा की बहाली के लिए परिणामदायी कार्य किये।

राज्य के व्यय

राजा का कर्तव्य होता है कि वह हर कार्य में प्रजा-हित को सर्वोपरि रखे। सूतकृतांग सूत्र में कहा गया है कि श्रेष्ठ राजा पीडित प्राणियों का रक्षक होता है। वह प्रजा के कल्याण के लिए नैतिकता और मर्यादा की स्थापना करता है। वह सेतु, पुल, नहर, पथ आदि का निर्माण करवाता है। व्यापार, वाणिज्य और कृषि की उचित व्यवस्था करता है। चोर, लुटेरों, उपद्रवियों तथा रोग, अकाल व महामारी से राज्य की रक्षा करता है।¹³

जन-कल्याण

राजा को प्रजा का पालक कहा गया है। अन्तकृतदशा सूत्र के अनुसार वासुदेव श्रीकृष्ण ने घोषणा करवाई थी कि जो भी व्यक्ति दीक्षा लेना चाहे, वह दीक्षा ले सकता है। उसके परिवार के भरण-पोषण की सारी समुचित व्यवस्था राज्य की ओर से की जायेगी।¹⁴ राजप्रश्नीय सूत्र के अनुसार राजा प्रदेशी श्रमण केशीकुमार का अनुयायी बन जाने के बाद अपने अधीनस्थ सात हजार गाँवों की आय का चौथाई भाग दान देने में व्यय करने लगा था।¹⁵ कलिंग नरेश खारवेल अपनी प्रजा के लिए प्रचुर धन व्यय करता था।¹⁶ इससे लगता है कि उस समय जिन राज्यों या राजाओं पर श्रमण परम्परा का प्रभाव था, वहाँ राजस्व का अधिकांश भाग अधिकतम प्रजा हित पर व्यय होता था। अनुत्पादक और सैन्य खर्च घट जाता था। जिसका प्रभाव बाद में भी देखा जाता है। इससे राज्य और प्रजा की समृद्धि पर अनुकूल असर होता था।

शासन व्यवस्था

राज्य की व्यवस्थाओं को संभालने के लिए शासकीय और प्रशासकीय अधिकारियों और कर्मचारियों पर काफी व्यय होता था। ग्रन्थों में युवराज, श्रेष्ठी, अमात्य, पुरोहित, गणनायक, दण्डनायक, राजेश्वर, सेनापति, तलवार, मांडविक, कौटुम्बिक, मंत्री, महामंत्री, भण्डारी, गणक, द्वारपाल, अंगरक्षक, दूत, संधिपाल आदि राज कर्मचारियों और अधिकारियों के उल्लेख मिलते हैं।¹⁷ इन कर्मचारियों

और अधिकारियों के वेतन पर राज्य का बहुत बड़ा भाग खर्च होता था। इससे राजकीय सेवाओं में पर्याप्त रोजगार के अवसरों का पता चलता है। अनुचर से लगाकर अधिकारी वर्ग तक राजकीय सेवाओं में होते थे।

न्याय प्रणाली का संचालन भी राज्य के पास था। स्थानांग सूत्र के अनुसार आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा के लिए देश में उचित न्याय व्यवस्था थी।³⁸ न्यायाधिकारियों पर भी राज्य का व्यय होता था। कहीं निष्पक्ष तो कहीं पक्षपातपूर्ण न्यायिक व्यवस्था के उदाहरण मिलते हैं।³⁹ गलत दण्ड के कारण कई बार निर्दोष दण्डित हो जाते हैं और अपराधी साफ छूट जाते हैं। भगवान महावीर झूठी साक्षी देने का निषेध करते हैं।⁴⁰

सैन्य व्यवस्था

सेना पर भरी भरकम खर्च उस समय भी किया जाता था। कभी नारियों के लिए तो कभी साम्राज्य-विस्तार के लिए या कभी किसी और कारण से राजाओं में युद्ध छिड़ जाता था। अधिकतर युद्ध तो प्रतिष्ठा और शक्ति-प्रदर्शन के लिए लड़े जाते थे। महज हार और हाथी के लिए ऐसा भयानक युद्ध लड़ा गया कि उसमें बड़ी संख्या में सैनिकों को अपनी जान की बाजी लगानी पड़ी।⁴¹ इसके लिए राज्य के पास चतुरंगिणी सेना होती थी - रथ, अश्व, हस्ति और पदाति सेना। स्थानांग में तो भैंसों की सेना का भी उल्लेख है।⁴² यहाँ तक कन्या को दहेज के रूप में भी इन वस्तुओं को दिया जाता था।⁴³ सेना के इतने बड़े तामझाम, सैनिक, हाथी, घोड़े, रथ, शस्त्रास्त्र आदि पर बहुत राशि खर्च होती थी। अनेक प्रकार के युद्ध, अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र और अनेक प्रकार की व्यूह-रचनाएँ होती थीं। राजप्रशनीय सूत्र के अनुसार कैकयाद्ध नरेश प्रदेशी राज्य की आय का एक चौथाई सेना पर व्यय करता था।⁴⁴ सम्राट खारवेल ने 1135 स्वर्ण-मुद्राएँ खर्च करके चतुरंगिणी सेना बनाई थी।⁴⁵ सैन्य-व्यवस्था आत्म-रक्षा और राज्य की सुरक्षा के लिए होती थी। आक्रमण करने के लिए नहीं। भगवान महावीर युद्ध, आक्रमण और साम्राज्यवादी मनोवृत्ति को अनुचित ठहराते हैं। उनका दर्शन अयुद्ध और अनाक्रमण का है। न्याय-नीति पर चलने वाले व्रती नरेश मैत्री और विकास पर ध्यान केन्द्रित करते थे। राजा श्रेणिक और कूणिक के राज्य में सन्धिपाल होते थे, जिनका कार्य अन्य राजाओं से मैत्री स्थापित करना और उसे कायम रखना होता था। सार्धवाह व्यापारिक सम्बन्धों से मैत्री स्थापित करते थे।⁴⁶

अन्य व्यय

लम्बा चौड़ा राज्य और उसमें विभिन्न प्रकार की प्रजा निवास करती थी। राज्य के आकस्मिक व्यय भी बहुत होते थे। विलासी राजाओं के बारे में भी सूचनाएँ मिलती हैं। उनके अन्तःपुर पर भी आश्चर्यजनक व्यय होता था। राजप्रश्नीय सूत्र के अनुसार कैकयाद्ध नरेश प्रदेशी राज्य की आय का एक चौथाई अन्तःपुर पर व्यय करता था।¹⁷ जैन धर्म का पालन करने वाले राजा विलासी और सुविधा भोगी नहीं होते थे। इसलिए उनके अन्तःपुर पर अनावश्यक व्यय नहीं होता था। अनेक राजा उनके पुत्रों को राज्य सौंप कर मुनि जीवन अंगीकार कर लेते थे।

राज्य-संचालन में अर्थ की केन्द्रीय भूमिका होती है। राज्य की उन्नति-अवनति उसके आर्थिक प्रबन्धन पर टिकी हुई होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शासन, प्रशासन और सैन्य व्यवस्था के साथ-साथ राज्य लोक-कल्याणकारी कार्यों में भी गहरी रुचि लेता था। कोई भी राजा अपने शासन काल में अच्छे और स्थायी महत्व के कार्यों से ही यशस्वी हो सकता था और राजाओं का यह प्रयास रहता था। राजाओं के द्वारा किये गये कालजयी कार्य आज इतिहास बन गये हैं।

सन्दर्भ

1. उपासकदशांग प्रथम अध्ययन
2. प्रश्नव्याकरण 2/13
3. व्यवहार सूत्र 9/17-18
4. आवश्यकचूर्णि भाग 2, पृ.-8
5. बृहत्कल्पभाष्य 2/1092
6. कौटिलीय अर्थशास्त्र 2/1/19
7. भगवती सूत्र 11/11/429
8. जैन, कमल (डॉ.), प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन, पृ.-165
9. आदिपुराण 16/254
10. नीतिवाक्यामत 8/11
11. जैन, जगदीश चन्द्र (डॉ.) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 111-112
12. पिण्डनिर्युक्ति गाथा 47
13. बृहत्कल्पभाष्य 3/4770
14. निशीथभाष्य 16.5156
15. ज्ञाताधर्मकथांग 4/43
16. निशीथचूर्णि 4.6519
17. 'सुंकादीपरिसुद्धे, सइलभे, कुणइ वणिओ चिट्ठं'- बृहत्कल्पभाष्य 2.952
18. देखें, ज्ञाताधर्मकथांग अध्ययन पहला, पाँचवाँ, आठवाँ, तेरहवाँ।
19. जैन, जगदीश चन्द्र (डॉ.) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ.- 113
20. उत्तराध्ययन सूत्र 14/37
21. व्यवहार भाष्य 7/418

22. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति 2/13, 3/18
23. खारवेल का हाथीगुंफा शिलालेख पंक्ति 13
24. ज्ञाताधर्मकथांग प्रथम अध्ययन
25. जैन, जगदीश चन्द्र (डॉ.) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ.-116
26. निशीथचूर्णि 4.6296
27. उम्मुक्कं उक्करं उक्कट्टं अदिज्जं अभडप्पवेसं अदण्डकोदंडिम - कल्पसूत्र 99
28. उस्सुकं उक्करं कृकृ दसदिवसियं करेह कारवेह य। - ज्ञाताधर्मकथांग 1/61
29. ज्ञाताधर्मकथांग 17/17
30. राजप्रश्नीय सूत्र 48
31. रायवेट्टिं व मन्नन्ता - उत्तराध्ययन 27/13
32. आदिपुराण 16/168
33. सूत्रकृतांग सूत्र 2/1/643
34. अन्तकृतदशा सूत्र पंचम अध्ययन
35. राजप्रश्नीय सूत्र 83
36. हाथीगुंफा शिलालेख पंक्ति 14-16
37. औपपातिक सूत्र 40, प्रश्नव्याकरण 4/8, ज्ञाता.1/24
38. ठाणांग 7/66
39. उत्तराध्ययन 9/30
40. आवश्यक सूत्र दूसरा व्रत
41. व्याख्याप्रज्ञप्ति, निरायावलिका, आवश्यकचूर्णि।
42. व्याख्याप्रज्ञप्ति 7/9/7, स्थानांग सूत्र 5/57
43. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति 3.41-71

44. रजप्रश्नीय सूत्र 43
45. हाथीगुंफा अभिलेख पंक्ति 4
46. अनुयोगद्वार सूत्र 15
47. रजप्रश्नीय सूत्र 83

अध्याय तृतीय : जैन आगमों में आर्थिक जीवन

परिच्छेद एक

प्राथमिक उद्योग व कृषि

परिच्छेद दो

पशुपालन

परिच्छेद तीन

उद्यानिकी, वानिकी और खनन

परिच्छेद चार

द्वितीयक उद्योग

परिच्छेद पाँच

व्यापार, व्यवसाय और वाणिज्य

परिच्छेद छः

आयात-निर्यात

प्राथमिक उद्योग व कृषि

संसार के सभी प्राणी कुदरती जीवन चक्र के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु मानव ने हर क्षेत्र में नियमबद्ध व्यवस्थाओं को स्थापित किया है। इनमें आर्थिक गतिविधियाँ प्रमुख हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने कर्मभूमि के आरम्भ में मनुष्य जाति को आर्थिक जीवन की शिक्षाएँ दीं। आगमों में आर्थिक जीवन को स्पष्ट करने वाली बातें और घटनाएँ यत्न-तत्न बिखरी पड़ी हैं। इन गतिविधियों को निम्नानुसार वर्गीकृत कर सकते हैं -

1. प्राथमिक उद्योग - कृषि, पशुपालन, उद्यानिकी, वानिकी, खनन आदि।
2. द्वितीयक उद्योग - गृह-कुटीर उद्योग, लघु और बड़े उद्योग।
3. व्यापार व वाणिज्य - स्वदेशी-विदेशी व्यापार, आयात-निर्यात आदि।

इन सबका आगमों के सन्दर्भ में विवेचन प्राचीन भारत का दिग्दर्शन करेगा।

कृषि

भारत गाँवों का देश है। वर्तमान में यहाँ करीब 7 लाख गाँव हैं। गांधीजी के अनुसार गाँवों में भारत की आत्मा निवास करती है। कृषि अथवा खेती-बाड़ी ग्रामीण अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार है। कृषि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए आधारभूत उद्योग है। अधिकतम उद्योग प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर आधारित होते हैं। भारत की 65 से 70 प्रतिशत आबादी कृषि पर निर्भर है। आज से हजारों वर्ष पहले आजीविका का मुख्य स्रोत कृषि ही था। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने सभ्यता के आरम्भ में कृषि का सूत्रपात किया। भारत दुनिया का सबसे पहला किसान-मुल्क है और कृषि-कार्य सभ्यता की प्रथम सीढ़ी है।

जैन आगमों में कृषि को आर्य-कर्म कहा गया है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में बताया गया है कि भगवान ऋषभदेव ने प्रजा-हित के लिए सुख-सुविधा के लिए कृषि आदि का उपदेश दिया था - *पयाहियाए उवदिसई*। उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य में आर्य कर्म में कृषि को भी गिनाया है - कर्मर्याः यजनायाजनाध्ययनाध्यापन कृषिवाणिज्योनिपोषण वृत्तयः^१ भगवान महावीर के

मुख्य श्रावक आनन्द गाथापति का प्रमुख व्यवसाय कृषि-कार्य था। उसके पास 500 हल-प्रमाण से भी अधिक कृषि भूमि थी, जिसकी उसने 500 हल-प्रमाण तक मर्यादा कर ली थी। उस भूमि पर कृषि-कार्य होता था। एक हल से निवर्तन (40,000 वर्ग हाथ) भूमि जोती जा सकती थी।^१ भरत चक्रवर्ती का गाथापति रत्न भी कृषि-कार्य करवाता था।^१ कृषि को जीवनदायिनी मानकर लोग कृषि-उपकरणों की पूजा भी करते थे।^१

कृषि-भूमि

कृषि का इतना विकास था कि कृषि से सम्बन्धित अनेक प्रयोग और प्रक्रियाएँ सम्पन्न की जाती थी, जिससे पैदावार बढ़े। लोगों को कृषि-भूमि, खाद और मिट्टी का ज्ञान था। उस समय की कृषि किसी भी प्रकार के रासायनिक और अप्राकृतिक खादों, कीटनाशकों आदि से रहित थी, इसलिए स्वास्थ्य, पर्यावरण और अहिंसा की दृष्टि से उपयुक्त थी। काली मिट्टी वाली भूमि उपजाऊ और कृषि योग्य मानी जाती थी जबकि पथरीली और ऊसर भूमि में खेती नहीं की जाती थी।^१ लोग कृषि-ज्ञान से सम्पन्न थे।

कृषि और ग्राम्य अर्थव्यवस्था

प्राचीन भारत में गाँवों की संख्या वर्तमान से कई गुना अधिक थी। गाँव, कृषि और पशुपालन परस्पर जुड़े हुए थे। पशुपालकों के गाँव को "घोश" कहा जाता था। अनाज को एकत्रित और सुरक्षित करने के लिए जंगल में तथा पहाड़ी पर लघु-गाँव बसाये जाते थे, उन्हें "सम्बाध" या "संवाह" कहा जाता था। जिन गाँवों के चारों ओर मिट्टी की प्राचीर बनाई जाती थी, उन्हें "खेट" कहा जाता था। सुरक्षा और सुविधा की दृष्टि से कुछ गाँवों के बीच एक केन्द्रीय गाँव बनाया जाता था, जो नगर से छोटा और आसपास के गाँवों से बड़ा होता था, ऐसे केन्द्रीय गाँव को "खर्वट" कहा जाता था। इसके चारों ओर भी मिट्टी की प्राचीर होती थी।^१ कौटिल्य ने 200 गाँवों के बीच एक "खर्वट" बनाने के लिए कहा है।^१ जिन गाँवों के आसपास बहुत दूर तक कोई गाँव नहीं हो, उसे "मंडब" कहा जाता था।^१ बृहत्कल्पभाष्य में आदर्श गाँव की विशेषताएँ बताई गई हैं -

- जहाँ पानी के लिए कुआँ, सरिता, सरोवर या पर्याप्त जल-स्रोत हों,
- आसपास खेत हो,
- पशुओं के लिए चरागाह हो,

- निकट में वन-उपवन हो,
- खेलने के लिए मैदान हो तथा
- घूमने के लिए स्थान हो ?

नदी, वन, पहाड़, देवस्थान, उद्यान, वृक्ष, श्मशान आदि गाँवों के सीमा-चिह्न माने जाते थे।¹⁰ व्यवसाय और समुदाय के अनुसार भी गाँव बस जाते और उनका नामकरण हो जाता था। जैसे वैशाली तीन भागों में विभक्त थी - बंभण-गाम, खत्तियकुण्ड-गाम और वाणियगाम। इनमें क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वणिक लोगों का बाहुल्य था।¹¹ गाँवों की अपनी व्यवस्था होती थी। वे आत्म-निर्भर और स्वावलम्बी होते थे। सभी जातियों और वर्णों के व्यक्ति सौहार्दपूर्वक अपना जीवन जीते थे। यहाँ तक पशु-पक्षियों के बीच भी आत्मीय रिश्ता होता था। पर्यावरण और पारिस्थितिकी का ध्यान रखा जाता था। व्यस्त बाजार वाले व्यापारिक गाँव 'निगम' तथा औद्योगिक गाँवों के निकट बनने वाले गाँव 'द्वारगाम' कहलाते थे। गाँवों के इस प्रकार के वर्गीकरण के उल्लेख से उस समय की विकसित अर्थव्यवस्था, ग्राम और नगर व्यवस्था का पता चलता है।¹² कृषि के साथ-साथ गृह और कुटीर उद्योग भी ग्रामीण अर्थव्यवस्था के आधार थे।

खेतों की रक्षा

खेतों की बाड़ बनाना, माप करना, रक्षा करना आदि कृषि के अंग थे। खेतों को मापने वाले रज्जुक कहलाते थे। उनका कार्यालय रज्जुक सभा कहलाता था। रज्जुक संभवतः आज के पटवारी की भाँति राज्य-कर्मचारी होते थे। जो भूमि मापन, प्रबन्धन और नियमन किया करते थे। भगवान मंहावीर अपने अन्तिम वर्षाकाल में पावा की रज्जुक सभा में ठहरे थे।¹³

खेतों की रक्षा के लिए कृषक-बालिकाएँ 'टिट्टि-टिट्टि' चिल्लाकर पशु-पक्षियों को एवं लाठी मारकर साण्डों को भगाया करती थी। सूअर आदि जंगली जानवरों की रक्षार्थ सींग आदि बजाया जाता था।¹⁴ भगवान महावीर को ऋजुबालिका नदी के किनारे श्यामक गृहपति के कठुकरण खेत में कैवल्य की प्राप्ति हुई थी। खेतों की रक्षा के लिए बाड़ लगाई जाती थी। क्षेत्रपाल नियुक्त किये जाते थे।¹⁵ लोगों की हैसियत के अनुसार भिन्न-भिन्न आकार के खेत होते थे। साधारण किसानों के खेत छोटे होते थे।¹⁶ मगध देश के एक कुटुम्ब के खेत इतने बड़े थे कि उनमें 500 हलवाहें काम करते थे।¹⁷

फसलें

आचारांग में बताया गया है कि शाक-सब्जी के खेतों में, बीज प्रधान खेतों में तथा शालि, ब्रीहि, माश, मूंग, कुलत्थ, जौ-ज्वार आदि धान्यों के खेतों में साधु मल-मूत्रादि का विसर्जन नहीं करें।¹⁸ सूतकृतांग में शालि, ब्रीहि, कोद्रव (एक प्रकार का धान्य), कांगणी, परक, राल आदि प्रकार के धान्यों के खेतों का वर्णन है। वर्ष में दो और तीन फसलें प्राप्त की जाती थीं।¹⁹

चावल (शालि) की खेती उस समय बहुत की जाती थी। ज्ञाताधर्मकथांग में रोहिणी को प्रदत्त पाँच चावल के दाने रोहिणी के पीहर में अलग से बोये जाते हैं और पाँच वर्ष बाद श्वसुर धन्य सार्थवाह द्वारा पुनः माँगने पर गाड़ियाँ भरकर लौटये जाते हैं।²⁰ भारत के पूर्वीय प्रान्तों में कमलशालि (उत्तम जाति के बासमति चावल)²¹ पैदा होते थे। रक्तशालि, महाशालि और गंधशालि आदि अनेक प्रकार की चावलों की किस्में होती थीं।²² शालि के अलावा ब्रीहि और अणु शब्द चावल की और अन्य किस्मों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। लोग विधि पूर्वक खेती करते थे, जिससे फसल अच्छी और भरपूर होती थी। अन्य बहुत प्रकार के धान्यों और चीजों की खेती की जाती थी।

विभिन्न धान्य

प्राचीन जैन ग्रन्थों में सत्रह प्रकार के धान्यों का वर्णन है²³— ब्रीहि (चावल), यव (जौ), मसूर, गोधूम (गेहूँ), मुद्ग (मूंग), माब (उड़द), तिल, चणक (चना), अणु (चावल का एक प्रकार), प्रियंगु (कंगनी), कोद्रव (कोदों), अकुष्ठक (कुट्ट), शालि (चावल), आढकी, कलाय (मटर), कुलत्थ (कुलथी) और सण (सन)। अन्य धान्यों में निष्पाप, आलिसंदग (सिलिन्द), सडिण (अरहर), पलिमंथक (काला चना), अतसी (अलसी), कुसुम्ब (कुसुम्बी), कंगु, रलगा (कंगु की एक प्रजाति) सशप (सरसों), हिरिमंथ (गोल चना), बुक्कस, पुलाक (निस्सार अन्न) आदि सम्मिलित हैं। इन धान्यों में किसी-न-किसी रूप में करीब सभी प्रकार के धान्य, दलहन और तिलहन समाहित हो जाते हैं। ये धान्य विभिन्न वातावरण, मौसम और भूमि के अनुसार उगाये जाते थे। इससे विभिन्न परिस्थितियों में कृषि की समृद्ध परम्परा का पता चलता है।

मसालें

ग्रन्थों में अनेक प्रकार के मसालों के वर्णन मिलते हैं। यथा— शृंगवेर (अदरक), सुंठ (सूंठ), लवंग (लौंग), हरिद्रा (हल्दी), बेसन (जीरकलवणादि),

मरिय (मिर्च), पिप्पल (पीपल), सरिसवत्थग (सरसों), जीरा, हींग, कपूर, जायफल, प्याज, लहसून आदि¹⁴ इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि विभिन्न मसालों की खेती की जाती थी। कुछ मसालों मुख्यतः भोजन को स्वादिष्ट बनाने और कुछ औषधीय दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं। भारत में आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति मुख्यतः वानस्पतिक रही है। उस समय के व्यक्तियों को मसालों के साथ अनेक प्रकार की जड़ी-बूटियों और वनस्पतियों तथा उनके उपयोग का पता था।

गन्ना

चावल की भाँति गन्ना (उच्छु) भी मुख्य फसलों में माना जाता था। गन्ने की खेती होती थी और वृहद् स्तर पर नियमित रूप से होती थी¹⁵ गुड़, शक्कर और खाण्डसारी उद्योग गन्ने की खेती पर ही निर्भर होने से गन्ने का अर्थशास्त्रीय महत्व पर्याप्त था। भगवान श्री ऋषभदेव का प्रथम पारणा ईक्षु रस से ही हुआ था। शास्त्रों में ईक्षु गृहों के उल्लेख मिलते हैं, जिनमें साधु-साधवियों के ठहरने के उल्लेख भी मिलते हैं। मत्स्यण्डिका, पुष्पोत्तर और पद्मोत्तर नाम की शक्करों का उल्लेख मिलता है¹⁶ ईख के साथ कद्दू बोया जाता था और लोग उसे गुड़ के साथ खाते थे¹⁷

कपास

समाज की वस्त्र आवश्यकता की पूर्ति के लिए कपास की खेती भी मुख्य धन्धा था। समूचा वस्त्र उद्योग कपास की खेती पर ही निर्भर था। कपास को तुलकड़, कपास और फलही कहा जाता था। वानस्पतिक रेशम और ऊर्णा (ऊन), क्षौम (छालरी) और सन की फसलें होती थी¹⁸ सूतकृतांग में शालि अथवा शाल्मलि वृक्ष का उल्लेख मिलता है, जिससे रेशमी सूत प्राप्त होता था¹⁸

साग-सब्जियाँ और अन्य

बैंगन, ककड़ी, मूली, पालक (पालंक), करेल (करेल), कन्द (आलुग), सिंघाड़ा (शृंगारक), सूरण, तुम्बी, मूली, ककड़ी आदि तरह-तरह की सब्जियाँ बोई जाती थीं। ताम्बूल (पान), पुगफली (सुपारी), सीतल चीनी (कक्कोल) आदि का उपयोग होता था। वृक्ष, गुल्म, गुच्छ, लता, वल्लि¹⁹ आदि के उल्लेख विविधतापूर्ण कृषि और वृक्ष-खेती को स्पष्ट करते हैं।

भण्डारण

धान्य को सुरक्षित रखने के लिए भी रोचक तरीके अपनाये जाते थे। ऋतुधर्मकथांग²⁰ के अनुसार वर्षा ऋतु में धान्य को घड़ों में, दोरों में, मंच, टण

अथवा घर के ऊपर बने कोठों में रखा जाता था। इन कोठों अथवा घड़ों को मिट्टी और गोबर से लीप-पोतकर बन्द कर दिया जाता था और ऊपर पहचान के लिए मुहर भी लगाई जाती थी।³¹ भण्डारण इतना वैज्ञानिक था कि धान्य की अंकुरण-शक्ति वर्षों तक बनी रहती थी।³²

कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी ऐसे भण्डारणों का उल्लेख मिलता है, जो वर्षा, आंधी और किसी प्रकार की आपदाओं से अप्रभावित रहते थे।³³ अनुयोगद्वारा सूत्र³⁴ में धान्य-भण्डारण के लिए मिट्टी के बड़े-बड़े भाण्डों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है, जिनमें **मुख**, **इदुर** - सूत या बालों की बनी बोरी, **आलिन्द** - धान्य रखने का बर्तन विशेष और **उपचारि** - (ओचार) विशाल कोठार सम्मिलित हैं।

भण्डारण से पूर्व धान्य की कटाई, खलियान पर लाना और साफ करने की जो विधियाँ बताई गई हैं, वे आज भी पारम्परिक कृषि में गाँवों में अपनाई जाती हैं। फसल काटने को 'असिसहि' कहा गया जाता था।³⁵ कटाई का कार्य स्वयं किसान द्वारा किया जाता था और अधिक होने पर दूसरे व्यक्तियों से भी करवाया जाता था।³⁶ काटने के बाद धान्य खलवाड़ (खलिहान) पर लाया जाता, उसकी मड़ाई की जाती तथा उड़ावनी से उसे साफ किया जाता था। राजप्रशनीय सूत्र³⁷ में एक खलिहान के सुन्दर दृश्य का वर्णन आया है। एक तरफ धान्य के ढेर लगे हुए हैं, दूसरी तरफ उड़ावनी हो रही है और रक्षक पुरुष भोजन कर रहे हैं। स्पष्ट है कि स्त्रियाँ, बच्चे और बूढ़े, सभी खेती-बाड़ी में सहयोग करते थे।

कृषि-उपकरण

आगम-युग में कृषि प्रमुख धन्धा होने से उत्कर्ष पर था। कृषि के निमित्त से तथा कृषि के आसपास अनेक उद्योग विकसित थे। अनेक प्रकार के कृषि उपकरणों और औजारों का वर्णन शास्त्रों में प्राप्त होता है। व्याख्या प्रज्ञप्ति में तैयार फसलों को काटने के लिए 'असिड' का उल्लेख है।³⁸ ज्ञाताधर्मकथा और निशीथ चूर्ण में द्राँति और हँसुए से फसल काटने का उल्लेख है।³⁹ प्रश्न व्याकरण में हल, कुलिय, कुदाल, कैंची, सूप, पाय, मेढी आदि कृषि उपकरणों का उल्लेख है। खेती के लिए हल, कुलिय और दन्तालग इन तीन प्रकार के हलों का प्रयोग किया जाता था। हल चलाने के बाद भी जो भूमि कड़ी रह जाती थी उसे कुदाल से तोड़ा जाता था।⁴⁰

खाद

जैसा कि बताया गया कृत्रिम-खाद की आवश्यकता ही नहीं थी और उपलब्धता भी नहीं थी। पिण्डर्नियुक्ति⁴¹ में बताया गया है कि गोब्बर गाँव की शालि अच्छी मानी जाती थी। संभवत वहाँ कृषि और पशुपालन होने से गोबर की सुलभता और गोबर-खाद का प्रयोग खूब होता होगा इसलिये गाँव का नाम ही गोब्बर पड़ गया और वहाँ की उपज भी अच्छी मानी जाने लगी। वृक्षों के पत्तों, गन्ने के पत्तों, ऊँट की लेड़ी आदि भी खाद बनाने के लिए काम में आती थी। जिन खेतों की उर्वर-शक्ति कम हो जाती थी, किसान खाद और कूड़े के ढेर को खेतों में बिछाते थे। पशु की हड्डियों और सींगों का उपयोग भी खाद के लिए किया जाता था।⁴²

जुताई और बुवाई

कृषि का आरम्भ भूकर्षण से होता था। बुवाई से पूर्व भूमि को जोतकर तैयार करने को भूकर्षण कहा गया है। कुछ विद्वानों ने 'फोडीकम्म' कर्मादान को जुताई से जोड़ दिया, जो अर्थसंगत और तर्कसंगत नहीं है। उपासकदशांग सूत्र टीका में खान खोदने और पत्थर फोड़ने को फोडी-कर्म कहा है।⁴³ योगशास्त्र और त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित्र में तालब व कुएँ आदि को खोदने, शिलाओं को तोड़ने आदि को फोडी-कर्म बताया गया है।⁴⁴

चम्पानगरी के खेतों की भूमि सैकड़ों हलों से जोती जाती थी। इससे खेतों की मिट्टी भुरभुरी और कंकड़-पत्थरों से रहित हो गई थी।⁴⁵ उस समय के व्यक्तियों को अच्छे बीजों का भी ज्ञान था। बीजों की गुणवत्ता बनाये रखने का किसान पूरा ध्यान रखते थे तथा बुवाई के लिए श्रेष्ठ बीजों का उपयोग करते थे।⁴⁶ स्थानांग-सूत्र में बुवाई की चार विधियाँ बताई गई हैं-

1. वापिता : बीज को एक बार बोना।
2. परिवापिता : पौधे को एक स्थान से उखाड़कर पुनः रोपित करना। यह प्रविधि आज भी प्रयुक्त होती है।
3. निदिता : खेतों में से घास आदि निकालकर बुवाई करना।
4. परिनिदिता : अंकुरण से फसल प्राप्ति तक समय-समय पर खरपतवार हटाना। आज भी इस प्रकार की पद्धतियाँ अपनाई जाती हैं। खेतों में बीज-वपन इस प्रकार किया जाता था कि अंकुरण ठीक प्रकार से हो सके।⁴⁷

ज्ञाताधर्मकथांग के सातवें रोहिणी अध्ययन में चावल के पाँच दानों से गाड़ियाँ भर कर चावल उगाने में बुवाई से लेकर कटाई और भण्डारण तक का जो वर्णन प्राप्त होता है, वह उस समय की कृषि की उन्नत और वैज्ञानिक अवस्था को दर्शाता है। अच्छी सुगन्धित और उन्नत किस्म के चावल का वैसा बम्पर उत्पादन बिना विशेष कृषि-ज्ञान और निपुणता के संभव ही नहीं था। धान्य-संवर्द्धन की इस तकनीक को वैज्ञानिक बताते हुए जर्मन विद्वान गुस्तव रोथ ने रोहिणी कथानक 'दि सिमिलीज ऑफ दि एण्ट्रस्टेड फाइव-राइस-ग्रैन्स एण्ड देयर पैरैलल्स' शीर्षक से पूरा शोध-आलेख लिखा और प्राचीन भारत की कृषि-प्रणाली की तारीफ की।⁴⁸

सिंचाई

सिंचाई के भी अनेक तरीके अपनाये जाते थे। सिंचाई की दृष्टि से दो प्रकार के खेतों का उल्लेख है- सेतु और केतु। जिन खेतों में सिंचाई की आवश्यकता होती वे सेतु और वर्षा पर निर्भर रहने वाले खेत केतु कहलाते थे।⁴⁹ इससे स्पष्ट होता है कि सिंचाई का पर्याप्त प्रबन्धन था। सिंचाई के लिए पुष्करिणी, बावड़ी, कुआँ, तालाब, सरोवर आदि बनाये जाते थे।⁵⁰ नदियों का पानी रोककर बांध बनाने के उल्लेख भी मिलते हैं। विमलसूरि के अनुसार बाँधों पर आवश्यकतानुसार पानी रोका जाता और छोड़ा जाता था।⁵¹ बाँधों और नदियों से छोटी-छोटी नहरें निकाली जाती और उन नहरों से कृषक सिंचाई करते थे।⁵² किसान सिंचाई के लिए जल की चोरी भी कर लेते थे। वसुदेवहिण्डी के अनुसार सिंचाई-जल के प्रवाह को मोड़कर उसकी चोरी कर ली जाती थी तथा अपराध सिद्ध होने पर पानी की इस चोरी के लिए कहीं-कहीं चोर को राजकीय-दण्ड भी दिया जाता था। क्षेत्र और भौगोलिक स्थितियों के अनुसार सिंचाई के साधन भी अलग-अलग थे। बृहत्कल्पभाष्य⁵³ के अनुसार लट देश (पश्चिमी भारत) में मुख्यतः वर्षा-जल से, सिन्धु देश (पूर्व-पश्चिमी भारत) में नदी-जल से, द्रविड़ (दक्षिण भारत) में तालाब से तथा उत्तरी भारत में कुएँ के जल से सिंचाई की जाती थी। इसी प्रकार बाढ़ के जल को भी सिंचाई में उपयोग कर लिया जाता था। कानन द्वीप में जलाधिव्य की वजह से नावों पर खेती करने का रोचक वर्णन है।⁵⁴ आज भी कश्मीर की डल-झील में लकड़ी के पाटों पर मिट्टी डालकर खेती की जाती है, ऐसे 'खेतों' को चलते-फिरते खेत कहा जाता है।⁵⁵

राज्य द्वारा सिंचाई-प्रबन्धन का कोई विशेष उल्लेख आगम ग्रन्थों में तो नहीं मिलता पर अन्य स्रोतों से यह पता चलता है कि राज्य द्वारा भी सिंचाई की व्यवस्थाएँ की जाती थीं। विश्ववर्मन के गंगधर प्रस्तर लेख में राज्य द्वारा निर्मित जलाशय, कूप, वापी, प्रपा (प्याऊ), सरोवर, तड़ाग आदि जल-स्रोतों के उल्लेख मिलते हैं, जिनसे सिंचाई की जाती थी।⁶⁶ रूद्रदामन के गिरनार शिलालेख (लगभग 150 ई.) की 15वीं पंक्ति में मौर्यकालीन सौराष्ट्र के प्रशासक पुष्पमित्र द्वारा सुदर्शन सरोवर बनवाने का उल्लेख मिलता है। सरोवर से सिंचाई भी होती थी। एक बार अधिक-वर्षा से सरोवर का बांध टूट गया तो रूद्रदामन ने उसको पुनः बंधवाया। बाद में एक बार स्कन्दगुप्त ने इस बांध का जिर्णोद्धार करवाया था।⁶⁷ खारवेल के हाथीगुंफा अभिलेख के अनुसार कलिंग राजा खारवेल द्वारा बनवाई नहर से सिंचाई होती थी।⁶⁸

खेती पर आपदाएँ

कृषि अपने उत्कर्ष पर थी और वह उस समय का प्रमुखतम धंधा था। अधिकतर खेती बाड़ी मानसून पर निर्भर थी। इसलिए अतिवृष्टि और अनावृष्टि, दोनों ही स्थितियाँ जन-जीवन और अर्थव्यवस्था को झकझोर देती थी। अतिवृष्टि से तो वर्षाकालीन फसलें ही समाप्त होती थीं। जल की प्रचुरता से अन्य ऋतुओं की फसलें आसानी से हो जाती थीं। परन्तु अनावृष्टि की मार तो वर्षों तक रहती थी।

महानिशीथ के अनुसार दुष्काल में लोग बाल-बच्चों तक को बेच डालते थे तथा अनेक लोग ऐसे संकट के समय में दास-वृत्ति स्वीकार कर लेते थे।⁶⁹ आवश्यक चूर्ण, निशीथचूर्ण, व्यवहार भाष्य में अतिवृष्टि और बाढ़ से प्रलय और कृषि-हानि के वर्णन मिलते हैं।⁷⁰ इनके अलावा कीड़ों-मकोड़ों, जीव-जन्तुओं, हिमपात, पाले और ओलों से भी फसलों को नुकसान होता था।⁷¹ अपनी फसलों को नुकसान से बचाने के लिए लोग तरह-तरह के यत्न करते थे। हालाँकि पर्यावरण अच्छा होने से फसलों में बीमारियाँ कम लगती थीं।

राज्य की भूमिका

यूनानी यात्री मैगस्थनीज के अनुसार भारत में कृषि का इतना महत्व था कि खेती-बाड़ी करने वाले युद्ध और अन्य राजकीय सेवाओं से मुक्त रहते थे। उनकी सुरक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता था। यहाँ तक कि गृह युद्ध के समय सैनिकों को निर्देश होता था कि वे कृषि और कृषकों को कोई हानि नहीं पहुँचायें।⁷²

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार चक्रवर्ती सम्राट भरत के चौदह रत्नों में एक रत्न गाथापति होता था जो राज्य में कृषि की देखभाल करता था।^{१३} राज्य के द्वारा अन्न भण्डारों में सुरक्षित रखा जाता था और समय पर उसे प्रजा में वितरित किया जाता था। ओघनिर्युक्ति के अनुसार अकाल के समय एक राजा ने अपने कोष्ठागारों में से भोजन और बीज के लिए लोगों को अनाज वितरित किया। कृषि के विकास के प्रति राज्य का जागरूक रहना आवश्यक था। कोई व्यक्ति खेती के लिए राज्य से भूमि लेता और उस पर खेती नहीं करता तो उसकी भूमि छीन ली जाती थी।^{१४} कृषि और कृषकों के लिए राज्य की ओर से विशेष सुविधाएँ अनुमोदनीय हैं।

सन्दर्भ

1. नेमीचन्द्र (डॉ.), शाकाहार : मानव सभ्यता की सुबह, पृ. 61
2. ठाणांग 5/71, विस्तार के लिए देखें उपाध्याय अमर मुनि की पुस्तक 'अहिंसा दर्शन' के 24, 25 व 26वें अध्याय।
3. उपासकदशांग 1/28
4. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति 2/22
5. बहत्कल्पभाष्य 4.3647
6. वही 1.297, 338 एवं 4.489
7. बहत्कल्पभाष्य 2.1089, 1092
8. कौटिलीय अर्थशास्त्र 2/1/19
9. बहत्कल्पभाष्य 2.1098
10. आदि पुराण 16/167
11. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.), जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ.-116
12. जैन, दिनेन्द्र चन्द्र (डॉ.), इकोनोमिक लाइफ इन एंशेंट इंडिया एज डेपिक्टेड इन जैन कैनोनिकल लिटरेचर, पृ.-14
13. कल्पसूत्र 122
14. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.), जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ.-121
15. बहत्कल्पभाष्य 2.1156
16. व्यवहार भाष्य 7/443
17. उत्तराध्ययन चूर्णि गाथा-118
18. आचारांग सूत्र 2/10/300-301
19. पाणिनी, अष्टाध्यायी 4/2/49
20. ज्ञाताधर्मकथांग 8वाँ अध्ययन

21. आत्माराम, आचार्य, श्री उपासकदशांग सूत्रम् (1/35), पृ.-102
22. बहत्कल्पभाष्य 2.3301
23. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.), जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ.-123
24. आचारांग सूत्र 2/1/8.45, व्याख्याप्रज्ञप्ति 7/3/5 एवं प्रज्ञापना 1/23.31
25. उच्छु-जव-सालि-कलिया - औपपातिक सूत्र 1
26. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.), जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ.-125
27. वही पृ.-126
28. सूत्रकृतांग 6.18, प्रज्ञापना 1.23, उत्तराध्ययन 19.52
29. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.), जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ.-127
30. ज्ञाताधर्मकथांग 7/20
31. बहत्कल्पभाष्य 2.3
32. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र 14/7/51
33. कौटिलीय अर्थशास्त्र 25/41
34. अनुयोगद्वार सूत्र 144, 132
35. ज्ञाताधर्मकथांग 7/6
36. व्यवहार भाष्य 6/204
37. रायप्पसेणीय सूत्र-82 एवं ज्ञाताधर्मकथांग 7/19
38. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र 14/7/7
39. ज्ञाताधर्मकथांग 7/15
40. प्रश्नव्याकरण 1/17, 18 व 28
41. पिण्डनिर्युक्ति गाथा 118
42. जैन, कमल (डॉ.) प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन, पृ.-45
43. अभयदेव (आचार्य), उपासकदशांग टीका, पृ.-39

44. योगशास्त्र 3/105 एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुष 9/3/340
45. औपपातिक सूत्र 1
46. बहत्कल्पभाष्य 1.220
47. ठाणांग 4/576
48. जैन, दिनेन्द्र चन्द्र (डॉ.) इकोनोमिक लाइफ इन एंशेंट इंडिया, पृ.-17
49. बहत्कल्पभाष्य 1.826
50. आवश्यकचूर्णि 1.556
51. पउमचरिउं 10/35, 51
52. बहत्कल्पभाष्य 2.1061
53. वही 2.1239
54. जैन, कमल (डॉ.) प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन, पृ.-49
55. फैथफुल, फ्लैट, भारतीय अभिलेखों का संग्रह पृ.-96
56. नारायण, ए.के., प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह (2) पृ.-43
57. स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ शिलालेख
58. खारवेल के हाथीगुंफा अभिलेख पंक्ति-6
59. आवश्यकचूर्णि भाग-2
60. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.), जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ.-127
61. वही पृ.-128
62. जैन, कमल (डॉ.) प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन, पृ.-57-58
63. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति 2/22
64. कौटिलीय अर्थशास्त्र 2/1/19

परिच्छेद दो

पशुपालन

कृषि और पशुपालन का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। तब यान्त्रिक / मशीनी युग का आरम्भ नहीं हुआ था, इसलिए पशु कृषि और कृषकों के लिए अभिन्न मित की भाँति होते थे। आज इतने मशीनीकरण के बावजूद कृषि और यातायात में पशुओं की खासी भूमिका है। उस समय तो और अधिक थी। भारत के लिए कहा जाता है, यहाँ घी-दूध की नदियाँ बहती थीं। जब उपासकदशांग सूत पढ़ते हैं तो लगता है; सचमुच, यहाँ घी-दूध की प्रचुरता थी।

दस श्रावकों का पशुधन

उपासकदशांग में वर्णित दसों ही श्रमणोपासकों के पास विपुल पशु धन था, जिसमें गोधन प्रमुख था। पशुओं के समूह अथवा बाड़ेनुमा आवासस्थल को ब्रज (वय), गोकुल अथवा संगिल्ल कहा जाता था। एक ब्रज के में दस हजार गायें अथवा पशु रहते थे। इस श्रावकों के पशु-धन की संख्या निम्न थी :-

1. आनन्द	- चार ब्रज	= 40 हजार गौएँ
2. कामदेव	- छः ब्रज	= 60 हजार गौएँ
3. चुलनीपिता	- आठ ब्रज	= 80 हजार गौएँ
4. सुरादेव	- छः ब्रज	= 60 हजार गौएँ
5. चुल्लशतक	- छः ब्रज	= 60 हजार गौएँ
6. कुण्डकौलिक	- छः ब्रज	= 60 हजार गौएँ
7. सद्दाल पुत्र	- एक ब्रज	= 10 हजार गौएँ
8. महाशतक	- आठ ब्रज	= 80 हजार गौएँ
9. नन्दिनीपिता	- चार ब्रज	= 40 हजार गौएँ
10. सालिहीपिया	- चार ब्रज	= 40 हजार गौएँ

आचार्य आत्मारामजी ने 'गाय' शब्द को समस्त पशुधन का बोधक कहा है।^१ इस प्रकार हम देखते हैं कि एक व्यक्ति के पास भी चालीस, साठ और अस्सी-अस्सी हजार की संख्या में पशु-सम्पदा होती थी तो पशुपालन कितना व्यापक और प्रमुख धन्धा रहा होगा।

पशुपालन का उद्देश्य

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पशुपालन का मुख्य उद्देश्य दूध-प्राप्ति, भार ढोना, हल चलाना, यातायात आदि था। आज की भाँति 'मांस के लिए पशु-पालन' जैसी वीभत्स स्थितियाँ उस समय नहीं थी। मानव और पशु-पक्षियों के बीच पूर्ण सह-अस्तित्व का भाव था। भगवान महावीर की देशनाओं में पशुओं की समुचित देखभाल का निर्देश था।^१ उनके इस निर्देश का प्रभाव सम्पूर्ण जन-जीवन पर था। पशुओं को घास, दाना और पानी (तणपाणिय) दिया जाता। हाथियों को केले, ईक्षु और डण्ठल, भैसों को घास की कोमल पत्तियाँ, घोड़ों को घास, हरिमन्थ (काला चना), मूंग आदि तथा गायों को अर्जुन की पत्तियाँ भी खिलाई जाती थीं। गाय, भैस, बकरी, हाथी, घोड़ा, ऊँट, गधे, खच्चर आदि पशुओं को पाला जाता था। पालतू पशुओं के विस्तृत ज्ञान के लिए अनेक पुस्तकें उपलब्ध थीं।^२ पुरुषों की 72 कलाओं में हस्ती, गौ, अश्व आदि के भेद जानना भी सम्मिलित था।^३ समान खुर और पूँछ वाले, तुल्य और तीक्ष्ण सींग वाले, रजतमय घण्टियों वाले, सूत की रस्सी वाले, कनकखचित नाथ वाले और नीलकमल के शेखर से युक्त बैलों का उल्लेख मिलता है।^४ एक पशु के ही ऐसे वर्गीकरण से पशु सम्बन्धी विस्तृत ज्ञान के संकेत मिलते हैं। वसुदेवहिण्डी में राजा जितशतु का पशु-प्रेम दिग्दर्शित है। उनके दो गोमण्डलों में दो गोपालकों - चारूनन्दी और फगुनन्दी को नियुक्त कर रखा था। एक बार राजा जितशतु चारूनन्दी द्वारा रक्षित गोमण्डल में गया। अपने स्वस्थ-सुन्दर पशुओं को देखकर राजा प्रसन्न हो गया।^५ इस प्रकार राजाओं की उनकी अपनी गोशालाएँ होती थीं तथा राजा की गोशालाओं के पशु चिह्नित होते थे। अनाथ, सनाथ, स्वस्थ-रूग्ण सभी पशुओं के लिए उनमें चारा-पानी की व्यवस्था रहती थी।^६

दुग्ध और दुग्धोत्पाद व्यापार

गाय, भैस, बकरी, भेड़ और ऊँटनी दूध देने वाले पशु थे। दूध से दधि, छाछ, नवनीत, घृत आदि की प्राप्ति होती थी इन सभी दुग्ध उत्पादों को गोरस कहा जाता था। उस समय किसी ऑक्सीटोसीन इंजेक्शन का प्रचलन नहीं था। अतः दूध निर्दोष और पुष्टिकारक होता था। वह स्वास्थ्य और पोषण का आधार था। आभीर (अहीर) व्यक्ति मुख्य रूप से दूध-दही का व्यापार करते थे। उनकी अलग बस्तियाँ और गाँव होते थे।^७ पशुओं को चरने के लिए बड़े-बड़े चरागाह होते थे।

गोपालक अपने पशुओं को बहुत जिम्मेदारी और निपुणता से चराने ले जाते, लते और देखभाल करते।¹⁰ भगवान महावीर के साधनाकाल में प्रथम और अन्तिम दोनों उपसर्ग ग्वालों से जुड़े हैं।¹¹ दूध, घी और अन्य दुग्ध-उत्पादों के व्यापार के अनेक उल्लेख जैन-ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। यह भी एक प्रमुख व्यापार था। सम्भवतः, इसीलिए कहा जाता था कि इस देश में घी-दूध की नदियाँ बहती थी। परन्तु, वर्तमान में तो पानी की नदियाँ भी सूखी हैं।

भारवाहक पशु

पशु यातायात के मुख्य आधार थे। बैल कृषि सम्बन्धी और स्थानीय यातायात, घोड़े दूर-यात्रा, रोमांच और युद्ध, हाथी शाही-यात्रा और युद्ध, गधे सामान्य तबके के भार वाहक और ऊँट लम्बी दूरी तक ज्यादा भार ढोने के रूप में काम करते थे। इन पशुओं में स्वामी-भक्ति, मार्ग-स्मरण, किसी खतरे या आपदा का पूर्वाभास जैसे अद्भुत गुण होते थे। ऐसे गुण आज भी होते हैं।

हाथी

चिरकाल से हाथी मानव का साथी है। युद्धों में हाथियों ने इतने कौशल का परिचय दिया है कि अलग से हस्ती सेना हुआ करती थी। चक्रवर्ती के 18 करोड़ 84 लाख हाथी होने की आश्चर्यजनक जानकारी मिलती है। जहाँ हाथी जंगल का भीमकाय प्राणी है, वहीं उसे जंगलों से पकड़ कर प्रशिक्षित करके बड़े-बड़े काम करवाये जाते थे। भक्तामर स्तोत्र के 42 वें श्लोक में युद्ध में हाथी व घोड़े तथा 43वें में हाथी का रोमांचक वर्णन है। युद्ध में हार-जीत हाथियों पर भी निर्भर करती थी। हाथियों के लिए कठिन रास्ते भी आसान होते थे तथा वे नदियाँ भी पार कर लेते थे।¹² पिण्ड निर्युक्ति में गड़ढे खोदकर हाथियों को पकड़ने का वर्णन मिलता है।¹³ कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार हथिनी को एक स्थान पर बाँध कर भी हाथियों को आकर्षित करके पकड़ा जाता था।¹⁴

भेड़-बकरी-ऊँट

भेड़, बकरी और ऊँट भी पोषित पशु थे। निशीथ चूर्णि के अनुसार उष्ट्रपाल के पास 21 ऊँट थे।¹⁵ ऊँट से भार-वाहन, सवारी, दूध के अलावा उसके बालों से कम्बल आदि वस्त्रों का निर्माण किया जाता था। भेड़-बकरी के बालों से भी वस्त्र-निर्माण होता था।¹⁶ इसी प्रकार गधे भी भार-वाहक के रूप में सेवा करते थे। एक बार एक गधे पर कुम्हार ने क्षमता से अधिक मिट्टी के बर्तन ढोये। इससे

क्रुद्ध होकर गधे ने उन बर्तनों को फोड़ दिया।¹⁷ इन पशुओं के दूध में औषधीय गुण होने से उसका विभिन्न रोगों में विभिन्न रूपों में उपयोग किया जाता था।

मृत पशु की उपयोगिता

मरने के बाद भी पशु का एक-एक अंग काम आता था। चमड़ा, हड्डी, सींग, खुर आदि का उपयोग होता था। समाज का एक पूरा तबका मृत पशुओं के अंगों के व्यापार पर जीवित था। इनके आर्थिक महत्व के बारे में अन्यत्र विचार किया गया है। पशु जीवित तो उपयोग होता ही है, मरने के बाद भी उपयोगी होता है। हाथी के बारे में लोकोक्ति है - जीवित लाख का और मरने पर सवा लाख का।

पशुपालन के अलावा जैन ग्रन्थों में प्रसंग वश कुक्कुट-पालन और मत्स्यपालन के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। निशीथ चूर्ण और विपाक-सूत में मांसाहार और जीविका की दृष्टि से कुक्कुट मत्स्यपालन को अप्रशस्त, निन्द्य और निम्न कोटि का बताया गया है।¹⁸

कृषि और पशुपालन दोनों अन्योन्याश्रित हैं। पशु कृषि में सहयोग करते हैं और कृषि से पशुओं की आवश्यकताएँ आसानी से जुटाई जा सकती हैं। ये दोनों धन्धे प्राचीनकाल से भारतीय अर्थव्यवस्था ही नहीं अपितु सम्पूर्ण जन-जीवन का आधार बने हुए हैं। दूध, कृषि और यातायात के अलावा पशु-पालन से पर्यावरण व पारिस्थितिकी सन्तुलन, जमीन की उर्वरा-शक्ति और जैव-विविधता का संरक्षण भी सहज रूप से होता है।

सन्दर्भ

1. आत्मारामजी (आचार्य) सम्पादित उपासकदशांग, पृ.-366
2. वही, पृ.-78
3. बन्धे, वहे, छविच्छेए, अइभारे, भत्तपाण विच्छेअ का निषेध। देखें - आवश्यक सूत्र, प्रथम अणुव्रत के अतिचार।
4. नन्दी सूत्र 74
5. ज्ञाताधर्मकथांग 1/68
6. ज्ञाताधर्मकथांग तीसरा अध्ययन।
7. वसुदेवहिण्डी भाग 2
8. विपाकसूत्र 2/19-21
9. बृहत्कल्पभाष्य 1.2199, 4.5202
10. निशीथचूर्णि 2.1893
11. आवश्यकचूर्णि 1.270
12. नीतिवाक्यामृत 22/31
13. पिण्डनिर्युक्ति गाथा 83
14. कौटिलीय अर्थशास्त्र 2 32/48
15. निशीथचूर्णि 3/3697
16. आचारांग सूत्र 2/5/1/141
17. बृहत्कल्पभाष्य 2/1527
18. विपाकसूत्र 3/20

उद्यानिकी, वानिकी और खनन

जिस प्रकार प्राचीन भारत का मानव खेती-बाड़ी में निष्णात था उसी प्रकार बागवानी में भी निपुण था। बागवानी से आर्थिक-लाभ के अलावा पर्यावरण, सौन्दर्य, शृंगार, सत्कार, सुगन्ध, उत्सव, मनोरंजन, ध्यान, पूजा, भक्ति आदि अनेक बातें जुड़ी हैं। लोग साग-सब्जियों के भी बाग लगाते थे¹ तथा वृक्ष-उपवन भी लगाते थे² नगरों के बाहर या बीच में रमणीय उद्यान हुआ करते थे। उद्यान, कलियाँ, फूल, पत्तियाँ, टहनियाँ, चिड़िया, कोयल, तोता, मैना, मयूर, हंस, सास, चकवा, क्राँच, तितली, भौरा, जुगनू आदि साहित्य-रसिकों के लिए मुख्य विषय रहे हैं।

फूल-लताएँ

जैन आगम-ग्रन्थों में इतने फूलों, फलों, लताओं और वनस्पतियों के नाम मिलते हैं कि उस समय के उद्यान-विज्ञान पर दाँतों तले अंगुली दबानी पड़े। अन्तकृतदशा³ के अनुसार उद्यान का वर्णन कितना मनोरम है - अर्जुन मालाकार और उसकी पत्नी बागवानी में कुशल थी। उनकी पुष्प वाटिका में पाँच वर्णों के फूल उगाये जाते थे। प्रातःकाल वे वाटिका से पुष्प-चयन करते तथा बाजारों में पुष्प-टोकरियाँ भर ले जाते, बेचकर धन अर्जित करते। ग्रन्थों में उज्जाण (उद्यान), आराम और निज्जाण - इन तीन प्रकार के उपवनों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। उद्यान में पुष्प वाले अनेक प्रकार के वृक्ष होते थे। इन उद्यानों में उत्सव, अभिनय, नाटक आदि भी होते थे तथा शृंगार काव्य पढ़े जाते थे। उद्यान नगर के पास होते थे। आराम में वृक्ष और लता-कुंज होते थे। इनमें दम्पति तथा धनाढ्य लोग क्रीड़ाएँ करते थे। केवल राजाओं के लिए सुरक्षित उद्यानों को निज्जाण कहा जाता था।⁴ अनेक उद्यानों के नाम ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। तीर्थंकर भगवान महावीर और श्रमण विचरण करते हुए नगर के बाहर स्थित उद्यानों में ठहरा करते थे। सूर्योदय, चन्द्रोदय, आम्रोदय, अशोक-वाटिका, गुणशीलक, जिर्णोद्यान, तिन्दुक आदि अनेक उद्यानों के नाम आते हैं। उद्यानों में पद्म, नाग, अशोक, चम्बक, चूत (आम्र), वासन्ती, अतिमुक्तक, कुन्द, श्यामा आदि लताएँ तथा कोरण्टक, बन्धुजीवक, कनेर, कुब्जक (श्वेत गुलाब), जाति, मोगरा (बेला), युधिका (जूही), मल्लिका, नवमालिका,

मृगदन्ती, चम्पक, कुन्द, वस्तुल, शैवाल आदि फूलों के नाम मिलते हैं।^९ कोंकण-देश में फूलों और फलों का अच्छा व्यापार था।^९

उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लीनाथ की माँ प्रभावती को पुष्प-दोहद उत्पन्न हुआ, वे माताएँ धन्य है जो जल-थल में उत्पन्न, खिले हुए तरह-तरह के पंचरंगे फूलों की कई तहों से भरी-पूरी शय्या पर आनन्द से बैठती और सोती हैं। वह गुलाब, मालती, चम्पा, अशोक, पुन्नाग, नाग, मरुवा, दमनक, कोरण्ट तथा कुब्जक के फूलों-पत्तों से बने कोमल, सुन्दर और सुरभित गजरो को सूँघती हैं और फूलों से घिरी अपना दोहद पूरा करती है।^{१०} ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार साकेत नरेश की पटरानी पद्मावती ने नागपूजा-उत्सव के अवसर पर पाँच वर्णों के जल-पुष्पों और थल-पुष्पों के गजरो से नाग-मन्दिर सजाने का आदेश दिया।^{११} स्पष्ट है कि जल में उत्पन्न फूलों का भी प्रयोग होता था। फूलों से अनेक प्रकार के सुगंधित द्रव्य तैयार किये जाते थे। मधुमक्खियाँ फूलों से रस प्राप्त करती थी। मक्षिक (मधुमक्खियों से प्राप्त मधु), भ्रामर (भौरों से प्राप्त मधु) और कुत्तिय (कौत्तिक) शहद के उल्लेख मिलते हैं।^{१२} इनके अलावा पुष्पोदक, गन्धोदक, उष्णोदक, शुभोदक, शुद्धोदक कुमकुम (केसर), कपूर, लौंग, लाख, चन्दन, कालागुरु (अगर), कुन्दरूक, तुरूक आदि उपयोगी द्रव्यों का वर्णन मिलता है।^{१०} स्पष्ट है इन सब चीजों का आर्थिक महत्व भी था। लोग पुष्पों और पुष्प-उत्पादों का व्यापार करके लाभ कमाते थे।

फल और वृक्ष

उद्यानों में फलदार वृक्ष भी होते थे। फल मुख्यतः भोजन और व्यापारिक-महत्व का उत्पाद है। निम्न फलों का उल्लेख जैन-सूत्रों में मिलता है- आम, जामुन, कदली (केला), दाड़म (अनार), द्राक्ष, खजूर, नारियल, ताड़, कपित्थ (कैथ), इमली, अमरूद, कटहल, बिजौरा, सन्तरा आदि।^{११} इनके अलावा भी अनेक प्रकार के फलों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। आम उस समय का मुख्य फल था। पोलासपुर और हस्तानापुर में सहस्राब्दवन उद्यान थे। जिसमें आम के हजारों पेड़ थे।^{१२} फलों को पकाने के लिए मुख्यतः चार विधियाँ अपनाई जाती थीं^{१३} :-

1. ईंधन पर्यायामः घास फूस और भूसे में रखकर फल पकाना। इस विधि से मुख्यतः आम पकाये जाते थे।
2. धूमपर्यायामः तिट्ठुक आदि फलों को इस विधि से पकाया जाता था। इसमें फलों को धुआँ देकर पकाया जाता था। इसमें एक गड्ढा खोदकर उसमें

उपलों या कण्डों की अग्रि भर दी जाती। उसके चारों ओर गोलाई में गड्ढे खोदकर उसमें पकाने के लिए फल रखे जाते। बीच के गड्ढे और आसपास के गड्ढे की दीवार में छेद रखे जाते। धुआँ और गर्मी से फल पक जाते थे।

3. **गंध पर्यायाम:** पके फलों के बीच कच्चे फलों को रखकर फल पकाना। इसमें पके फलों की गंध से कच्चे फल पक जाते थे। ककड़ी, खीरा, बिजौरा आदि फलों को गंधपर्यायाम से पकाया जाता था।
4. **वृक्ष पर्यायाम:** वृक्ष पर सहज/प्राकृतिक रूप से फलों के पकने को वृक्षपर्यायाम कहा जाता है।

फलों को सुखाया भी जाता था। जहाँ सुखाया जाता उस स्थान को कोट्टक कहा जाता। फलों से अनेक प्रकार के व्यंजन और पेय तैयार किये जाते थे। आचारांग से पता चलता है कि उस समय आम, अम्बाड़क, कपित्थ (कैथ), मातुलिंग (बिजौरा), द्राक्ष, अनार (दाड़म), खजूर, नारियल (डाभ), करीर (करील), बेर, आमला, इमली आदि फलों से पेय बनाये जाते थे।¹⁴ फल वृक्षों से प्राप्त होते हैं। ग्रन्थों में आम, जम्बूफल, शाल, अखरोट, पोलू, सेलू, सल्लकी, मोचकी, मालूक, बलुक, पलाश, करंज, सीसम, पुत्रजीवक, अरिष्ट, बहेड़ा, हरड़, भिलवा, अशोक, दाड़म, लूलच, शिरीष, मातुलिंग, चन्दन, अर्जुन, कदम्ब आदि अनेक प्रकार के वृक्षों के नाम प्राप्त होते हैं।¹⁵ इन वृक्षों से फलों के अतिरिक्त अनेक प्रकार की औषधियाँ, जड़ी-बूटियाँ आदि प्राप्त होती थीं। वृक्षों और फलों की प्रचुरता से आम जन की अनेक मूलभूत आवश्यकताएँ पूरी होती थी। इनसे लोगों की आजीविका जुड़ी हुई थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्यान-कला या बागवानी विकसित और समृद्ध दशा में थी। पक्षी, कीट, पतंग, तितलियाँ, मधुमक्खियाँ, भौर आदि जीव-जन्तुओं से पारिस्थितिकी व पर्यावरण सन्तुलन बहुत अच्छा था।

वाणिकी और वनोत्पाद

उपवनों के लिए मानव श्रम और कौशल की आवश्यकता होती है। परन्तु वन स्वतः उगते हैं, होते हैं। आज की भाँति उस समय सघन वृक्षारोपण के द्वारा वन लगाने जैसे किसी अभियान की आवश्यकता नहीं थी, परन्तु लोग वनों-अटवियों का महत्व समझते थे और आवश्यकतानुसार उनका संरक्षण-संवर्धन करते थे। वन अनेकानेक जीवों के आश्रय होते हैं। वनों को नुकसान पहुँचाना, नष्ट करना,

सचमुच बहुत बड़ा पाप और अपराध है। निःसन्देह, अर्थव्यवस्था और पर्यावरण की दृष्टि से भी वनों को नुकसान पहुँचाना बहुत हानिकारक है। भगवान महावीर ने वनों को नुकसान पहुँचाने वाले कार्यों और धन्धों का पूर्ण निषेध किया है।¹⁶ वनों की रक्षा में उनके अहिंसा उपदेश की अत्यन्त प्रभावशाली भूमिका रही है। ऐसा करने से वनवासियों, आदिवासियों, वन-मानुषों और वन्य जीव जन्तुओं, पशु-पक्षियों के प्राकृतिक आवास स्थल बने रहे। लोगों की आजीविकाएँ भी सहज रूप से चलती रहीं। वनों से अनेक उद्योग-धन्धों के लिए कच्ची और पक्की सामग्री प्राप्त होती हैं।

राजगृह के नन्द मणिकार ने लोगों की भलाई के लिए वन लगाने का उपक्रम किया था, सुन्दर झील बनाई थी।¹⁷ वनों में विविध दुर्लभ वनस्पति-समूह और जीव-जन्तु समूह पाये जाते थे। अनेक वृक्ष, फल, फूल और वनस्पतियाँ तो वनों में ही प्राप्त होती थीं। अशोक, तिलक, लकुच, छतोप, शिरीष, सप्तपर्ण, लोद्र, दाड़म, शाल, ताल, तमाल, प्रियक, प्रियंगु, पुर्पग, राजवृक्ष, नन्दी वृक्ष आदि वृक्षों के नाम उववाई सूत्र में प्राप्त होते हैं। राजगृह में मलुका वृक्षों के एक सघन-वन का वर्णन मिलता है। अन्य वृक्षों में - आम्र, निम्ब, जम्बू, अंकोल, बकुल, पलाश, पुतरंजन, बिभितक, शिंशपा, श्रीपर्णी, तिन्दुक, कपित्थ, मातुलिंग, बिल्वा, आमला, फणस, अखत्था, उदम्ब्र, वट आदि नाम मिलते हैं। अनेक प्रकार के बाँस जैसे-चाववंश, वेणु, कणक, कक्कावंश, वरूवंश, डण्डा, कुडा आदि अनेक प्रकार की जड़ी-बूटियाँ, औषधियाँ आदि भी वनों से प्राप्त होती थीं।¹⁸ फर्निचर, रथ, गाड़ी, जहाज, नाव, हल, भवन-निर्माण सामग्री आदि अनेक वस्तुओं के लिए जंगलों से लकड़ी और अन्य चीजें प्राप्त होती थी।

खनन

खनन एक प्राथमिक उद्योग था। मानव की आर्थिक और सामाजिक आवश्यकताओं के लिए धरती के गर्भ से खानें खोद कर अनेक धातुएँ, खनिज और रत्न प्राप्त किये जाते थे। मिट्टी, पत्थर, धातु, रत्न और अनेक प्रकार के खनिज सम्बन्धी व्यवसाय खनन पर आधारित थे। खान खोदने वाले श्रमिक को 'क्षितिखनक'¹⁹ कहा जाता और खानों को 'आकर' या 'आगर' कहा जाता था। सूत्रों में अनेक प्रकार के खनिजों का उल्लेख मिलता है, उससे स्पष्ट होता है कि उस समय खनन भी एक प्रमुख व्यवसाय रहा था।

धातुएँ

आगमों में अनेक धातुओं के उल्लेख हैं। खानों से कच्ची धातु 'अयस्क' प्राप्त की जाती थी। लौहकारों की शालाओं को भी अयस्क कहा जाता था।¹⁰ इन शालाओं में भगवान महावीर भी ठहरे थे।¹¹ अयस्क से विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा धातु प्राप्त की जाती थी। धातुओं का शोधन और परिशोधन होता था। इसीलिए पुरुषों की 72 कलाओं में धातुवाद भी एक है।¹² लोहा और स्वर्ण प्रमुख धातुएँ थीं। इनके अलावा ताम्बा, जस्ता, सीसा, चाँदी (हिरण्य अथवा रूप्य) आदि धातुएँ भी प्राप्त होती थी। दो धातुओं के मिश्रण से पीतल, कांस्य आदि अन्य धातुएँ भी बनाई जाती थीं।¹³ आज जैसे यंत्र, संयंत्र और मशीनों के अभाव में भी उस समय सभी प्रकार की धातुओं के उल्लेख और उपयोग निश्चित ही किसी विकसित अवस्था के सूचक हैं। मानव के बुद्धि और श्रम की हर क्षेत्र में पूरी पैठ थी। इस बात का अनुमान इससे भी लगाया जा सकता है कि औषधियों के संयोग और रासायनिक प्रक्रियाओं से लोहे और ताम्बे से भी स्वर्ण बनाने की विद्याएँ और विधाएँ लोग जानते थे।¹⁴ जबकि आज इस विज्ञान और तकनीक के जमाने में भी इस प्रकार का कोई सूत्र हमारे पास नहीं है।

खनिज

धातुओं के अतिरिक्त खनिज द्वारा खनिज उत्पाद भी प्राप्त होते थे। इन खनिज पदार्थों में लवण (नमक), ऊस (साजी माटी), गेरू, हस्ताल, हिंगुलक (सिंगरक), मणसिल (मनसिल), सासग (पारा), सेडिय (खेत मिट्टी), सोरट्रिय, अंजन, अभ्रक आदि और विभिन्न चूना, मिट्टी, पत्थर आदि पाये जाते थे।¹⁵ इन चीजों से घरेलू और औद्योगिक आवश्यकताएँ पूरी होती थीं।

मूल्यवान पत्थर

खानों से मूल्यवान पत्थर, मणियाँ आदि निकालकर उन्हें शोधित किया जाता था।¹⁶ ग्रन्थों में अनेक प्रकार के कीमती पत्थरों और मणियों के नाम प्राप्त होते हैं - यथा - गोमेद, कर्केतन, हीरा, पन्ना, वज्र, वैडूर्य, लोहिताक्ष, मसागल्ल, हंस गर्भ, पुलक, सौगांधिक, ज्योतिरस, अंजन, अंजनपुलक, रजत, जातरूप, अंक, स्फटिक, रिष्ट, इन्द्रनील, मरकस, सस्यक, प्रवाल (मूंगा), रूचक, भुजमोचक, जलकान्त, सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त या चन्द्रप्रभ आदि।¹⁷ मणि-मुक्ता के पारखियों और व्यापारियों को मणिकार कहा जाता था।¹⁸ लोग ख-मणियों के बड़े शौकीन

हुआ करते थे। आभूषणों के अलावा इन मणियों को फर्निचर में जड़ा जाता था। रथ, पालकी, हाथी, घोड़े आदि को सजाने में भी इनका उपयोग होता था।²⁹

विविध आभूषण

चौदह प्रकार के आभूषणों का उल्लेख आगम-ग्रन्थों में प्राप्त होता है³⁰ - हार (अठारह लड़ियों वाला), अर्धहार (नौ लड़ियों का), एकावलि (एक लड़ी का हार), कनकावलि, मुक्तावली, रत्नावलि (मोतियों के हार), केयूर, कडय (कड़ा), तुडिय (बाजूबन्द), मुद्रिका (अंगूठी), कुण्डल, उरसूत, चुड़ामणि और तिलक। हार, अर्धहार, तिसरय (तीन लड़ियों का हार), प्रलम्ब (नाभि तक लटकने वाला), कटिसूत (करधौनी), ग्रैवेयक (गले का हार), अंगलीयक (अंगूठी), कचाभरण (केश में लगाने का आभरण), मुद्रिका, कुण्डल, मुकुट, वलय (वीरत्व सूचक कंकण), अंगद (बाजूबन्द), पाद प्रलम्ब (पैर तक लटकने वाला हार), और मुरवि नामक आभूषण पुरुषों द्वारा धारण किये जाते थे जबकि नूपुर, मेखला (कन्दोरा), हार, कडग (कड़ा), खुदय (अंगूठी), वलय, कुण्डल, रत्न और दीनारमाला आदि स्त्रियों के आभूषण माने जाते थे। स्पष्ट है कि पुरुष भी स्त्रियों की भाँति आभूषण धारण करते थे। इससे रत्न व्यवसाय के विस्तार का अनुमान सहज लगाया जा सकता है।

प्राथमिक उद्योग धन्धों में कृषि, कृषि आधारित गतिविधियाँ, पशुपालन, बागवानी, वानिकी, खनन आदि पर विमर्श से स्पष्ट है कि अर्थव्यवस्था बहुत ही नियोजित ढंग से आगे बढ़ रही थी। दूध, शाक-सब्जियाँ, फल और फूलों का व्यापार इसलिए सुनियोजित माना जायगा कि ये चीजे शीघ्र नाशवान होती हैं तथा समय पर इन्हें अन्तिम उपभोक्ता तक पहुँचाना होता है। निस्सन्देह राज्य, समाज और व्यापारिक निकायों में अद्भुत प्रबन्धन और समन्वय रहा होगा।

सन्दर्भ

1. आवश्यकचूर्णि भाग-2
2. आयारवंत-चेइय-जवइ-विविह-सण्णविट्ठबहुला - औपपातिक सूत्र-2
3. अन्तकृतदशासूत्र 6/3/4
4. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) आगम साहित्य में भारतीय समाज, प.-128
5. प्रज्ञापना 1/20, 23, 25
6. बहत्कल्पभाष्य 1.1239
7. ज्ञाताधर्मकथांग 8/23
8. ज्ञाताधर्मकथांग 8/35
9. आवश्यकचूर्णि भाग-2
10. ज्ञाताधर्मकथांग पहला अध्ययन
11. प्रज्ञापना 1/23, 25 एवं आचारांग सूत्र 2/1/8/266
12. उपासकदशांग 7/208, विपाक-सूत्र (2/9) से हस्तिनापुर नगर में सहस्राब्द वन होने की सूचना मिलती है -
13. बहत्कल्पभाष्य 1.872
14. आचारांग सूत्र 2/1/8/44
15. प्रज्ञापना 1/40 एवं औपपातिक सूत्र 2
16. श्रावक के 7वें व्रत में 15 कर्मादान
17. ज्ञाताधर्मकथांग 13वाँ अध्ययन
18. जैन, दिनेन्द्र चन्द्र (डॉ.) इकोनोमिक लाइफ इन एंशेंट इंडिया एज डेपिकटेड इन जैन कैनोनिकल लिटरेचर, प. 30-31
19. ज्ञाताधर्मकथांग 1/85
20. उत्तराध्ययन चूर्णि 1/26

21. आचारांग सूत्र 1/9/2/2
22. ज्ञाताधर्मकथांग 1/85
23. आचारांग 2/6/1/247
24. निशीथ चूर्ण भाग 3, गाथा 4313
25. उत्तराध्ययन 36.73-74, सूत्रकृतांग 2, 3.61, प्रज्ञापना 1.17 एवं निशीथ-
सूत्र 4.39
26. ठाणांग 9/22,
27. उत्तराध्ययन सूत्र 36/75 एवं उत्तराध्ययन सूत्र 36/76 व प्रज्ञापना 1/17
28. णंदे णामं मणियार सेट्टी - ज्ञाताधर्मकथांग 13/6
29. ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, विपाक सूत्र आदि ग्रन्थों में अनेक स्थलों
पर रत्नजडित की सूचनाएँ मिलती हैं।
30. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ.-143

द्वितीयक उद्योग

प्राथमिक उद्योग सीधे प्रकृति पर आधारित होते हैं। उनके उत्पादों को सीधे या मामूली श्रम और प्रक्रिया के बाद काम में लिया जा सकता है। प्रचुर प्राकृतिक संसाधन किसी भी देश काल के लिए हर दृष्टि से अनुपम वरदान होते हैं। प्राथमिक उद्योग के उत्पाद ही द्वितीयक उद्योगों के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराते हैं।

मनुष्य की कलाप्रियता और शिल्प

मानव एक सांस्कृतिक प्राणी है, कला-प्रेमी है। वह किसी भी वस्तु का उपयोग करने से पूर्व उसे संस्कारित करता है। इससे वस्तु रूपान्तरित हो जाती है और उसकी उपयोगिता बढ़ जाती है। उसकी इस वृत्ति के कारण अन्य बातों के अलावा अर्थतन्त्र का दायरा भी बढ़ता है। गन्ने के रस का गुड़ बना लेने पर वह वर्ष-पर्यन्त-वर्ष, जब चाहे तब काम में लिया जा सकता है, उसे आसानी से परिवहनित किया जा सकता है। स्वर्ण-रजत को गहनों में ढाल कर, गहनों में मणियाँ जड़कर उन्हें उपयोगी और कलात्मक बनाया जाता है। गेहूँ के दानों को सीधा नहीं खाया जाता अपितु उन्हें पीस कर, उनको रोटी या व्यंजन बनाकर खाया जाता है। इस प्रक्रिया में श्रम और कौशल के अलावा अन्य अनेक वस्तुओं की आवश्यकता भी होती है। भोजन को पात्र में लेकर खाया जाता है। वस्त्रों को साधारण तरीके से ओढ़ने की बजाय उन्हें संस्कारित कर, विविध डिजायनों से मण्डित कर पहना जाता है। वस्तुतः जिस सभ्यता, संस्कृति, धर्म और समाज के साथ मानव ने अपना विकास किया है, उसकी इस विकास-यात्रा में अर्थतन्त्र का प्रत्यक्ष और प्रमुख योगदान है। 'अर्थ' मानव का सबसे बड़ा प्रेरक तत्त्व रहा है।

उद्योगों का वर्गीकरण

कच्चे माल को पक्के में रूपान्तरित करने के लिए अनेक प्रकार और स्तर के उद्योग-धन्धे विकसित हो जाते हैं। जैन-सूत्रों में उल्लिखित ऐसे उद्योगों को कुटीर (गृह), लघु और बड़े उद्योगों के रूप में वर्गीकृत कर सकते हैं। प्राथमिक उद्योग और गृह-कुटीर उद्योग दोनों जुड़े हुए थे। गृह उद्योग की गतिविधियाँ घर में सम्पन्न होती हैं और उसमें घर के छोटे-बड़े सदस्य योगदान करते हैं। सभी

प्राथमिक उद्योगों के साथ आगे के कुछ स्तरों की गतिविधियाँ गृह उद्योग मानी जा सकती हैं। विभिन्न हस्तशिल्प (Handicrafts) उद्योग इनके अन्तर्गत हैं। जिनका वर्णन आगे किया जायेगा।

जब गृह और कुटीर उद्योग अपना विकास करते हैं जो वे लघु औद्योगिक इकाइयों का रूप धारण कर लेते हैं। कितने ही व्यवसाय स्वभावतः औद्योगिक रूप में ही सम्पन्न हो सकते हैं। वर्तमान में उद्योगों-कारखानों का जो स्वरूप है, वह अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक-क्रान्ति के फलस्वरूप विकसित हुआ है। जिनमें यंत्रों, संयंत्रों और मशीनों का प्रयोग मुख्य रूप से हुआ है। इनमें लघु और बड़े उद्योगों को उनके पूंजी-निवेश के आधार पर विभाजित किया गया है।

जैन आगमों में कारखाना पद्धति के अनुसार औद्योगिक साम्राज्य का उल्लेख भले ही नहीं हो। पर समूहिक उद्यमिता और बड़े पैमाने पर उत्पादन अवश्य होता था। जहाँ बहुत सारे श्रमिक, कर्मचारी और नौकर कार्य करते थे। जिनकी तुलना वर्तमान की औद्योगिक इकाइयों से की जा सकती है। उपासकदशांग में वर्णित 'सकडाल पुत्र' के भाण्ड उद्योग की तुलना इससे की जा सकती है। श्रावक सकडालपुत्र के व्यवसाय में करीब एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं का निवेश था। नगर के बाहर 500 दुकानें थीं और हजारों श्रमिक और कर्मचारी उसके व्यवसाय से प्रत्यक्ष जुड़े हुए थे, जो खानों से मिट्टी लाने से लेकर पात्र-विक्रय तक अपना-अपना कार्य करते थे।

कोई भी एक चीज विकसित होती है तो उसके साथ-साथ अनेक चीजें विकसित होती हैं। औद्योगिक विकास अकेला कभी नहीं हो सकता है। निश्चित ही उस विकास के साथ-साथ वित्त, परिवहन, विपणन आदि आधारभूत बातें भी विकसित रही होगी।

व्यवसाय, शिल्प और 72 कलाएँ

ज्ञाताधर्मकथांग² और अन्य आगम ग्रन्थों³ में जिन बहत्तर कलाओं का उल्लेख है, उनसे तत्कालीन उद्योग, शिल्प आदि का व्यापक निदर्शन प्राप्त होता है। ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित इन 72 कलाओं का परिचय निम्नानुसार है:-

- | | |
|----------|-------------------------------|
| 1. लेहं | लेख (लिखने की कला) |
| 2. गणियं | गणित (गणित और सम्बन्धित विषय) |

3. रूवं - रूप (चित्रकारी, कशीदाकारी, रंगाई आदि)
4. नट्टं नाट्य (अभिनय और नृत्य)
5. गीयं गीत (गाने की विद्या)
6. वाइयं वादित (वाद्य यन्त्रों को बजाने की कला)
7. सरगयं स्वरगत (सुर और स्वर की विद्याएँ)
8. पोक्खरगयं पुष्करगत (ढोल-ढोलक आदि का ज्ञान)
9. समतालं समताल (ताल की सूक्ष्म जानकारी)
10. जूयं द्यूत (बौद्धिक खेल खेलने की कला)
11. जणवायं जनवाद (वार्तालाप) (बातचीत और वाद-विवाद की कला)
12. पासयं पाशक-पासा (पासा खेलना)
13. अट्टावयं अष्टपद (चौपड़ खेलना)
14. पोरेकच्चं पुरः काव्य (कवित्व एवं आशुकवित्व)
15. दगभट्टियं दक मृत्तिका (कुम्भकार कला, मिट्टी के पात्र आदि बनाने की कला)
16. अन्नविहिं अन्नविधि (खेती तथा पाक-कला)
17. पाणविहिं पान विधि (जल उत्पत्ति, शुद्धि व पेय पदार्थों का ज्ञान)
18. वत्थविहिं वस्त्रविधि (वस्त्र बनाने और प्रयोग की विधि)
19. विलेवणविहिं विलेपन विधि (सौन्दर्यीकरण की विधियाँ)
20. सयणविहिं शयन विधि (शयन-कक्ष तैयार करना और शयन-कक्ष सामग्री का निर्माण एवं आन्तरिक सज्जा)
21. अज्जं आर्या छन्द (आर्या छन्द/काव्य बनाना अथवा प्रस्तुति)
22. पहेलियं प्रहेलिका (पहेलिया बनाना व रचना एवं गूढ़ार्थ)
23. मागहियं मागधिका (मागधी/अर्द्धमागधी प्राकृत जानना, लोक भाषा/जन बोली जानना)

24. गाहं गाथा (गाथाओं/सूत्रों की रचना करना एवं समझ रखना)
25. गीइयं गीति (गीत-संगीत विद्याएँ)
26. सिलोयं श्लोक (श्लोक-रचना व प्रयोग, विशेषतः संस्कृत में)
27. हिरण्यजुतिं हिरण्य-युक्ति (चाँदी बनाना/परखना)
28. सुवण्णजुतिं स्वर्ण-युक्ति (सोना बनाना/परखना)
29. चुन्नजुतिं चूर्ण-युक्ति (औषध आदि रूपों में चूर्ण बनाना और उपयोग करना)
30. आभरणविहिं आभरण-विधि (गहने गढ़ना और पहनना)
31. तरूणीपदिकम्मं तरूणी-प्रतिकर्म (तरूणी सौन्दर्यीकरण)
32. इत्थिलक्खणं स्त्री-लक्षण (स्त्री की योग्यताओं का उपयोग)
33. पुरिसलक्खणं पुरुष-लक्षण (पुरुष की योग्यताओं का उपयोग)
34. हयलक्खणं हय-लक्षण (अश्वलक्षण-अश्व के लक्षणों की पहचान)
35. गयलक्खणं गज-लक्षण (हाथी के लक्षणों की पहचान)
36. गोणलक्खणं गौ-लक्षण (गाय-बैल के लक्षणों की पहचान)
37. कुक्कुडलक्खणं कुक्कुट-लक्षण (प्रकृति व पर्यावरण की जानकारी के लिए
मुर्गों-मुर्गियों/पक्षियों की पहचान)
38. छत्तलक्खणं छत्त-लक्षण (छत्त-निर्माण और उपयोग)
39. दण्डलक्खणं दण्ड-लक्षण (छड़ियाँ, डण्डे आदि का ज्ञान)
(संभवतः मापन के लिए)
40. असिलक्खणं असि-लक्षण (तलवार/शस्त्र के लक्षण)
41. मणिलक्खणं मणि-लक्षण (रत्नों की जानकारी)
42. कागणिलक्खणं कांकिणी-लक्षण (कांकिणी रत्न की जानकारी)
43. वत्थुविज्जं वास्तुविद्या (स्थापत्य कला)
44. खंधार माणं स्कन्धवारमान (सेना सैन्य-प्रबन्धन का पड़ाव प्रमाण)

45. नगरमाणं नगरमान (नगर निर्माण और संरक्षण)
46. बूहं व्यूह-रचना (सेना, राज्य संचालन आदि में व्यूह)
47. पडिबूहं प्रतिव्यूह-रचना (प्रतिव्यूह)
48. चारं चार (सैन्य संचालन - सेना का प्रमाण आदि जानना)
49. पडिचारं प्रतिचार (प्रतिरक्षा सैन्य - सेना को रणक्षेत्र में उतारना)
50. चक्रव्यूहं चक्रव्यूह (विशेष रणनीति)
51. गरूलव्यूहं गरूडव्यूह (गरूड क्रम से व्यूह रचना)
52. सगडबूहं शटक व्यूह (गाड़ियों और वाहनों का व्यूह)
53. जुद्धं युद्ध (लड़ने की कला)
54. निजुद्धं नियुद्ध (विशेष युद्ध/कुशती लड़ना)
55. जुद्धातिजुद्धं युद्धाति युद्ध (महायुद्ध)
56. अट्टिजुद्धं दृष्टि युद्ध/अस्थियुद्ध
57. मुट्टिजुद्धं मुष्टियुद्ध (मुट्टियों से लड़ना - Boxing)
58. बाहुजुद्धं बाहुयुद्ध (बाहुओं से लड़ना)
59. लयाजुद्धं लतायुद्ध (जूड़ो-कराँटे एवं प्रतिपक्षी से लिपट कर किया जाने वाला युद्ध)
60. ईसत्थं इषुशास्त्र (तीरन्दाजी/तीरों/शरों का ज्ञान)
61. छरूप्पवायं त्सरूप्रवाद (तलवार आदि की मूठ बनाना व उपयोग करना)
62. धणुव्वेयं धनुर्वेद/धनुर्विद्या (धनुष बनाना/उपयोग करना)
63. हिरन्पागं हिरण्यपाक (चाँदी का रसायन अथवा चाँदी से औषधि और रसायन बनाना)
64. सुवन्नपागं स्वर्ण-पाक (स्वर्ण बनाने का रसायन अथवा सोने से औषधि और रसायन बनाना)
65. सुत्तखेडं सूत्र-खेल (धागों/डोरों और रस्सियों का खेल - पतंगबाजी आदि)

66. वट्टखेडं वस्तु खेल (वृत्त खेल - वृत्त बनाकार खेलना)
 67. नालिपाखेडं नालिका खेल (तत्कालीन समय का खेल विशेष)
 68. पत्तच्छेज्जं पत्तच्छेद्य (पत्त-छेदन - पत्त/पत्तियों का कार्य)
 69. कडगच्छेज्जं कटच्छेद्य (कुण्डल-छेदन/लकड़ी का कार्य)
 70. सज्जीवं संजीवन (जीव-विज्ञान)
 71. निज्जीवं निर्जीवन (अजीव/पदार्थ विज्ञान)
 72. सउणरूयमिप्पि शकुनरूत्त (पक्षियों की बोलियों का ज्ञान)

अन्य ग्रन्थों में वर्णित इन कलाओं के नाम और क्रम में थोड़ा-बहुत अन्तर है। ये कलाएँ विशेष रूप से पुरुषों के लिए बताई गई हैं। अनेक कलाएँ काल, क्षेत्र और सन्दर्भ के साथ जुड़ी हुई हैं।

महिलाओं की चौंसठ कलाएँ

इनके अलावा महिलाओं के लिए चौंसठ कलाओं का वर्णन प्राप्त होता है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति⁴ के अनुसार 64 कलाएँ निम्न हैं -

- | | |
|-------------|-------------------|
| 1. नृत्य | 33. काम-विक्रिया |
| 2. औचित्य | 34. वैद्यक-क्रिया |
| 3. चित्र | 35. कुम्भ भ्रम |
| 4. वादित्त | 36. सारिश्रम |
| 5. मन्त्र | 37. अंजन योग |
| 6. तन्त्र | 38. चूर्ण योग |
| 7. ज्ञान | 39. हस्तलाघव |
| 8. विज्ञान | 40. वचन पाटव |
| 9. दम्भ | 41. भोज्य विधि |
| 10. जलस्तंभ | 42. वाणिज्य विधि |
| 11. गीतमान | 43. मुखमण्डल |
| 12. तालमान | 44. शालिखण्डन |

- | | |
|---------------------------|----------------------|
| 13. मेहावृष्टि | 45. कथा कथन |
| 14. फलावृष्टि | 46. पुष्प ग्रन्थन |
| 15. आराम रोपण | 47. वक्रोन्ति |
| 16. आकार गोपन | 48. काव्य-शक्ति |
| 17. धर्मविचार | 49. स्फारविधि वेष |
| 18. शकुनसार | 50. सर्वभाषा विशेष |
| 19. क्रिया कल्प | 51. अभिधान ज्ञान |
| 20. संस्कृत जल्प | 52. भूषण परिधान |
| 21. प्रासाद नीति | 53. भृत्योपचार |
| 22. धर्म नीति | 54. गृहाचार |
| 23. वर्णिका वृद्धि | 55. व्याकरण |
| 24. सुवर्ण सिद्धि | 56. पर-निराकरण |
| 25. सुरभि तेलकरण | 57. रन्धन |
| 26. लीला संचरण | 58. केश बन्धन |
| 27. हयगज परीक्षण | 59. वीणा नाद |
| 28. पुरुष-स्त्री लक्षण | 60. वितण्डावाद |
| 29. हेमरत्न भेद | 61. अंक-विचार |
| 30. अष्ट्यदशलिपि परिच्छेद | 62. लोक-व्यवहार |
| 31. तत्काल बुद्धि | 63. अन्त्याक्षारिका |
| 32. वस्तुसिद्धि | 64. प्रश्न-प्रहेलिका |

उपर्युक्त वर्णित 72 और 64 कलाएँ सुविकसित उद्योग-धन्धों का सुस्पष्ट प्रमाण है। हालांकि कुछ कलाओं का प्रत्यक्ष वाणिज्यिक सरोकार नहीं है। फिर भी उस प्राचीन भारत में, जब विज्ञान और तकनीक आज जैसी विकसित अवस्था में नहीं रही होगी, मानव ज्ञान, विज्ञान, संस्कृति और व्यापार के क्षेत्र में कितना बहुआयामी और बढ़ा चढ़ा था, यह आश्चर्यजनक है। बिना सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्थाओं के इतनी कलाओं का संरक्षण संवर्द्धन संभव नहीं था। अपितु कला,

हुनर आदि के शिक्षण-प्रशिक्षण और प्रचार-प्रसार के लिए विविध रोजगारों व रोजगारों के अवसर का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है। इसके अलावा व्यावसायिक कौशल का पीढ़ी-दर-पीढ़ी अन्तरण एवं पुश्तैनी काम-धन्धों की महत्ता भी इन कलाओं से होती है।

प्रमुख उद्योग

भारतवर्ष के लिए 'स्वर्ण-चिड़िया' की उपमा प्रसिद्ध है। जब हम प्राचीन ग्रन्थों का परायण करते हैं तो यह बात पूरी तरह सही लगती है। 'सोने की चिड़िया' की उपमा देश की आर्थिक उन्नति का संकेत है। प्राथमिक उद्योगों के रूप में यहाँ की विविध विपुल नैसर्गिक सम्पदा का परिचय और बहत्तर व चौंसठ कलाओं से द्वितीयक शिल्प और उद्योगों की एक सुस्पष्ट भूमिका हमें प्राप्त होती है। हम आगम-युग के प्रमुख उद्योगों का निम्न रूप में वर्गीकरण कर सकते हैं:-

1. वस्त्र उद्योग - सूती, रेशमी, ऊनी, सन, चर्म-वस्त्र।
2. लोहा और इस्पात।
3. अलौह धातु और मूल्यवान पत्थर पर आधारित काम धन्धे।
4. कृषि, बागवानी आदि पर आधारित उद्योग।
5. पशु-उत्पाद पर आधारित उद्योग।
6. वन उत्पादों पर आधारित उद्योग।
7. अन्य उद्योग-धन्धे - पाल-निर्माण, भवन-निर्माण, बाँस उद्योग आदि।

वस्त्र-उद्योग (टेक्सटाइल)

वस्त्रोद्योग कृषि के पश्चात् सर्वाधिक महत्वशाली और उन्नत था। आगम ग्रन्थों में भौति-भौति के वस्त्र, वस्त्र-निर्माण और व्यवसाय के उल्लेख मिलते हैं। आचारांग सूत्र में छः प्रकार के वस्त्र बताये गये हैं -

1. जांगमिक (जंगम्य) जंगम जीवों से प्राप्त। वह पुनः दो प्रकार का है - विकलेन्द्रिय जन्य (लट कीट आदि) और पंचेन्द्रिय जन्य।

विकलेन्द्रिय जन्य वस्त्र 5 प्रकार का है - पट्टज, सुवर्णज (मटका), मलयज, अंशक और चीनांशुक। ये वस्त्र कीटों (शहतूत वगैरह) के मुँह से निकले तार/लार से बनते हैं लेकिन अन्तिम दो अंशक और चीनांशुक को विकलेन्द्रिय जन्य नहीं माना जाता है।

पंचेन्द्रिय प्राणियों से निष्पन्न वस्त्र अनेक प्रकार के होते हैं:-

- 1 - और्णिक (भेड़ बकरी आदि के बालों से बना)
- 2 - औष्ट्रिक (ऊँट के बालों से बना)
- 3 - मृगरोमज (शशक, मूशक या बाल-मृग के रोएँ से बना हुआ)
- 4 - किट्ट (अश्व आदि के रोएँ से बना)
- 5 - कुतप (चर्म निष्पन्न, मृग आदि के रोएँ से बना)
2. **भांगिक (भंगिय)** : अलसी से निष्पन्न वस्त्र; वंशकरी के मध्य भाग को कूटकर बनाया गया वस्त्र। सर्वास्तिवाद के विनयवस्तु में भी भांगेय वस्त्र का उल्लेख है। यह वस्त्र भांग वृक्ष के तन्तुओं से बनाया जाता था।
3. **सानिक (साणिय)** - पटसन (पाट), लोध की छाल, तिरीड़ वष्क की छाल के तन्तुओं से बने हुए वस्त्र।
4. **पोतक** - ताड़ आदि के पत्तों से समूह से निष्पन्न वस्त्र पोतक होता है।
5. **खोमियं (क्षौमिक)** - कपास (रूई) से बना वस्त्र खोमिय
6. **तूलवाड (तूलकृत)** आक आदि की रूई से बना वस्त्र तूलकड कहलाता है।

साधु-साध्वी अल्प मूल्य वाले अहिंसक वस्त्र ही धारण कर सकते हैं। ग्रन्थों में श्रावकों के लिए भी अहिंसक वस्त्र धारण करने के निर्देश दिये गये हैं। हिंसाजन्य वस्तुओं और वस्त्रों के उल्लेख उनकी जानकारी और निषेध के लिए ही आया है।

पाँच शिल्पकारों में वस्त्रकार (गंतिक) तथा 72 कलाओं में वस्त्र-विधि का उल्लेख है। ज्ञाताधर्मकथांग में ऐसे महीन वस्त्रों का उल्लेख है जो नासिका के उच्छ्वास-मात्र से उड़ जाते थे। वस्त्र बहुत सुन्दर, सुकोमल, पारदर्शी और बढ़िया किस्म के हुआ करते थे। वस्तोद्योग के साथ-साथ वस्त्रों की रंगाई, कशीदाकारी तथा वस्त्रों पर विविध चित्रकारी व कलाकृतियाँ बनाने के कार्य भी आजीविका के आधार थे। ज्ञाताधर्मकथांग में मेघकुमार की माता धारिणी के उत्तरीय के किनारों पर सोने के तार से हंस बनाये गये थे। आचारांग में भी स्वर्ण-खचित वस्त्रों का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार रजत और मणि-रत्नों से भी वस्त्रों को कलालंकृत किया जाता था।

सूती वस्त्र

वस्त्रों में सूती वस्त्र बहुत प्रचलित था। कपास, सन, बाँस, अतसी आदि पौधों से सूत प्राप्त होता था।⁹ कपास (सेडुग) को औट कर (रूंचंत) बीज निकाल दिये जाते थे। फिर धुनकी (पीजनी) से धुनकर (पींजकर) धुनी हुई (पूनी) रूई तैयार की जाती थी। कपास, दुग्गुल और मूज (वच्चक/मुंज) के कातने का उल्लेख प्राप्त होता है।¹⁰ "नालघ" नामक उपकरण से सूत को भूमि पर फैला कर ताना-बुना जाता और फिर 'कड़जोगी' (वस्त्र बुनने की खड्डी) से वस्त्र तैयार किया जाता था।¹⁰ कताई और बुनाई के अलग-अलग उद्योग होते थे। बुनकरों की शालाओं में वस्त्र बुने जाते थे। नालन्दा के बाहर स्थित एक तन्तुवायशाला में भगवान महावीर ठहरे थे।¹¹ कताई-कार्य से महिलाएँ अधिक जुड़ी हुई थी।

बृहत्कल्प भाष्य¹², पिण्ड निर्युक्ति¹³ आदि में महिलाओं द्वारा सूत कातने के उल्लेख मिलते हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र में बताया गया है कि राज्य के कारखानों में विधवाओं, अपाहिजों, भिक्षुणियों, वृद्धाओं, राजपरिचारिकाओं एवं दासियों द्वारा सूत काता जाता था।¹⁴ दुकूल-वृक्ष की छाल से दुकूल वस्त्र बनाये जाते।¹⁵ सूती वस्त्रों में तौलिये का उत्पादन भी उल्लेखनीय है। ज्ञाताधर्मकथांग में मेघकुमार को स्नान के बाद कषाय रंग के अत्यन्त कोमल और रोयेंदार तौलिये से पौँछा जाता है।¹⁶ इन सब उल्लेखों से सूती वस्त्र उद्योग की विकसित अवस्था का पता चलता है। वस्त्र-निर्माण में विशिष्टता, निपुणता और विविधता तथा लोगों की सामाजिक-आर्थिक दशा का अनुमान भी लगाया जा सकता है।

रेशमी वस्त्र :

आगम सूत्रों में वर्णित रेशमी-वस्त्रों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं:- अहिंसक रेशम : सूती/वानस्पतिक रेशम तथा हिंसक रेशम : प्राणिज रेशम।

आचारांग¹⁷ में पाँच प्रकार के रेशमी वस्त्रों का उल्लेख है-

- पट्ट : पट्ट वृक्ष पर पले कीड़ों की लार से निर्मित
- मलय : मलय देश में उत्पन्न वृक्षों के पत्तों पर पड़े कीड़ों की लार से निर्मित
- अंशुक : दुकूल वृक्ष की आन्तरिक छाल से प्राप्त रेशों से निर्मित
- चीनांशुक - चीन देश के रेशमी वस्त्र
- देश राग : रंगे हुए रेशमी वस्त्र

अनुयोगद्वार-सूत्र¹⁸ में अण्डों से बने रेशमी वस्त्रों को अण्डज एवं कीड़ों की लार से बने वस्त्रों को 'कीड़ज' कहा गया है। अलग-अलग वृक्ष के पत्तों के कीड़ों की लार से निर्मित वस्त्र का अलग नाम दिया गया है। नामकरण में कीड़ों की लार से ही निर्मित हो, ऐसा स्पष्ट नहीं है। सम्बन्धित वृक्ष के पत्तों या छाल से प्राप्त रेशों से निर्मित वस्त्र भी रहे हो। जैसे अंशुक वृक्ष की बाहरी छाल और भीतरी छाल से निर्मित वस्त्रों के अलग-अलग नाम दिये गये हैं। भीतरी छाल के रेशे महीन होने से उनसे निर्मित वस्त्र रेशमी लचक वाला होता था। इसके अलावा किसी देश या प्रदेश विशेष के रेशमी वस्त्र या रंगीन रेशमी वस्त्र। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि वे वस्त्र 'कीड़ज' या 'अण्डज' ही रहे हो। आचारांग सूत्र के वस्त्रैषणा अध्ययन में समस्त प्रकार के वस्त्रों की जानकारी प्रदान की गई है, जिससे आगम-युग के वस्त्रोद्योग की व्यापकता का पता चलता है। साधकों के लिए हिंसक वस्त्रों को छोड़ने का स्पष्ट निर्देश है। आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध के पन्द्रहवें अध्ययन के अनुसार भगवान महावीर को दीक्षा के समय एक लाख रूपये मूल्य के क्षौम-वस्त्र पहनाये गये थे। वे विशेष महीन कपास से निर्मित थे। उन्हें 'सूती-रेशम' का नाम दिया जा सकता है। श्रमण-परम्परा में प्राणिज रेशम का निर्माण, व्यापार और उपयोग निषिद्ध रहा।

ऊनी वस्त्र

आचारांग में वर्णित जंगिय-वस्त्र ऊनी-वस्त्र है। ये वस्त्र पशुओं के बालों से निर्मित होते थे। इन पाँच प्रकारों को पहले बताया जा चुका है। उन से कम्बलें बनाई जाती थी और उनमें रत्न भी जड़े जाते थे।¹⁹

चर्म वस्त्र

ग्रन्थों में चर्म वस्त्रों का उल्लेख भी मिलता है। ये वस्त्र अनेक प्रकार के पशुओं के चर्म से बनते थे। आचारांग, निशीथ-चूर्णि आदि में अनेक प्रकार के चर्म-वस्त्रों का उल्लेख है। व्रती-समाज में चर्म-वस्त्रों का व्यापार और उपयोग नहीं किया जाता था।

अन्य वस्त्र

ऊपर वर्णित वस्त्रों के अलावा भी आचारांग²⁰ में वस्त्रों के अनेक प्रकार बताये गये हैं। जैसे -

सहिण - बारीक और सुन्दर।

काय - नीली कपास से निर्मित।

दुग्गल - दुकूल के रेशों से निर्मित।
 पट्ट - पट्ट के तन्तुओं से निर्मित।
 अंसुय - दुकूल वृक्ष की छाल के रेशों से बना।
 देसराग - विशेष रूप से रंगे हुए वस्त्र।
 गज्जफल - स्फटिक के समान स्वच्छ।
 कोयव - रेंयेदार कम्बल।
 कम्बलग - साधारण कम्बल।
 पावारण - लबादा से लपेटने वाले वस्त्र।

इसी प्रकार ग्रन्थों में वस्त्रों की अनेक किस्मों और श्रेणियों का वर्णन है। वस्त्र से जुड़े अन्य शिल्पी - रंगरेज, दर्जी, धोबी आदि का भी उल्लेख है।

रंगाई उद्योग

विभिन्न रंगों और डिजायनों के वस्त्र लोग धारण करते थे। निशीथ-सूत²¹ में बताया गया है कि लोग ऋतु के अनुसार अलग-अलग रंगों के वस्त्र पहनते थे। इसका अर्थ यह है कि लोग मौसम के अनुसार रंगों के प्रभाव को समझते थे। वस्त्रों की बढ़िया किस्म बनाने के लिए और वस्त्रों को सुन्दर बनाने के लिए रंगाई उद्योग अपना काम करता था।

तैयार वस्त्र उद्योग

वस्त्र उद्योग के साथ ही गारमेण्ट उद्योग भी विकसित था। स्त्री-पुरुषों, बच्चों-युवाओं आदि के लिए तैयार वस्त्र मिलते थे। इन वस्त्रों की सिलाई करने वाले विशेष दर्जी भी होते थे। रफू करने वालों को 'तुन्नग' कहा जाता था। लोग विभिन्न अवसरों पर विभिन्न प्रकार के वस्त्र धारण करते थे। घर में पहनने योग्य वस्त्र 'नियंसण', स्नान करके पूजा करने से पूर्व 'मज्जणियं', उत्सव में जाने के लिए 'छणूसवियं' पोशाक तथा राजकुल में जाने के लिए 'राजदारियं' पोशाक धारण की जाती थी। इस शौक के पीछे समृद्धि, समृद्ध कला और वस्त्र-व्यापार की लम्बी शृंखला थी।

निशीथचूर्णि में मूल्य के आधार पर तीन प्रकार के वस्त्रों का वर्णन है। 'जहण्ण' वस्त्र सबसे सस्ता होता था, जिसकी कीमत 18 'रूवग' होती थी जबकि 'उक्कोसा' सबसे महंगा वस्त्र था जिसकी कीमत एक लाख रूवग बताई गई है।

बीच के मूल्य वाले वस्त्र 'मज्झिम' श्रेणी में माने जाते थे। 18 रूवग से लेकर एक लाख रूवग तक कितनी किस्में रही होगी, यह अनुमान लगाया जा सकता है।

प्रसिद्ध वस्त्र-व्यवसाय-केन्द्र

वस्त्र-व्यवसाय देश में सर्वत्र था। परन्तु कुछ निर्दिष्ट स्थान इस व्यवसाय के लिए विशेष तौर पर प्रसिद्ध थे। 'निशीथचूर्णि' में महिस्सर को "बहुवत्थदेस" बहुत सारे वस्त्रों वाला देश कहा गया है। वहाँ बढ़िया किस्म के वस्त्र बनते थे और साधु-साधियों को भी उत्तम वस्त्र धारण की अनुमति थी। इसके अलावा मदुरा, कबिंग, काशी, बंग, वत्स, सिंधु, मालवा, पौंड्रवर्धन, नेपाल, ताम्रलिप्ति, सौवीर, लाटदेश आदि स्थान वस्त्र-उद्योग और व्यवसाय के लिए प्रसिद्ध स्थान थे। ये स्थान तरह-तरह के वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध थे। ज्ञाताधर्मकथांग में वस्त्र-निर्यात का उल्लेख भी मिलता है।¹² इस सारे वर्णन और विवरण से यह स्पष्ट होता है कि अर्थतन्त्र का ताना-बाना बुनने में वस्त्र-व्यवसाय का मुख्य योगदान था।

धातु उद्योग

खनन/उत्खनन के बारे में हम चर्चा कर चुके हैं। पूरा धातु उद्योग इस पर निर्भर था। जो स्वरूप वर्तमान धातु-उद्योग का है, वैसा आगम-युग में भले ही न रहा हो; परन्तु प्राप्त सन्दर्भ मानव के श्रम, कौशल और ज्ञान के अद्भुत प्रमाण हैं। 72 कलाओं में धातुवाद का उल्लेख किया जा चुका है। आचारांग-सूत्र²³ में पीतल और कांस्य, जो मिश्रित धातु हैं, का उल्लेख टिन और जस्ते के प्रयोग को प्रमाणित करता है। लोहे, तपुस, ताम्र, जस्ते, सीसे, कांसे, चाँदी, सोने, मणि, वज्र आदि से बहुमूल्य पात्र तैयार किये जाते थे। साधारण-पात्रों में थाल, पात्री, थासग, मल्लग (प्याले), कइविय (चमचा), अवपतक (छोट तवा), करोडिया (कटोरी), तवय (तवा), कवल्लि (खड़पा), कन्दुअ, चन्दालग (ताम्बे की कंडाल) आदि उल्लेखनीय हैं।¹⁴ धातु-उद्योगों में लोह और स्वर्ण उद्योग को प्रमुख स्थान था।

लोह उद्योग

लोह उद्योग कुटीर उद्योग के रूप में प्रतिष्ठित था। नगर-नगर में लुहार होते थे और लोहकारों की कार्यशालाएँ होती थीं। स्वयं तीर्थंकर महावीर कई बार इस तरह की लौहशालाओं में ठहरे थे।²⁵ भगवती-सूत्र²⁶ में लोहशाला की कार्य-प्रक्रिया की एक झलक दी गई है। उसमें बताया गया है कि लोहे को भट्टी में डालकर तप्त किया जाता था। आग को तेज प्रज्वलित करने के लिए चमड़े की

धौंकनी से हवा दी जाती थी। लोहे की सण्डासी से प्रतप्त लोहे को ऊँचा-नीचा किया जाता। उसे एरण पर रखकर चर्मेष्ट या मुष्ठिक (हथौड़े) से पीटा जाता था। पीटे हुए लोहे को ठण्डा करने के लिए जल-द्रोणी (कुण्ड) में डाला जाता था। आज भी गाँवों में लुहार इस विधि से अपना कारोबार चलाते हैं। राजस्थान के गाड़िया लुहार भी इस तरह लोह-वस्तुएँ बनाते हैं। लोहार युद्ध के उपकरण, मुद्गल, मुषंडि, करौत, त्रिशूल, हल, गदा, भाला, तोमर, शूल, बछीं, तलवार, बसुला आदि बनाते थे।²⁷ प्राचीन भारत में लौहोद्योग कितना उन्नति पर था, इसका ज्वलन्त प्रमाण दिल्ली में कुतुबमीनार के निकट खड़ा लौह स्तम्भ है। गुप्तकाल से आज तक उस पर कहीं भी जंग नहीं लगा है। सूत्रकृतांग में सूई आदि के उल्लेख तथा अन्य ग्रन्थों में बढिया लौह-वस्तुओं के उल्लेख पर हर्मन जैकोबी की टिप्पणी उल्लेखनीय है -

*The following verses of sutrakritang are interesting as they afford us a glimpse of a Indian household some 2000 years ago. We find here a curious list of domestic furniture and other things of common use.*²⁸

इन सभी उद्धरणों से दूसरे अन्य उद्योग-धन्धों के विकास की सूचनाएँ भी प्राप्त होती हैं।

स्वर्ण-रजत और रत्न उद्योग

बहुमूल्य धातुओं का व्यवसाय अर्थव्यवस्था को प्रभावित करता था। स्वर्णकार का समाज में सम्मानपूर्ण स्थान था। ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार मेघकुमार को दीक्षा से पूर्व हार, अर्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, प्रालम्ब, कटक, पाद, लुटित, केयूर, अंगद, मुद्रिकाएँ, कटि सूत्र, कुण्डल, चूड़मणि, मुकुट आदि अनेक प्रकार के रत्न जड़ित स्वर्ण-रजत के आभूषण पहनाये गये थे।²⁹ ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार ही स्वर्णकारों ने उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लि की जीवन्त भव्य स्वर्ण-प्रतिमा बनाई थी। एक बार राजकुमारी मल्लि का एक दिव्य स्वर्ण-कुण्डल टूट गया। पिता ने स्वर्णकारों से वैसा ही कुण्डल बनाने के लिए कहा, परन्तु स्वर्णकार हूबहू कुण्डल नहीं बना सके तो कुपित राजा ने उनको निर्वासित कर दिया।³⁰ भगवान महावीर के प्रमुख श्रावक गाथापति आनन्द आदि बहुमूल्य स्वर्णाभूषण धारण करते थे। ये आभूषण मणि-रत्नों से जड़े हुए होते थे। भगवान महावीर के समक्ष उन्होंने आभूषण धारण करने की मर्यादा कर ली थी। आनन्द श्रावक ने कुण्डल और मुद्रिका (अंगूठी) के अलावा सभी आभूषणों का त्याग कर

दिया था।^{११} हाथी-घोड़े भी सोने-चाँदी के आभूषणों से अलंकृत किये जाते थे। रथ, सिंहासन आदि भी स्वर्ण-रजत और मणियों से विभूषित किये जाते थे।^{१२}

स्वर्णकारों और जौहरियों के व्यवसाय परस्पर अन्तर्सम्बन्धित थे। लोग आभूषणों के बड़े शौकीन होते थे। अतिरिक्त आय स्वर्ण-रजत के आभूषणों में नियोजित कर दी जाती थी। स्वर्ण-रजत के सिक्के भी प्रचलित थे। कल्पसूत्र और ज्ञाताधर्मकथांग के स्फटिक के उपयोग का उल्लेख स्फटिक उद्योग की ओर संकेत है। आगम-युग का यह सारा वृत्तान्त तत्कालीन भारत के स्वर्ण-रजत और रत्न-मणियों के व्यापक व्यवसाय का स्पष्ट निदर्शन है।

भाण्ड उद्योग

धातु के बर्तनों की भाँति मिट्टी के बर्तनों का खूब उपयोग होता था। मिट्टी के पात्र तथा अन्य वस्तुएँ बनाने का व्यवसाय आबादी के एक बहुत बड़े भाग के लिए रोजी-रोटी का माध्यम तथा अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने वाला धन्धा था। उपासकदशांग^{३३} में सकडालपुत्र का वर्णन आता है। वह तत्कालीन समय का भाण्ड-उद्योग करने वाला प्रसिद्ध उद्योगपति था।

कुम्भकार घड़े (घडए), मटके, कलश, परात, धान्य-पात्र, सुराही, करप (करा या करवा), वारए (वारक या गुल्लक), पिहडए (पिठर/मिट्टी की परात), अलिंजर, जंबूलए (सुराही), उट्टियाए (लम्बी गर्दन और बड़े पेट वाले मटके जो तेल, घी आदि भरने के काम आते हैं) आदि प्रकार और उपयोग के बर्तन तैयार करते थे।^{३४} निशीथ भाष्य में तीन प्रकार के कलश बताये गये हैं - निष्पावकुट, तेलकुट व घृतकुट।^{३५}

ग्रन्थों में विभिन्न पात्र तैयार करने की विधियों और उपकरणों के वर्णन प्राप्त होते हैं। कुम्हार मिट्टी-पानी को मिलाकर, उसमें क्षार तथा करीश मिलाकर मृत्तिका पिण्ड तैयार करता था। ऐसे पिण्डों को चाक पर रख कर दण्ड और सूत्रादि की सहायता से विभिन्न आकारों के पात्र तैयार करता था।^{३६} कुम्हार की पाँच प्रकार की शालाएँ होती थीं। जहाँ बर्तन बनाये जाते उसे 'कुम्भशाला', ईंधन रखने के स्थल को 'ईंधनशाला', भट्टियों को 'पचनशाला' तथा निर्मित बर्तनों को एकत्रित व सुरक्षित रखने के स्थान को 'पणतशाला' कहा जाता था। तैयार बर्तनों को विभिन्न प्रकार के रंगों व चित्तों से सजाया जाता था।^{३७}

भट्टियाँ आज की भाँति ही नगर से दूर या नगर के बाहर हुआ करती थीं। जिससे नगर में प्रदूषण नहीं हो। दुकानें नगर के अन्दर तो होती ही थी, बाहर राजपथों और चतुष्पथों पर भी होती थीं। बर्तनों पर राज्य द्वारा शुल्क या कर भी वसूला जाता था। इससे भाण्ड-उद्योग की महत्ता का पता चलता है। कुम्हारों का समाज में प्रतिष्ठापूर्ण स्थान था। उनकी कुम्भकारशालाओं में जैन श्रमण और अन्य भिक्षु ठहरा करते थे।^{१८}

उपर्युक्त वर्णित उद्योग-धन्धों के अलावा तत्कालीन समय में जो प्रमुख विधाएँ व्यवसाय का रूप ले चुकी थी उनका वर्णन भी यहाँ समीचीन है।

गृह निर्माण विद्या

ग्रन्थों में भव्य भवनों के उल्लेख मिलते हैं। भवन-निर्माण और नगर-स्थापना में लोग कुशल थे। आवश्यकचूर्णि और वसुदेवहिण्डी में शूपरिक के कोक्कास बढई को एक कुशल शिल्पकार के रूप में बताया गया है। कलिंगराज के कहने पर उसने सात मंजिला सुन्दर भवन बनाया था। वह यन्त्र-विद्या का भी जानकार था। उसने यान्त्रिक कबूतर बनाये थे। वे कबूतर राजभवन में जाते और गंधशालि चुगकर लौट आते। राजा के आदेश पर गरूडयंत्र भी बनाया।^{१९} नगरों व भवनों के उल्लेख से स्पष्ट है, उस समय कुशल कारीगर व सिविल अभियन्ता थे जो राज प्रासाद, भवन, कुटीर, घर, गुफा, देवालय, बाजार, आश्रम, प्याऊ, सभामण्डप, भूगृह, पुष्करिणी, बावड़ी, स्तूप आदि बनाते थे।^{२०} बृहत्कल्पभाष्य में तो वातानुकूलित घर बनाने का भी उल्लेख है।^{२१} लेकिन उस समय का वातानुकूलन विद्युतीय नहीं होता था। प्राकृतिक होता था, इसलिए स्वास्थ्यप्रद होता था। निस्संदेह, वास्तु उद्योग और गृहनिर्माण-विद्या आय का एक बहुत बढ़िया जरिया रही होगी। पत्थर उठाने वाले साधारण मजदूर से लेकर कारीगर, शिल्पकार, सजाकार आदि के रोजगार इस व्यवसाय से जुड़े हैं।

काष्ठ-व्यवसाय

घर बनता है, तो लकड़ी की भी आवश्यकता होती है। इसके अलावा भी लकड़ी बहुत ही आर्थिक महत्त्व की वस्तु है। प्राचीन समय में घने जंगल थे और विभिन्न किस्मों की प्रचुर लकड़ी थी। भवनों के द्वार, खिड़कियाँ, गवाक्ष, सोपान, कंगूरे आदि काष्ठ-निर्मित होते थे। घर की वस्तुओं में खूटी, सन्दूक, खिलौने, ओखली, मूसल, पीढ़, पलंग, बाट आदि; वाहनों में गाड़ी, रथ, पालकी, नौका,

जहाज आदि व कृषि उपकरणों में हल, जुआ, पाटा आदि लकड़ी से निर्मित होते थे।¹² लकड़ी का काम करने वाले बढ़ई कहलाते थे। शिल्पी लकड़ी की वस्तुओं को अधिकाधिक कलात्मक बनाते। कल्पसूत्र में काष्ठ-खड़ाऊँ (पाउया) को वैदूर्य तथा रत्नों से जड़कर उसे अत्यन्त कलात्मक व मूल्यवान बनाने का उल्लेख है।¹³ गोशीर्ष चन्दन लकड़ियों में सबसे बहुमूल्य लकड़ी माना जाता था। जबकि वाहन निर्माण और मजबूती की दृष्टि से तिनिश काष्ठ श्रेष्ठ माना जाता था।

काष्ठ-उद्योग केवल काष्ठ-उद्योग ही नहीं था अपितु वह अनेक प्रकार के कार्यों/उद्योगों के लिए सहायक व आधारभूत था। काष्ठकर्म एक विशेष शिक्षण व प्रशिक्षण का विषय था। कोक्कास बढ़ई ने यवन के बढ़ई आचार्यों से काष्ठ कर्म की शिक्षा प्राप्त की थी।¹⁴

गुड़-शक्कर उद्योग

गन्ने की खेती का वर्णन किया जा चुका है। गुड़, मिश्री, खाण्ड और शक्कर गन्ने के मुख्य उत्पाद हैं। गुड़ तो मुख्य रूप से निर्मित किया जाता था पर उस समय शक्कर का उत्पादन भी होता था, ऐसे उल्लेख मिलते हैं।¹⁵ ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार भारतीय व्यापारी कालिका द्वीप में अन्य वस्तुओं के साथ शक्कर भी ले गये थे। उसमें पुष्पोत्तर-शर्करा और पद्मोत्तर-शर्करा का उल्लेख विशिष्ट है।¹⁶ इससे पता चलता है कि ईक्षु-रस के अलावा अन्य रसों से भी शक्कर बनाई जाती थी। ईक्षु-रस व अन्य रसों से गुड़ बनाने की प्रक्रिया ज्यादा कठिन नहीं है, पर खाण्ड और शक्कर का निर्माण सचमुच तत्कालीन समय के विकसित वाणिज्यिक-कौशल का उदाहरण है। आगम-सूत्रों में ईक्षुगृह (इक्खुवाड़ा), ईक्षुयन्त्र (इक्खुजत) आदि के सन्दर्भ मिलते हैं।¹⁷ अवश्य ही कोई परिशोधक प्रक्रिया और यन्त्र भी रहे होंगे। गुड़-शक्कर का सीधा उपयोग होता था और अनेक प्रकार की मिठाइयों में भी उनका उपयोग होता था। तरह-तरह के व्यंजनों और पकवानों का जो वर्णन मिलता है, उनमें शर्करा का विविध उपयोग होता था।

तेल-उद्योग

कृषि उपजों के अन्तर्गत तिलहन भी होती थी। तिलहन में वह समस्त प्रकार की कृषि उपज सम्मिलित है, जिसमें से तेल प्राप्त किया जाता है। उपासकदशांग के अनुसार सरसों, तिल, अलसी, एरण्ड, कुसुंभा, इंगुदी आदि से तेल निकाला जाता था।¹⁸ तत्कालीन विकसित समाज व्यवस्था को देखते हुए मुंगफली व

मुंगफली का तेल भी रहा होगा। देश-विदेश में व्यापार को देखते हुए नारियल और नारियल का तेल भी प्रयोग किया जाता होगा। तेल की घाणी चलाने को यन्त्रवीडन कर्म में गिना गया है, जिसे श्रावक के लिए त्याज्य कर्मादान बताया गया है।⁴⁹

दवा-व्यवसाय

औषधियों का भी एक लम्बा-चौड़ा व्यापार था। तेल से निर्मित दवाइयों बाहरी रूप में प्रयुक्त हुआ करती थी। ग्रन्थों में शतपाक और सहस्रपाक तेल का उल्लेख मिलता है, जिन्हें सौ या हजार औषधियों में तथा सौ या हजार बार पकाया जाता था।⁵⁰ अन्य अनेक प्रकार के औषधीय तेलों के उल्लेख से आयुर्वेद की विकसित अवस्था का पता चलता है। स्थानांग सूत्र के आठवें अध्ययन में आठ प्रकार के आयुर्वेद का उल्लेख है - कौमारभृत्य (शिशु/बाल रोग चिकित्सा), शालाक्य (श्रवण आदि शरीर के उर्ध्वभाग के रोगों का इलाज), शाल्यहृत्य (प्राचीन शल्यो व शल्य-उपकरणों का विवेचन), कायचिकित्सा (ज्वर, अतिसार आदि की चिकित्सा), जांगुल (विषघातक औषध उपाय), भूतविद्या (भूतों के निग्रह की विद्या), रसायन (आयु, बल, बुद्धि आदि बढ़ाने का तन्त्र) और बाजीकरण (वीर्यवर्द्धक औषधियों का निरूपण)। ये विधाएँ प्राचीन भारत में स्वास्थ्य जागरूकता तथा दवा/चिकित्सा व्यवसाय की प्रमाण है। ज्ञाताधर्मकथांग व उपासकदशांग में 16 प्रकार के रोगों का उल्लेख है।⁵¹ रोग-निवारण के लिए अनेक रसायनों तथा जड़ी-बूटियों से औषधियों का निर्माण किया जाता था। आयुर्विज्ञान विकसित अवस्था में था।⁵² खरक वैद्य ने भगवान महावीर के कानों से कीलें निकाली, उससे पूर्व शरीर का तेल से मर्दन किया। कीले निकालने पर रक्त प्रवाहित होने लग गया था। वैद्य ने संरोहण औषधि से रक्त प्रवाह को रोक दिया।⁵³

प्रसाधन-व्यवसाय

विभिन्न प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधनों का उत्पादन और व्यापार भी होता था। इस व्यवसाय को करने वाले 'गंधी' कहलाये जाते थे।⁵⁴ राजन्य और श्रेष्ठी वर्ग इत्र, सुगंधित द्रव्यों और विलेपन का उपयोग करते थे, वहीं महिलाएँ भी अपने श्रृंगार में तरह-तरह के कॉस्मेटिक्स का उपयोग करती थीं।⁵⁵ लाक्षा रस नामक प्रसाधन से महिलाओं के अंग राग बनाये जाते थे। आँखों के लिए सूरमा और चिर-युवती दिखाने के लिए एक विशेष प्रकार की गुटिका का भी उल्लेख मिलता है।⁵⁶ गंधीयशाला में सौन्दर्य-प्रसाधनों की बिक्री होती थी। श्रावक को सातवें व्रत उपभोग-परिभोग के अन्तर्गत प्रसाधनों की मर्यादा का सुझाव दिया गया है।

नमक उद्योग

भोजन का स्वाद बढ़ाने के लिए नमक का प्रयोग सदा ही से किया जाता है। औषधियों में भी इसका प्रयोग होता है। जैन ग्रन्थों में नमक को पृथ्वीकायिक बताकर इसके विवेक सम्मत उपयोग के लिए कहा गया है। दशवैकालिक-सूत्र⁶⁷ में इन लवणों का उल्लेख है -

- ऊसर भूमि की मिट्टी से प्राप्त।
- समुद्र के पानी से प्राप्त (समुद्र क्षार)।
- सेन्धा नमक (सौन्धव)।
- रोमा (चट्टानी नमक), काला नमक व सफेद नमक।

लवण का इतना व्यापारिक महत्त्व था कि 'लवणाध्यक्ष' पदनाम से राज्य में अधिकारी तक होता था।⁶⁸

चर्म-उद्योग

जैन ग्रन्थों में प्रसंगवश चमड़े के व्यवसाय के उल्लेख मिलते हैं। बहृत्कल्पसूत्र में गाय, भैंस, बकरी, भेड़, कुत्ते आदि पालतू पशुओं और मवेशियों तथा जंगली जानवरों के चर्म का उल्लेख मिलता है।⁶⁹ आचारांग के अनुसार सिन्ध देश विभिन्न प्रकार के चमड़ों के लिए ख्यात था। वहाँ से पेसा, पेसल, नीले और कृष्ण मृग के चर्म बाहर भेजने की सूचना मिलती है।⁷⁰ बाघ, चीते और ऊँट के चमड़ों से चादरें बनाये जाने की भी सूचना मिलती है। इन सूचनाओं का यह अर्थ नहीं कि आत्म-साधना और अहिंसा के पथ पर चलने वाले उनका उपयोग करते थे। असल में ग्राह्य और अग्राह्य को जानकर ही स्वीकार और अस्वीकार किया जा सकता है।

चमड़े से जूते भी निर्मित किये जाते थे। यह आवश्यक नहीं है कि चर्म प्राप्ति जीवित पशुओं को मारकर ही की जाय। भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था में चर्मकार मृत पशुओं से चमड़ा प्राप्त करता है और उसका वाणिज्यिक उपयोग करता है। आगम-युग में भी चर्मकार थे। वे मृत-पशु को गाँव नगर से बाहर ले जाते, उससे चमड़ा प्राप्त करते और उसका विभिन्न वस्तुओं के रूप में उपयोग करते थे। ऐसे मृत-पशुओं की हड्डियों का भी उपयोग किया जाता है। इस प्रकार चर्मकार व्यावसायिक आधार पर निर्मित समुदाय था और एक अहिंसक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का एक हिस्सा था।

मद्य उद्योग

प्रसंगवश ऐसे अनेक सन्दर्भ आगम-ग्रन्थों में मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि विभिन्न प्रकार की शराबों का उत्पादन होता था। शराब-व्यवसाय निन्दित व्यवसाय था। भगवान महावीर ने शराब-व्यवसाय को पन्द्रह निषिद्ध कर्मादानों में परिगणित किया है।^१ ग्रन्थों में अलग-अलग स्थानों पर मदिरा के विभिन्न नामों के उल्लेख मिलते हैं। यथा-चन्द्रप्रभा, मणिशलाका, वरसीधु, वरवारूणी, पालनिर्याससार, पत्तनिर्याससार, पुष्प निर्याससार, मधु, मेरक, जम्बूफल, दुग्ध, अतिप्रसन्ना, तेल्लक, शतायु, खजूरसार, द्राक्षासव, कपिशायन, सुपक्त, इक्षुसार आदि नाम मिलते हैं। ज्ञात होता है कि मद्य का औषधीय प्रयोग भी होता था।

हाथी दाँत उद्योग

पन्द्रह कर्मादानों में 'दन्त वाणिज्य' का निषेध तत्कालीन समय में हाथी दाँत उद्योग की सूचना करता है।^२ उस समय विस्तृत वन थे और विपुल वन्य जीव। हाथी दाँत प्राप्त करने के लिए हाथी को मारना आवश्यक नहीं था। वह मृत हाथियों से भी सहज प्राप्त होता था।^३ पर लोभी हिंसा-अहिंसा का विचार नहीं करता है। हाथी दाँत की वजह से संसार में हाथियों की संख्या बहुत ही कम रह गई है।

चित्र व्यवसाय

ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित बहत्तर कलाओं का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। उनमें चित्रकारी भी है। धारणी देवी के शंयनागार की छत लताओं, पुष्पावलियों और आकर्षक चित्रों से सज्जित थी।^४ मल्लिकुमारी के अनुज मल्लदिन ने मिथिला के राजमहल के उद्यान (प्रमदवन) में एक चित्र सभा का निर्माण कराया था। इस चित्र सभा के निर्माण में उस समय के नामी और कुशल चित्रकार आये थे। कुछ चित्रकार तो ऐसे थे जो शरीर का एक अंग देख लेने मात्र से पूरे शरीर की अनुकृति चित्रित करने में दक्ष थे।^५

अन्य उद्योग धन्धे

जो विवरण और वर्णन हमें प्राप्त होते हैं, उनसे यह निष्कर्ष निकालना आसान है कि आगम-युग की आर्थिक गतिविधियाँ विविधतापूर्ण और विकसित अवस्था में थीं। पर्याप्त और प्रचुर संसाधनों के बीच नये उद्योग-धन्धे, नये शिल्प और वाणिज्य का विकास होता है और ऐसी विकासमान या विकसित व्यवस्था में ही धर्म और अध्यात्म की गतिविधियाँ आगे बढ़ पाती हैं। ग्रन्थों में ऊपर वर्णित

उद्योग-धन्धों के अलावा भी अनेक पेशे और व्यवसाय उपलब्ध थे। अपने कार्य, रोजगार और व्यवसाय की दृष्टि से समाज में एक लम्बी वर्ग-शृंखला थी, जिसके उल्लेख से तत्कालीन व्यवसायों की विविधता पर प्रकाश पड़ता है। ऐसे पेशेवर लोगों में - आचार्य, चिकित्सक (वैद्य), वास्तुपाठक, लक्षणपाठक, नैमित्तिक, गार्धर्विक, नट, नर्तक, जल (रस्सी का खेल करने वाले), मल्ल, मौष्टिक, विडम्बक (विदूषक), कथक, पूवक (तैराक), लासक (रास गाने वाले), आख्यायक (शुभाशुभ बताने वाले), लंख (बांस पर चढ़कर खेल दिखाने वाले), मंख (चित्रपट लेकर अर्जन करने वाले), तूगइल (तूण बजाने वाले), तुम्बवीणिक (वीणावादक), तालाचर (ताल देने वाले), सपेरे, मागध (गाने-बजाने वाले), हास्यकार, मसखरे, चाटुकार, दर्पकार, कौत्कुच्य आदि के अलावा राज भृत्यों में छगग्राही, सिंहासनग्राही, पादपीठग्राही, पादुकाग्राही, यष्टिग्राही, कुन्तग्राही, चापग्राही, चमरग्राही, पाषकग्राही, पुस्तकग्राही, फलकग्राही, पीठग्राही, वीणाग्राही, कुतुपग्राही, धनुषग्राही, दीपिका (मशाल) ग्राही आदि का उल्लेख मिलता है ^{६६} एक व्यक्ति अनेक प्रकार की योग्यताएँ रखता था और जीविका के लिए वह समयानुसार अनेक कार्य भी करता था।

बौद्ध साहित्य में भी इन लघु व्यवसायों के नाम मिलते हैं :- किसान, बढ़ई, कुंभकार, माली, लोहार, धोबी, बुनकर, स्वर्णकार, पशुपालक, मल्लाह, मणियारिन, मछुआरे, गंधी (इत्र-विक्रेता), फेरी वाले, वैद्य, जादूगर, गणिका, वैश्या, वस्त्र-व्यापारी, रसोइया, नट, नर्तक, गायक, तालिक (ताली बजाकर गाने वाले), कुंभधुनिक (घड़े बजाकर गाने वाले), ग्वाले, चित्रकार, पणिहारिन, ज्योतिषी, रंजक, नाई, चर्मकार, हाथी दाँत का काम करने वाले, सूदखोर, खेलुक, गार्धर्विक, मणिकार, बांस फोड़, योद्धा, तृणहारक (घसियार), काष्ठहारक (लकड़हार) आदि ^{६७}

कर्म-आर्य

इन सबके अलावा चतुर्थ उपांग प्रज्ञापना में दो ऐसे प्रकार के मनुष्यों की चर्चा है, जिसका सम्बन्ध व्यक्ति के व्यवसाय और आजीविका से है ^{६८} ये भेद हैं - कर्म आर्य और शिल्प आर्य। कर्म आर्य के अन्तर्गत दोस्सिया (दूश्यक), सौत्तिया (सौत्तिक), कप्पासिया (कार्पासिक), सुत्तवेयालिया (सूत्र-वैत्तालिक), भण्ड वैयालिया (भाण्ड-वैत्तालिक), कौसालिया (कौसालिका) तथा णरदावणिया (नर-वाहनिक) को किया गया है। कर्मार्थ की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि अहिंसा आदि एवं शिष्ट सम्मत ढंग से आजीविकार्थ किये जाने वाले कर्म आर्य-कर्म कहलाते हैं ^{६९}

कर्म आर्य के जो भेद मूल पाठ में बतलाये गये हैं, वर्तमान सन्दर्भों में नितान्त अपर्याप्त है। परन्तु मूल पाठ में ही आगे कहा गया है कि “ये यावण्ये तहप्पगारा।” अर्थात् अन्य जितने भी आर्य कर्म वाले हो, उन सबको कर्मार्थ समझना चाहिये।

शिल्प-आर्य

अगले सूत्र में शिल्पार्यों की चर्चा है। शिल्पार्य की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि - जो शिल्प अहिंसा आदि धर्मांगों से तथा शिष्ट जनों के आचार के अनुकूल हो, वह आर्य शिल्प कहलाता है। ऐसे आर्य शिल्प से जीवन-निर्वाह करने वाले शिल्पार्यों में परिगणित किये गये हैं।⁷⁰ शिल्पार्यों के अन्तर्गत - तुण्णागा (तुन्नाग, रफ्फूगर, दर्जी), तन्तुवाया (तन्तुवाय, जुलाहे), पट्टगारा (पट्टकार, पटवा), देयडा (द्रतिकार, चमड़े की मशक बनाने वाले), वरणा (वरण या वरूट्ट), पिच्छिया (पिच्छिक, पिंछी बनाने वाले), छब्बिया (छविक, चटाई आदि बनाने वाले), कट्टपाउयारा (काष्ठपादकाकार/लकड़ी की खड़ाऊ बनाने वाले), मुंजपाउयारा (मुंज की खड़ाऊ बनाने वाले), छत्तारा (छत्तकार/छत्ते बनाने वाले), वज्जारा (वज्जार, वाह्यकार, वाहन बनाने वाले अथवा बहकार - मोर पिच्छी बनाने वाले), पोत्थारा (पुच्छकार-पूँछ के बालों से झाडू बनाने वाले; पुस्तकार, जिल्दसाज या मिट्टी के पुतले बनाने वाले), लेप्पारा (लेप्यकार - लिपाई-पुताई करने वाले या मिट्टी के खिलौने बनाने वाले), चित्तारा (चित्तकार), संखारा (शंखकार), दन्तारा (दन्तकार - दाँत बनाने वाले या दाँती), भण्डारा (भाण्डकार - विविध बर्तन बनाने वाले), जिज्झगारा (जिह्वाकार - नकली जीभ बनाने वाले), सेल्लगारा (सिलावट, पत्थर शिल्पी), कोडिगारा (कोड़ीकार - कोड़ियों की माला आदि बनाने वाले), आदि परिगणित किये गये हैं। अन्य सभी आर्य शिल्पकार भी शिल्प आर्य के अन्तर्गत समाविष्ट माने जाएँगे।

कर्मार्थ और शिल्पार्य के उपर्युक्त भेदों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उस समय कोई कार्य छोटा या बड़ा (निम्न या उच्च) नहीं होता था, अपितु अच्छा-बुरा, उचित-अनुचित, हिंसक या अहिंसक होता था। संभवतः इसी आधार पर ही मनुष्यों का वर्गीकरण भी आर्य और म्लेच्छ किया होगा, क्योंकि कि भगवान महावीर ने कर्म को प्रधान माना है, जन्म और वर्ण को नहीं।

भाषा और आजीविका

यहाँ पर भाषा आर्य⁷¹ की चर्चा करना भी इसलिए समीचीन होगा कि कर्मार्य और शिल्पार्य की भाँति भाषा भी आजीविका का माध्यम रही होगी। जैसा कि आज भी होता है। अर्धमागधी जानने वालों को भाषार्य कहा गया है। भाषा-आर्य का आर्थिक पक्ष यह है कि प्रथम तो अर्धमागधी उस समय की जन भाषा थी। व्यवसाय और वाणिज्य की अभिवृद्धि के लिए लोक भाषा या लोकप्रिय भाषा का सहारा लिया जाता है। जिससे विपणन सुगमता से हो सके। दूसरा, उस भाषा के अध्ययन-अध्यापन से भी आजीविका जुड़ी होती है। तीसरा, भगवान महावीर ने अपने उपदेश उस भाषा में देकर उसे अत्यन्त गरिमामय स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया था। अर्धमागधी का लेख-विधान 18 प्रकार का बतलाया गया है। वह है - ब्राह्मी, यवनानी, दोशापुरिका, खरौष्ट्री, पुष्करसारिका, भोगवतिका, प्रहरादिका, अन्ताक्षरिका, अक्षरपुष्टिका, वैनायिका, निह्विका, अंक लिपि, गणित लिपि, गन्धर्व लिपि, आदर्श लिपि, माहेश्वरी, तामिली, द्राविडी और पौलन्दी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यवसाय, वाणिज्य और उद्योग धंधे सभी प्रकार के थे, पर श्रेष्ठ, उत्तम, अहिंसक और अल्पहिंसक व्यवसाय करने वाले कर्मार्य और शिल्पार्य कहे गये हैं। इससे अर्थोपार्जन में एक विवेक दृष्टि परिलक्षित होती है।

सन्दर्भ

1. उपासकदशांग सूत्र 7/19
2. ज्ञाताधर्मकथांग 1/68
3. औपपातिक, राजप्रशनीय, समवायांग सूत्र-72, कल्पसूत्र सुबोधिका टीका
4. जम्बूद्वीप प्रज्ञितिवृत्ति, वक्षस्कार 2, पत्र 139-2, 140-1; एवं देखें - ऋषभदेव एक परिशीलन'-देवेन्द्र मुनि शास्त्री, परिशिष्ट पृ.-11
5. अमर मुनि, उप-प्रवर्तक सम्पादित आचारांग सूत्र 2/5/1/211, पृ.-311
6. ज्ञाताधर्मकथांग 1/107, भगवती 9/33/57
7. ज्ञाताधर्मकथांग प्रथम अध्ययन।
8. निशीथचूर्ण 2.645
9. वही, गाथा-1992
10. बहत्कल्पभाष्य 3.2997
11. आवश्यक निर्युक्ति
12. बहत्कल्पभाष्य 1.171
13. पिण्डनिर्युक्ति गाथा 605
14. कौटिलीय अर्थशास्त्र 2/23/40
15. आचारांग सूत्र 2/5/1/145
16. ज्ञाताधर्मकथांग प्रथम अध्ययन।
17. आचारांग सूत्र 2/5/1/215
18. अनुयोगद्वार 28/38
19. प्रश्नव्याकरण 9/2
20. आचारांग 2/5/1/215
21. निशीथ सूत्र 2/952, 954

22. ज्ञाताधर्मकथांग 17/3
23. आचारांग सूत्र 2/5/1/152
24. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ.-145
25. आचारांग सूत्र 1/9/2/2
26. व्याख्याप्रज्ञप्ति 16/9/7
27. प्रश्नव्याकरण 3/5
28. जैकोबी, हर्मन, सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, भाग 45वाँ, पृ.-276
29. ज्ञाताधर्मकथांग 1/25
30. वही, 8वाँ अध्ययन
31. उपासकदशांग 1/34
32. औपपातिक सूत्र 41
33. उपासकदशांग 7वाँ अध्ययन
34. वही एवं अनुयोगद्वार सूत्र 132
35. निशीथ भाष्य 10.3228
36. उपासकदशांग 7वाँ अध्ययन
37. बहत्कल्पभाष्य 4.3445
38. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ.-147
39. वही, प.-148
40. प्रश्नव्याकरण 1/14
41. बहत्कल्पभाष्य 3.2716
42. प्रश्नव्याकरण 1/18
43. निउणोविय मिसिमिसिंत-मणि-रयण-मंडियाओ पाउयाओ - कल्पसूत्र 1.15
44. अनुयोगद्वार 1/66

45. राजप्रश्नीय सूत्र 42, प्रश्नव्यकरण 2/13
46. ज्ञाताधर्मकथांग 17/14
47. जैन, कमल (डॉ.) प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन, पृ.-93
48. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ.-153
49. उपासकदशांग पहला अध्ययन
50. निशीथ सूत्र 1/452
51. जैन, ज.च. (डॉ.) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ.-308 एवं ज्ञाताधर्मकथांग 16वाँ अध्ययन
52. जैन, दिनेन्द्र चन्द्र (डॉ.) इकोनोमिक लाइफ इन एंशेंट इंडिया पृ.-55
53. आवश्यक-चूर्ण 322
54. ज्ञाताधर्मकथांग पहला अध्ययन
55. ज्ञाताधर्मकथांग प्रथम व 16वाँ अध्ययन
56. सूत्रकृतांग 1/4/2, 248, 285, 286
57. दशवैकालिक सूत्र 3/8
58. कौटिलीय अर्थशास्त्र 2/12/30
59. बृहत्कल्पसूत्र 3.3
60. आचारांग सूत्र 2/5/3/146
61. जैन, जगदीशचन्द्र (डॉ.) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ.-197 एवं उपासकदशांग प्रथम अध्ययन
62. उपासकदशांग प्रथम अध्ययन
63. जैन, के.सी. लॉर्ड महावीरा एण्ड हिज टाइम्स, पृ.-290
64. ज्ञाताधर्मकथांग पहला अध्ययन
65. ज्ञाताधर्मकथांग 8वाँ अध्ययन

66. जैन; जगदीशचन्द्र (डॉ.) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ.-155
एवं सूत्रकृतांग 4.2.7, निशीथ सूत्र 9.21
67. सिंह, परमानन्द (डॉ.) बौद्ध साहित्य में भारतीय समाज-पंचम अध्याय
68. प्रज्ञापना सूत्र 1.105
69. मुनि मधुकर, युवाचार्य सम्पादित प्रज्ञापना सूत्र, प.-107
70. प्रज्ञापना सूत्र 1.106
71. प्रज्ञापना सूत्र 1.107

व्यापार, व्यवसाय और वाणिज्य

आधुनिक विज्ञान और तकनीक को छोड़ दे तो आगम-युग में जो व्यापार और व्यवसाय, शिल्प और कला थे, उसकी एक लम्बी सूची है, जिस पर हमने ऊपर विमर्श किया। कितने ही व्यवसाय, शिल्प और कलाएँ तो ऐसी हैं कि आज वे अनुपलब्ध हैं। यह समय का प्रभाव है।

प्रगति के साथ जब वस्तु विनिमय में व्यावहारिक कठिनाइयाँ पैदा होने लगी तो मुद्रा-विनिमय और मुद्रा के माध्यम से ऋय-विक्रय की व्यापारिक गतिविधियाँ होने लगी। यह निर्भरता स्थानीय, क्षेत्रीय और देशीय से बढ़कर जब अन्तर्देशीय हो जाती है तो आयात-निर्यात और वैश्विक व्यापार जन्म लेता है। इस प्रकार दो प्रकार की व्यापारिक गतिविधियाँ होती हैं - देशी व्यापार और विदेशी व्यापार। विदेशी व्यापार में आयात-निर्यात मुख्य है। व्यापार का तीसरा तरीका है - मध्यपत्तन व्यापार (Intrepot Trade)

व्यापार और व्यापारी

सामान्यतः ऋय-विक्रय को व्यापार (Trade) और इन गतिविधियों में संलग्न व्यक्ति को व्यापारी (Trader) कहा जाता है। उत्तराध्ययसूत्र में खरीदने वाले को कइयो (क्रेता) और बेचने वाले को वणिओ (वणिक) कहा गया है।¹ व्यापारी दो प्रकार के बताये गये हैं - 1. स्थानीय व्यापारी 2. सार्थवाह²

स्थानीय व्यापारी के तीन प्रकार बताये गये हैं - वणिक, गाथापति और श्रेष्ठी।

स्थानीय व्यापार

ग्राम-नगर के बाजारों में नित्य उपभोग की तथा अन्य सभी वस्तुएँ उपलब्ध रहती थी। राजमार्गों और चौराहों पर भी खाने-पीने की चीजे मिल जाया करती थी। दशवैकालिक में बताया गया है कि वहाँ सत्तू, चूर्ण, तिलपट्टी, जलेबी, लड्डू, मालपुए आदि उचित मूल्य पर बिक्री के लिए उपलब्ध रहते थे।³ अलग-अलग वस्तुओं के लिए अलग-अलग बाजार भी होते थे तथा अनेक दुकानें वस्तु-विशेष के लिए ही होती थीं। 'चक्रिकशाला' में तेल, गौलिकशाला में गुड़, दोसियशाला में दूष्य (वस्त), सौतियशाला में सूत तथा बोधियशाला में तन्दूल बेचे जाते थे।⁴

'कुत्रिकापण' में सभी प्रकार की छोटी-बड़ी वस्तुएँ बिक्री के लिए उपलब्ध रहती थी। राजा श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार के दीक्षा-महोत्सव पर कुत्रिकापण से दो लाख स्वर्ण मोहरों के रजोहरण और भिक्षा-पात्र मंगवाये गये थे।^१ कुत्रिकापण की तुलना वर्तमान के विभागीय भण्डारों से की जा सकती है। अलग-अलग वस्तुओं की अलग-अलग दुकान तथा सभी प्रकार की वस्तुओं की एक विभागीय बड़ी दुकान से यह अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है कि स्थानीय व्यापार व्यवस्थित था।

मेघ कुमार की दीक्षा के लिए दो लाख स्वर्ण-मोहरों के पात्र और रजोहरण तथा एक लाख नाई को दिया जाना इस बात का सूचक है कि धार्मिक-गतिविधियाँ भी अर्थ-जगत को बहुत प्रभावित करती थी।

वणिक्

वणिक् के अन्तर्गत 'वणि', 'विवणि' और 'कक्खपुडिय' ये तीन भेद मिलते हैं। एक ही स्थान पर दुकान लगाकर बैठकर व्यापार करने वाले वणि, घूम कर व्यापार करने वाले विवणि और बगल में माल की गठरी लेकर व्यापार करने वाले कक्खपुडिय वणिक् कहलाते थे।^१ इस प्रकार के सामान्य व्यापारी बहुतायत से पाये जाते थे।

गाथापति

गाथापति और श्रेष्ठी सम्पन्न वर्ग के व्यापारी होते थे। ये व्यापार (ऋय-विक्रय) के अतिरिक्त भी बहुत सारे काम-धन्धे करते थे तथा व्यापार भी इनका बृहद् स्तर पर होता था। समाज और शासन में गाथापति और श्रेष्ठी का अच्छा मान-सम्मान था। भगवान महावीर का प्रमुख श्रावक आनन्द गाथापति था तथा वह सुप्रतिष्ठित व्यक्तित्व का धनी था।^१ श्रेष्ठी भी बहुत सम्माननीय व्यवसायी होता था। उसे राज्य की ओर से स्वर्ण-मुकुट प्रदान किया जाता तथा वह 18 श्रेणियों का भी मुखिया होता था।^१

सार्थवाह

सामूहिक रूप से व्यापारिक-यात्रा करना 'सार्थ' कहलाता था तथा उस यात्रा के नेतृत्वकर्ता को 'सार्थवाह' कहा जाता था। देशी और विदेशी व्यापार को बढ़ावा देने में सार्थवाहों का अहम् योगदान रहता था। सार्थवाह एक बहुत ही बुद्धिमान, चतुर, साहसी, दूरदर्शी और निडर व्यक्ति होता था। वह सार्थ को गन्तव्य स्थान पर पहुँचाना अपना कर्तव्य समझता था।^१ व्यापार-यात्री-दल के सभी सदस्यों

को सार्थवाह की आज्ञा का पालन करना पड़ता था। दुष्कर और विकट राहों पर दो-दो सार्थवाह भी सार्थ का नेतृत्व करते थे। पाँच प्रकार के सार्थ बताये गये¹⁰ :-

1. भण्डी : इसमें माल ढोने के लिए शटक आदि यान होते थे।
2. बहलिका : इसमें भारवाही पशु ऊँट, घोड़े, बैल, खच्चर आदि होते थे।
3. भारवह : इस प्रकार के सार्थ में यात्री अपना भार स्वयं ढोते थे।
4. औदारिका : इसमें श्रमिकों का सार्थ होता था, जो उनकी आजीविका के लिए घूमते थे।
5. कार्याटिका : इसमें भिक्षुओं और साधु-साध्वियों का सार्थ होता था।

व्यापारी समाज ने सार्थ जैसी महत्वपूर्ण व्यवस्था द्वारा समाज के अनेक उत्साही युवकों को देशान्तर की यात्रा कराई है। उन्हें आजीविका प्रदान की है। उनमें पुरुषार्थ जगाया है। अभय, सुरक्षा, आजीविका, पूंजी, मार्गदर्शन आदि के लिए सार्थ एक निरापद सहारा था।¹¹ तत्कालीन समय के व्यापार, व्यवसाय और उद्योगों के विकास में सार्थ का अत्यधिक महत्त्व था। सार्थ अपने प्रस्थान से पूर्व अनेक तैयारियाँ करता था। ऐसी यात्राओं से पूर्व सार्थों को राजाओं से भी अनुमति लेनी पड़ती थी¹² तथा राजा बीहड़ और भयानक रास्तों में सार्थों की सुरक्षा के लिए अपने सुरक्षाकर्मी भी नियुक्त करता था।¹³ सार्थ स्वयं भी सुरक्षा के व्यापक प्रबन्ध करते थे। विपुल पाथेय साथ लेकर चलते थे। उदार धार्मिक वृत्ति वाले सार्थवाह अपने सहयात्रियों के लिए खान-पान और सुख-सुविधाओं का पूरा खयाल रखते और बदले में कुछ भी शुल्क नहीं लेते। प्रस्थान से पूर्व भी निर्धन और बेरोजगार यात्रियों को अपने सार्थ में सम्मिलित होने का आमन्त्रण अवश्य देते और उन्हें व्यापार करने का प्रेरक सुअवसर प्रदान करते।¹⁴ सार्थवाहों की यह सहयोग व सहकारिता की भावना सामाजिक और व्यावसायिक उन्नति में बहुत सहायक हुई। आज व्यवसाय जगत् में गलाकाट स्पर्धा करने वालों को प्राचीन भारत के सार्थवाहों से शिक्षा लेनी चाहिये।

महिला उद्यमी

महिलाएँ व्यवसाय अब करने लगी हो, ऐसी बात नहीं है। आगम-युग की नारियाँ भी व्यवसाय में निपुण थी। खेती-बाड़ी, पशुपालन, गृह और कुटीर उद्योगों में तो महिलाओं का प्रत्यक्ष महत्त्वपूर्ण योगदान रहता ही था। परन्तु बड़े काम धन्धों

में उनकी भूमिका रेखांकनीय है। ज्ञाताधर्मकथांग में द्वारकानगरी की थावचा नामक सार्थवाही महिला के बारे में बताया गया कि वह राजकीय व्यवहार और व्यापार में निष्णात थी।¹⁵ रोहिणी का व्यक्तित्व भी उद्यमशीलता का परिचायक था। इसी प्रकार अनुत्तरोपपातिकदशा में उल्लेख है कि काकन्दी नगरी की भद्रा सार्थवाही के पास प्रचुर धन-सम्पत्ति थी। वह माल लेकर विदेश जाती थी और व्यवसाय करती थी। उसने अपने इकलौते बेटे के लिए बत्तीस भवन बनवाये थे।¹⁶ पता चलता है कि भगवान महावीर के अनुयायी वर्ग में महिला उद्यमियों को प्रतिष्ठापूर्ण स्थान प्राप्त था। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि उद्यम करने वाली नारियाँ अपने पारिवारिक दायित्वों को भी निष्ठा से निभाती थी।

व्यापारिक संगठन

व्यापारी और व्यवसायी अपने व्यापारिक हितों की रक्षार्थ संगठन भी बनाते थे। भागीदारी और संयुक्त श्रम-पूंजी से व्यवसाय के अलावा इन संगठनों की एक सामाजिक व्यावसायिक पहचान और प्रतिष्ठा थी। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार भरत चक्रवर्ती ने 18 प्रकार की व्यापारिक श्रेणियों-प्रश्रेणियों को चक्ररत्न की पूजा करने के लिए बुलवाया।¹⁷ इन श्रेणियों में कुम्भार, पट्टइल्ल, सुवण्णकार, सूवकार, गन्धल, कासवग, मालाकार, कच्छकार और तम्बोलिक नाम के नौ कारू तथा चर्मकार, यंतपीलनक, गंदिय, छिपांय, कंसकार, सीवग, गुआर, भिल्ल और धीवर ये नौ कारू के नाम गिनाये गये हैं।¹⁸ आगमों में सुवर्णकार, चित्तकार और रजक की श्रेणियों (संगठनों) का उल्लेख है।¹⁹ ये श्रेणियाँ अपने व्यवसाय और सदस्यों के हित में कार्यरत थीं। जब मल्लिकुमारी के पाँव के अंगुठे को देखकर एक चित्तकार ने मल्लिकुमारी का आकर्षक चित्र बना दिया तो मल्लिदिन्न ने बुरा मान लिया और उस चित्तकार को देशनिकाल अथवा मृत्युदण्ड का आदेश दे दिया। ऐसा सुनकर चित्तकारों की श्रेणी राजकुमार के पास पहुँची और अपना पक्ष रखा। राजकुमार मल्लिदिन्न ने चित्तकार को क्षमा कर दिया।²⁰ इसी प्रकार अन्य व्यापारों के भी संगठन थे। जिनमें जाति और धर्म गौण और व्यापार मुख्य था। राजा को भी इन संगठनों की बात माननी पड़ती थी। वर्तमान में भी इस प्रकार के संगठन होते हैं।

व्यापार-केन्द्र

व्यवसाय और उद्योग के विस्तार के साथ-साथ बड़े-बड़े व्यावसायिक स्थल और केन्द्र भी उस समय अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। ऐसे स्थलों और

केन्द्रों के अध्ययन से तत्कालीन व्यावसायिक-उन्नति का पता चलता है। भगवती सूत्र में सोलह महाजनपदों का उल्लेख है - अंग, बंग, मगध, मलय, अच्छ, वच्छ, कोच्छ, पाद, लाद, वज्ज, मोलि, काशी, कोसल, अवध और संभूतरा¹ बृहत्कल्पसूत्र में साधु-साध्वियों के लिए साकेत के पूर्व में अंग-मगध तक, दक्षिण में कौशाम्बी तक, पश्चिम में स्थूणा (स्थानेश्वर) तक और उत्तर में कुणाल (श्रावस्ती जनपद) तक विहार कर सकने की बात कही गई है तथा इतने ही क्षेत्र को आर्य क्षेत्र बताया गया है² निस्संदेह, इन क्षेत्रों में व्यवसाय और वाणिज्य भी उन्नति पर था। पर धीरे-धीरे आर्य क्षेत्रों का विस्तार होता गया। राजा सम्प्रति (220-211 ई. पू.) के समय में साढ़े पच्चीस देशों को आर्य क्षेत्र माना जाने लगा था। ये साढ़े पच्चीस जनपद और उनकी राजधानियाँ निम्न हैं:-

जनपद	राजधानी
मगध	राजगृह
अंग	चम्पा
बंग	ताम्रलिप्त
कलिंग	कांचनपुर
काशी	वाराणसी
कोशल	साकेत
कुरू	गजपुर
कुशार्त	सोरिय
पांचाल	कौपिल्यपुर
जांगल	अहिच्छता
सौराष्ट्र	द्वारवती
विदेह	मिथिला
वत्स	कौशाम्बी
शांडिल्य	नन्दिपुर
मलय	भद्रिलपुर
मत्स्य	वैराट
वरणा	अच्छ
दशार्ण	मृत्तिकावती

चेदि	शुक्तिमती
सिंधु-सौवीर	वीतिभय
शूरसेन	मथुरा
भंगि	पापा
वट्टा	मासपुरी
कुणाल	श्रावस्ति
लाढ	कोटिवर्ष
केकयी अर्ध	श्वेतिका ²³

इन जनपदों की जो राजधानियाँ हैं, उनमें से अधिकांश तत्कालीन समय के मुख्य व्यावसायिक केन्द्र थे। जो स्थल और जल मार्ग से देश-विदेश से जुड़े हुए थे। प्रश्नव्याकरण सूत्र²⁴ में आठ प्रकार के व्यापार केन्द्रों का वर्णन है -

1. **गम्भ (ग्राम)** : आगम साहित्य में ग्राम की अनूठी परिभाषा मिलती है। जहाँ के निवासियों को अठारह प्रकार का कर चुकाना पड़ता हो, वह ग्राम है।²⁵ यह परिभाषा प्राचीन भारत के गाँवों की व्यावसायिक समृद्धि का बड़ा प्रमाण है। जो वर्तमान के भारतीय गाँवों के लिए दूर की कौड़ी है।
2. **आकर** : स्वर्ण, रजत और धातुओं के उत्खनन क्षेत्र को आकर कहा गया है।²⁶ निश्चित तौर पर ये उत्खनन क्षेत्र वाणिज्यिक और औद्योगिक गतिविधियों के केन्द्र थे।
3. **नगर** : 'नत्थेत्थ करो नगरं' जहाँ अठारह प्रकार के कर न लगते हो उसे नगर (न+कर) कहा गया है।²⁷ ग्राम और नगर की उपर्युक्त परिभाषाएँ अद्भुत हैं। बेशक, नगर में अन्य प्रकार के कर लगते होंगे।
4. **निगम** : जहाँ बड़ी संख्या में व्यापारी व्यापार के लिए बसते हो, उस स्थान को निगम कहा गया है। वर्तमान के आर्थिक क्षेत्रों या उद्योग-विहारों से इनकी तुलना की जा सकती है।
5. **खेड/खेत्त** : कृषि ग्रामों/नगरों को खेड कहा गया है। आज भी खेतिहर बहुल ग्रामों के साथ खेड़ा शब्द जुड़ा रहता है।
6. **कब्बड़ग या कर्वत** : जिन स्थानों पर लघु स्तर पर व्यापारिक गतिविधियाँ हो उन्हें कर्वत कहा गया है।

7. **द्रोणमुँह/द्रोणमुख** : ये ऐसे वाणिज्यिक केन्द्र होते थे जो जल और स्थल दोनों प्रकार के व्यापारिक-मार्गों से जुड़े रहते थे।
8. **जलपट्टन** : विशाल बन्दरगाहों को जलपट्टन कहा गया है। ये स्थल विदेश और सामुद्रिक व्यापार के केन्द्र हुआ करते थे।

प्रसिद्ध व्यापार केन्द्र

इन सारे तथ्यों के प्रकाश में अब हम उस समय के प्रसिद्ध व्यापार-केन्द्रों पर एक विहंगम दृष्टिपात करते हैं। डॉ. दिनेन्द्र चन्द्र जैन ने इन केन्द्रों को वर्तमान परिस्थिति के साथ जोड़ा है।²⁸ ये 26 केन्द्र इस प्रकार हैं :-

व्यापार	केन्द्र का नाम	वर्तमान प्रदेश/देश
1.	राजगृह	बिहार
2.	चम्पा	“ ”
3.	पाटलिपुत्र	“ ”
4.	मिथिला	“ ”
5.	वैशाली	“ ”
6.	गंभीर	प. बंगाल
7.	दन्तपुर	“ ”
8.	हस्तीशीर्ष	अज्ञात
9.	कंचनपुर	उड़ीसा
10.	पिहुण्ड	आंध्र प्रदेश
11.	वाराणसी	उत्तर प्रदेश
12.	कौशाम्बी	“ ”
13.	साकेत (अयोध्या)	“ ”
14.	श्रावस्ती	“ ”
15.	मथुरा	“ ”
16.	अहिच्छत्रा	“ ”
17.	हस्तिनापुर	“ ”
18.	उज्जैनी	मध्य प्रदेश
19.	महिष्मती	“ ”

20.	प्रतिष्ठान	महाराष्ट्र
21.	शूरपारक	“ ”
22.	भृगुकच्छ	गुजरात
23.	द्वारवती	“ ”
24.	वीतिभयपट्टन	पाकिस्तान
25.	तक्षशिला	“ ”
26.	पुष्कलावती	“ ”

इन सभी स्थलों का धार्मिक और सांस्कृतिक महत्त्व भी खूब रहा है; परन्तु यहाँ उनके वर्णन में वाणिज्यिक महत्त्व को रेखांकित किया गया है।

1. **राजगृह** : यह प्रसिद्ध व्यापार केन्द्र था। यहाँ सम्पन्न व्यापारी लोग रहते थे। अनेक स्थानों से लोग यहाँ माल क्रय-विक्रय करने आते थे। तक्षशिला से यह सीधे तौर पर जुड़ा था। श्रेणिक (बिम्बिसार) और कूणिक (अजातशत्रु) राजगृह के शासक थे। निरयावलिका में राजगृह के लिए कहा गया - *रिद्धित्थिमिय समिद्धे* अर्थात् वह धन-धान्य, वैभव, ऋद्धि, समृद्धि से युक्त था।⁹
2. **चम्पा** : श्रेणिक के निधन के पश्चात् कूणिक ने चम्पा को अपनी राजधानी बनाया था। औपपातिक और उववाई सूत्र में चम्पा का ऐसा वर्णन है जिससे यह समृद्ध व्यवसाय-केन्द्र के रूप में हमारे सामने आता है। यह मिथिला, अहिच्छता, पिहुण्ड आदि से स्थल मार्ग से तथा गंगा नदी व अन्य नदियों के माध्यम से जल मार्ग से जुड़ा हुआ था। यहाँ के बाजार (विवाटी) शिल्पियों से आकीर्ण रहा करते थे।¹⁰ इस सुन्दर और धन-धान्य से परिपूर्ण नगर में अनेक व्यापारी, नौवणिक, श्रेष्ठि, कारीगर और कलाकार रहते थे। धन्य सार्थवाह यहीं का निवासी था। अर्हन्नक, मालन्दी और जिनपालित चम्पा के निवासी थे, जिन्होंने साहसिक व्यापारिक समुद्र-यात्राएँ कीं।¹¹
3. **पाटलिपुत्र (पटना)** : इस नगर को अजातशत्रु (कूणिक) ने बसाया था। तथा उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र उदायी ने इसे अपनी राजधानी बनाया। बाद में चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक और कुणाल पाटलिपुत्र के राजा बने थे। ई. पू. 367 में जैन-आगमों की प्रथम वाचना यहीं हुई थी। यह उत्तरापथ का अच्छा व्यवसाय केन्द्र था। नदी के समीप होने से यह नदी जल मार्ग और

स्थल मार्ग दोनों ही से जुड़ा हुआ था। सुवर्ण भूमि (बर्मा-म्यांमार) तक यहाँ से माल जाता था। धनदत्त सेठ व्यापार के लिए पाटलीपुत्र से रत्नद्वीप गया था। ई.पू. पाँचवीं सदी से छठी सदी तक इस नगर का अपरिमित उत्कर्ष हुआ था।¹²

4. **मिथिला (जनकपुर)** : ज्ञाताधर्मकथांग में इस नगर का वर्णन है। पास और दूर देशों के व्यापारी यहाँ व्यापार करने आते थे। व्यापार करने की राजा से अनुमति लेते थे और राजा भी उनका शुल्क माफ कर देता था। वर्तमान में नेपाल तराई में इसकी अवस्थिति मानी गई है।¹³ यह चम्पा से भी जुड़ा था।
5. **वैशाली** : वैशाली गणराज्य के कुण्डपुर को भगवान महावीर का जन्म स्थल माना जाता है। महाराजा चेटक, जो महावीर के नाना या मामा थे, वैशाली गणराज्य के प्रमुख थे। यह भी व्यापार का मुख्य केन्द्र था। निकट ही वाणिज्यग्राम की स्थिति से वैशाली व्यापार-केन्द्र के रूप में भी सिद्ध होता है।
6. **गंभीर** : सांढे पच्चीस आर्य देशों में इसकी गणना की गई है। यह बंग की राजधानी था। प. बंगाल में ताम्रलिसि के रूप में इसे जाना जाता है। वर्तमान में प. बंगाल के मिदनापुर जिले के ताम्लुक के रूप में इसकी पहचान की गई है।¹⁴ यह सचमुच व्यापार वाणिज्य का बड़ा केन्द्र था। इसे 'द्रोणमुख' कहा जा सकता है। जहाँ से स्थल-मार्ग, नदी-मार्ग और समुद्र-मार्ग तीनों जुड़े हुए थे। अनेक देशों में यहाँ से माल का निर्यात, अनेक देशों से यहाँ माल का आयात तथा स्थानीय व्यापार यहाँ होता था।
7. **दन्तपुर** : वर्तमान में मिदनापुर जिले (प. बंगाल) के 'दन्तन' ग्राम को दन्तपुर माना जाता है।¹⁵ हाथी दाँत के लिए यह प्रसिद्ध था। संभवतः इसीलिए इसका नाम दन्तपुर पड़ा हो। यहाँ का धनमित्र उसकी पत्नी की इच्छा-पूर्ति के लिए हाथी-दाँत का भवन बनाना चाहता था परन्तु गैर-कानूनी कार्य के कारण उसे गिरफ्तार कर लिया गया।¹⁶
8. **हस्तीशीर्ष** : ज्ञाताधर्मकथांग¹⁷ के अनुसार इस नगर में अनेक सांयातिक (संयुक्त रूप से व्यापारिक यात्रा करने वाले) और नौकावणिक रहते थे। वे धनाढ्य और समर्थ थे। यहाँ के व्यापारी व्यापार के लिए कालिका द्वीप तक गये थे। कालिका द्वीप पूर्वी अफ्रीका में कहीं माना जाता है। ताम्रलिसि से होकर हस्तीशीर्ष का व्यापार होता था। इससे हस्तीशीर्ष का पूर्वी भारत में ताम्रलिसि के आसपास होने का अनुमान है।

9. **कांचनपुर** : जैन ग्रन्थों में इसे कलिंग की राजधानी बताया गया है। ईसा की सातवीं शताब्दी से आज तक यह भुवनेश्वर (उड़ीसा की राजधानी) के नाम से जाना जाता है। यह व्यापार केन्द्र था तथा यहाँ के व्यापारी श्रीलंका व्यापार के लिए जाते थे।¹⁸
10. **पिहुण्ड** : उत्तराध्ययन सूत्र में पिहुण्ड का उल्लेख है। यह व्यापार केन्द्र था। चम्पा का व्यापारी पालित यहाँ पहुँचा था।¹⁹ यह समुद्री-किनारे बना हुआ था। इसे वर्तमान में विशाखापट्टनम (आं.प्र.) के पश्चिम में नागवती नदी के पास नगर के रूप में पहचाना गया है।⁴⁰
11. **वाराणसी या वाणारसी** : भारतीय साहित्य, संस्कृति और इतिहास में वाराणसी का महत्वपूर्ण स्थान है। यह काशी जनपद की राजधानी थी। इसे तेबीसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की जन्म भूमि होने का गौरव प्राप्त है।¹¹ यह भी एक प्रतिष्ठित व्यापार-केन्द्र था। वरुणा तथा असी इन दो नदियों के बीच अवस्थित होने के कारण इसका नाम वाराणसी पड़ा। नदियों के निकट/किनारे होने से नदी जल मार्ग इससे जुड़े थे। रेशम और कलात्मक वस्तुओं के लिए यह प्रख्यात थी। उत्तरापथ का रास्ता वाराणसी होकर जाता था।
12. **कौशाम्बी** : यह वत्स साम्राज्य की राजधानी थी। यह नगर 'कोसम' नामक गाँव के रूप में पहचाना गया जो इलाहाबाद से 37 मील दूर दक्षिण-पश्चिम में तथा यमुना नदी के उत्तर में स्थित है।¹² यह भी अच्छा व्यापार केन्द्र था तथा उसमें जल-परिवहन की भी भूमिका थी।
13. **साकेत (अयोध्या)** : अयोध्या भगवान राम की जन्म-स्थली के रूप में विख्यात है। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋशभदेव की जन्म स्थली भी अयोध्या (विनीता) को माना जाता है। भगवान महावीर का भी यहाँ विचरण हुआ था। व्यापार और व्यवसाय खूब होता था। नदी जल मार्ग का भी उसमें योगदान था। यहाँ के निवासी सुसभ्य और सुसम्पन्न थे। कुछ विद्वान साकेत और अयोध्या को दो अलग-अलग स्वतन्त्र नगर मानते हैं।¹³
14. **सावत्थी (श्रावस्ती)** : कुणाल राजा की इस राजधानी को 25^{1/2} आर्य देशों में भी गिना गया है। इसे वर्तमान में उत्तरप्रदेश में अयोध्या के निकट राप्ती नदी के किनारे 'सहेत-महेत' नामक नगर के रूप में जाना जाता है।¹⁴

15. **मथुरा (मथुरा)** : जैन ग्रन्थों में इसे भारत का अत्यन्त प्राचीन नगर माना जाता है। प्रसिद्ध उत्तरापथ रास्ते में मथुरा भी आता था, इससे इसका व्यापारिक महत्त्व बढ़ गया था।
16. **अहिच्छत्र** : चम्पा के धन्य सार्थवाह ने अहिच्छत्र जाने के लिए अपना सार्थ तैयार किया था। अहिच्छत्र से अन्य नगरों से अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध थे। उत्तरापथ का रास्ता यहाँ से होकर गुजरता था। उत्तरप्रदेश के बैरली जिलान्तर्गत रामनगर के रूप में वर्तमान में यह जाना जाता है।¹⁵ जैसा कि इसके नाम से ध्वनित होता है, यह पावन नगर भगवान पार्श्वनाथ से जुड़ा हुआ है। कमठ के द्वारा पैदा किये गये उपसर्ग के बचाव में धरणेन्द्र देव ने नागराज का रूप बनाकर पार्श्वनाथ पर सहस्र-फण से छत्र करके उनको उपसर्ग से बचाया था।
17. **हस्तिनापुर** : यह नगर विभिन्न प्रकार की कला, शिल्प और उद्योग के लिए जाना जाता है। यह भी गंगा के किनारे बसा था। महाभारत में इसका वर्णन मिलता है। वर्तमान में इसे मीरूत/मेरठ (उ.प्र.) से 22 मील दूर उत्तर-पश्चिम कोण में तथा दिल्ली से 56 मील दक्षिण-पूर्व में स्थित खण्डहरों के रूप में पहचाना गया है। आदि तीर्थकर के पौत्र हस्तिन के नाम से इसका नामकरण हस्तिनापुर किया¹⁶ अथवा यहाँ हर्षा बहुत होते थे इसलिए इसका नाम हस्तिनापुर या गजपुर पड़ा।
18. **उज्जैनी** : यह वर्तमान में मध्यप्रदेश में उज्जैन के रूप में विद्यमान है। आवश्यक चूर्णि में इसे एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र बताया गया है। यहाँ का व्यापार दूर-दूर तक फैला हुआ था।
19. **माहेसरी** : उत्तर से दक्षिण के बीच का स्थल होने से यह स्थान दोनों ओर के व्यापार का केन्द्र था। नर्मदा के दक्षिण में इन्दौर (म.प्र.) के पास इसे स्थित माना जाता है।
20. **प्रतिष्ठान** : यह गोदावरी के उत्तरी किनारे पर महाराष्ट्र के औरंगाबाद के निकट स्थित माना जाता है। प्राचीन समय का प्रतिष्ठित व्यापारिक-केन्द्र था।
21. **सोपारय** : वर्तमान में यह मुम्बई से 42 मील उत्तर में ठाणे जिलान्तर्गत सोपारा (नालासोपारा) के नाम से पहचाना जाता है।¹⁷ प्राचीन समय में यह समुद्री किनारे होने से विदेशी व्यापार की गतिविधियों का मुख्य केन्द्र था। भृगुकच्छ से सुवर्णभूमि (बर्मा) तक इसका नियमित व्यापार था।

22. **भृगुकच्छ** : यह नगर भी 'द्रोणमुख' व्यापार केन्द्र का उत्तम उदाहरण है। यह समुद्री किनारे भी था और नर्मदा नदी के भी। स्थल मार्ग से यह जुड़ा हुआ था। यह उज्जैनी से भी व्यापारिक तौर पर जुड़ा हुआ था। वर्तमान में गुजरात में भरुच के रूप में यह पहचाना गया है।¹⁸
23. **द्वारवती** : ज्ञाताधर्मकथांग¹⁹ में इस नगर को बहुत सुन्दर और समृद्ध बताया गया है। द्वारवती में सार्थवाहों, श्रेष्ठियों और व्यापारियों द्वारा सभी प्रकार की व्यापारिक गतिविधियाँ सम्पन्न की जाती थी। उसे कुबेर की अभिकल्पना के अनुरूप बनाया गया था। वह सोने के उत्तम परकोटे और पंचरंगी मणियों से सजे कंगूरों से शोभित थी।
24. **वीतिभयपट्टन** : वर्तमान में इस नगर की अवस्थिति पाकिस्तान के शाहपुर जिले के 'भेर' नगर के रूप में की गई है। आवश्यक चूर्ण में इसका 'कुंभकार-प्रक्षेप' नाम मिलता है। यह नीचली सिंधु घाटी के जनपद सिंधु-सौवीर की राजधानी था। सिंधु नदी के बायें किनारे पर स्थित होने तथा रेगिस्तान में होने से इस नगर का अलग ही व्यापारिक महत्त्व था।
25. **तक्षशिला** : तक्षशिला व्यापारिक-केन्द्र तो था ही, एक शिक्षा-केन्द्र के रूप में इसकी ख्याति थी। पूर्वोत्तर भारत के व्यापारी पश्चिम में तक्षशिला होकर जाते थे। कुवलयमालाकहा के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के धर्मचक्र का प्रवर्तन वहाँ हुआ था और वह उनके समवसरण से शोभित थी। तक्षशिला में द्वीप-समुद्र की भाँति असंख्यात धन-वैभव बिखरा पड़ा था।²⁰ पाकिस्तान में रावलपिण्डी के निकट इसके अवशेष आज भी विद्यमान हैं।
26. **पुष्करावती** : यहाँ भी पूर्वोत्तर भारत के व्यापारी व्यापार के लिए पहुँचते थे। तथा यहाँ के व्यापारी भी देश-विदेश में व्यापार करते थे। पुष्करावती (कमल के फूलों का शहर) वर्तमान में पेशावर (पाकिस्तान) से 17 मील उत्तर-पूर्व में स्थित माना गया है।²¹

सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैले ये व्यापारिक केन्द्र तत्कालीन समय की आर्थिक गतिविधियों पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। डॉ. प्रेम सुमन ने 'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन' में प्राचीन भारत के भौगोलिक विवरण और आर्थिक जीवन पर प्रकाश डालते हुए अनेक तथ्य प्रस्तुत किये हैं।²² आगमिक आर्थिक जीवन को समझने में वे भी उपयोगी हैं।

सन्दर्भ

1. उत्तराध्ययन 35/14, व्याख्या-प्रज्ञप्ति 5/6/5
2. ज्ञाताधर्मकथांग 15/6, उपासकदशांग 1/12
3. दशवैकालिक 5/71-72
4. व्यवहार-सूत्र 9/19-20
5. ज्ञाताधर्मकथांग 1/138
6. निशीथचूर्णि 4.5750, 2.1191
7. उपासकदशांग प्रथम अध्ययन
8. निशीथचूर्णि 2.1735
9. ज्ञाताधर्मकथांग 15/12
10. जैन, कमल (डॉ.) प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन, प.-112 एवं देखें 'सार्थवाह' - डॉ. मोतीचन्द्र।
11. जैन, प्रेम सुमन (डॉ.) जैन साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ.-22
12. आवश्यकचूर्णि भाग 1
13. कल्पसूत्र सूत्र-4
14. ज्ञाताधर्मकथांग 15/6, 15/11
15. ज्ञाताधर्मकथांग 5/7
16. अनुत्तरोपपातिक 3/1/2
17. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका 3.193
18. जैन, जगदीश चन्द्र (डॉ.) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ.-164
19. ज्ञाताधर्मकथांग 8वाँ अध्ययन
20. ज्ञाताधर्मकथांग 8वाँ अध्ययन
21. व्याख्या-प्रज्ञप्ति 1/16

22. बहत्कल्पसूत्र 1.50
23. जैन, जगदीश चन्द्र (डॉ.) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ.-459 एवं प्रज्ञापना 1.66
24. प्रश्नव्याकरण सूत्र 5.17, बृहत्कल्प में सोलह स्थान ऐसे बताये गये हैं, जहाँ श्रमण या श्रमणी वर्षा ऋतु के अलावा अधिक समय नहीं ठहर सकती है। उनमें इन आठ का समावेश है। शेष आठ भी वाणिज्यिक महत्व के हैं। देखें, प्रथम अध्ययन।
25. व्याख्या-प्रज्ञप्ति टीका-आ.अभयदेव
26. बृहत्कल्पभाष्य 1.1090
27. वही, 1.1089
28. जैन, दिनेन्द्र चन्द्र (डॉ) इकोनोमिक लाइफ इन एंशेंट इंडिया एज डेपिकटेड इन जैन कैनोनिकल लिटरेचर, पृ. : 81-82
29. निरयावलिका 1/1
30. औपपातिक सूत्र 1 एवं उववाई सूत्र 39
31. ज्ञाताधर्मकथांग 8/47 व 9वाँ अध्ययन।
32. जैन, प्रेम सुमन (डॉ.) 'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन', पृ.-67
33. सरकार, डी.सी., प्राचीन और मध्ययुग के भारत का भौगोलिक अध्ययन, पृ.-323
34. अवस्थी, ए.एल., प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप, पृ.-43
35. बोस, ए.एन., सोशयल एंड रुरल इकोनोमी इन नार्दर्न इंडिया पृ.-213
36. आवश्यक चूर्णि
37. ज्ञाताधर्मकथांग 17/3
38. जैन, जगदीश चन्द्र (डॉ.) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ.-466
39. उत्तराध्ययन 22वाँ अध्ययन

40. जैन, दिनेन्द्र चन्द्र (डॉ) इकोनोमिक लाइफ इन एंशेंट इंडिया, पृ.-86
41. जैन, प्रेम सुमन (डॉ.) 'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन', पृ.-54
42. वाजपेयी, के.डी., उत्तरप्रदेश की ऐतिहासिक विभूति, पृ.-6
43. जैन, प्रेम सुमन (डॉ.) 'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन', पृ.-73
44. जैन, दिनेन्द्र चन्द्र (डॉ) इकोनोमिक लाइफ इन एंशेंट इंडिया, पृ.-87
45. वही, पृ.-87
46. जैन, प्रेम सुमन (डॉ.) 'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन', पृ.-74
47. मोतीचन्द्र (डॉ.), 'सार्थवाह', पृ.-103
48. जैन, दिनेन्द्र चन्द्र (डॉ) इकोनोमिक लाइफ इन एंशेंट इंडिया एज डेपिकटेड इन जैन कैनोनिकल लिटरेचर, पृ.-89
49. ज्ञाताधर्मकथांग 5/2
50. जैन, प्रेम सुमन (डॉ.) 'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन', पृ.-65
51. सरकार, डी.सी., प्राचीन और मध्ययुग के भारत का भौगोलिक अध्ययन, पृ.-323
52. जैन, प्रेम सुमन (डॉ.) 'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन' अध्याय दूसरा व चौथा।

परिच्छेद छः

आयात-निर्यात

भारत प्रचुर प्राकृतिक वैभव सम्पन्न और उन्नत वाणिज्यिक गतिविधियों का केन्द्र था। भारत का विदेशी व्यापार भी तत्कालीन समय के अन्य देशों के मुकाबले बढ़-चढ़ कर था। जैन आगम ग्रन्थों में प्राचीन भारत की यह तस्वीर हमें देखने को मिलती है। ज्ञाताधर्मकथांग के अनुसार राज्य निर्यात को प्रोत्साहित करता था तथा आयातित वस्तुओं पर कर लगाता था।¹ इससे अनेक बातें फलित होती हैं। यथा - उस समय विपुल उत्पादन होता था तथा देशज खपत के बाद भी निर्यात योग्य बहुत सारी वस्तुएँ होती थीं। निर्यात के प्रोत्साहन से राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ बनती थी। जो वस्तुएँ राज्य में उत्पन्न नहीं होती या अपर्याप्त होती, निर्यात के बदले में उन्हें मंगवाना आसान होता था। इससे राज्य में किसी चीज की कमी नहीं आती थी।

राजा महाराजा विदेशों से विलासिता की वस्तुएँ भी मंगवाते थे।² सिर्फ वस्तुएँ ही नहीं, श्रम का, दास-दासियों का भी आयात-निर्यात होता था। महाराजा श्रेणिक के अन्तःपुर में विदेशी दासियाँ थीं।³ यवन, बब्बर, वाहलीक, पारस, सिंहल, अरब आदि देशों की दासियाँ यहाँ थीं।⁴ विदेशों से सुन्दर और बलिष्ठ घोड़े भी आयात किये जाते थे। भारतीय व्यापारी मिथिला नरेश कनककेतु के लिए कालिकाद्वीप से धारीदार घोड़े लाये थे।⁵ अरब और कम्बोज से कन्थक जाति के घोड़ों को भारत लाया जाता था। अश्व और दास-दासियों के अलावा विदेशों से स्वर्ण, रजत, रत्न, वस्त्र आदि भी आयात किये जाते थे।⁶ आयातकर्ता राजकर से बचने के लिए छल भी कर लेते थे। एक प्रसंग में अंकरत्न, शंख और हाथी दाँत के आयातकर्ताओं ने कर से बचने के लिए अपना मार्ग बदल लिया था।⁷

निर्यात के अन्तर्गत भारत से अनेक प्रकार की वस्तुएँ विदेशों को भेजी जाती थी, जिनमें रत्न, वस्त्र, सौन्दर्य प्रसाधन, खिलौने, गुड़ जैसी अनेक चीजें भेजी जाती थीं। हस्तीशीर्ष के पोतवणिक चन्दन, खस, इलायची, सुपारी आदि सुगन्धित वस्तुएँ, विभिन्न प्रकार के वाद्य यन्त्र, गुड़, खाण्ड, मिश्री, सूती और ऊनी वस्त्र, खिलौने आदि लेकर कालिकाद्वीप गये थे।⁸ व्याख्या साहित्य में आयात निर्यात के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। उत्तराध्ययन टीका के अनुसार पारसकुल

(ईरान) के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध थे और वहाँ से सोना, चाँदी, मोती, मूँगे, मंजीठ आदि का आयात किया जाता था।⁹

व्यापारिक मार्ग

आज जैसी पक्की डामर की सड़कों का निर्माण उस समय हुआ हो, ऐसा उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। परन्तु आवागमन के लिए सुव्यवस्थित मार्ग प्राचीन समय में थे। व्यापार और इन व्यापार-पथों के माध्यम से देश ही नहीं, पूरा महाद्वीप और समुद्री-मार्ग भी जोड़ दिये जाये तो पूरी दुनिया से वस्तुओं और विचारों का आदान-प्रदान होता था। आज से पच्चीस-छब्बीस शताब्दियों पूर्व, जब वैज्ञानिक यन्त्र और मशीनें नहीं थी, जिन आधारभूत सुविधाओं (इन्फ्रास्ट्रक्चर) का वर्णन हमें मिलता है, वह मानव के पुरुषार्थ का बड़ा प्रमाण है। जैन आगम ग्रन्थों में स्थल, जल और सामुद्रिक मार्गों के उल्लेख प्राप्त हैं।

स्थल मार्ग

व्यापारिक स्थल मार्ग बीहड़ वन-प्रदेशों और जोखिमों से भरे होते थे। जंगली जानवरों, जीव-जन्तुओं, लुटेरों और चोरों का भय बना रहता था। व्यख्याप्रज्ञप्ति में कम यातायात वाले मार्ग को पथ और अधिक यातायात वाले मार्ग को महापथ कहा गया है।¹⁰ तिराहों (शृंगाटक), चौराहों (चतुष्क) के अलावा 'प्रवह' (जहाँ छः रास्ते मिलते हो) भी होते थे।¹¹ नगर और नगर-मार्गों की स्वच्छता और सुरक्षा के लिए राज्य की ओर से नगरगुप्तिक नियुक्त होते थे। उनके द्वारा मार्गों की देखभाल की जाती थी और सड़कों की मरम्मत की जाती थी।¹² सड़कों के रखरखाव के लिए राज्य की ओर से पथ-कर (वर्तनी) भी वसूल जाता था।¹³ देशान्तर गमन करने वालों को राज्य की ओर से अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी।¹⁴ इससे अवैध व्यापार और घुसपैठ रोकी जा सकती थी। अच्छी सड़कों से राज्य की समृद्धि जुड़ी होती थी। मार्ग सुरक्षित रहे, इसके लिए राज्य की ओर से सुरक्षाकर्मी भी नियुक्त किये जाते थे। उन्हें 'गौल्मिक' कहा जाता था।¹⁵ आवश्यकता के अनुसार मार्गों का निर्माण किया जाता था। राजमार्ग, द्रोणमुख तथा व्यापारिक मण्डियों को जाने वाले रास्ते आठ दण्ड चौड़े, तालाब और वन की ओर जाने वाले चार दण्ड चौड़े, हाथियों के चलने और खेत जाने वाले दो दण्ड चौड़े, रथों के लिए पाँच रत्न (दो रत्नमाप को एक गज के बराबर माना जाता था), पशुओं के लिए चार रत्न तथा मानव और छोटे पशुओं के लिए दो रत्न चौड़े मार्ग निर्मित किये जाते थे।¹⁶

अधिकतर व्यापारिक केन्द्र इन मार्गों से दूसरे व्यापारिक केन्द्रों से जुड़े थे। ज्ञाताधर्मकथांग¹⁷ के अनुसार चम्पा से गम्भीरपत्तन (ताम्रलिप्ति) तक के सड़क मार्ग से पोतवणिक अर्हन्नक गाड़ियाँ और शटक लेकर व्यापार के लिए गया था। एक मार्ग चम्पा से अहिच्छत्र तक जाता था। सार्धवाह धन्ना इसी मार्ग से व्यापार के लिए गया था।¹⁸

उत्तरापथ

पाटलिपुत्र भी अनेक व्यापारिक मार्गों से जुड़ा था। पाटलिपुत्र से काबुल और कन्धार जाने वाले मार्ग को उत्तरापथ कहा जाता था। पाटलिपुत्र के मुरुण्ड राजा का दूत इस पथ से पुरुषपुर (पेशावर) गया था। कुवल्यमालाकहा के अनुसार तक्षशिला का वणिकपुत्र धनदेव उत्तरापथ से होता हुआ दक्षिणापथ की सोपारकमण्डी पहुँचा था। चीनी यात्री फाह्यान इसी पथ से पाटलिपुत्र पहुँचा था। पाणिनी ने उत्तरापथ को स्थल-यातायात की धमनी कहा है। इस मार्ग पर पाटलिपुत्र, वाराणसी, कौशाम्बी, साकेत, मथुरा, तक्षशिला, पुष्कलावती, कपिशा आदि प्रमुख नगर स्थित थे तथा यह मार्ग आगे वाहलीक तक जाता था।¹⁹ मथुरा उत्तरापथ का दूसरा व्यापारिक केन्द्र था। उत्तरापथ में मथुरा के साथ 96 गाँव लगे हुए थे।²⁰

जल मार्ग

प्राचीन भारत की धरती पर कलकल करती अनेक सरिताएँ बहती थीं तथा वर्तमान की भाँति पुल भी नहीं थे। इससे देश का एक अलग ही भूगोल था। उसमें नदियों के पार व्यापार में विशिष्ट साहस और योग्यता की आवश्यकता थी। गंगा, यमुना, सरयू, इरावती, मही, कोसी, सिंधु, आदि नदियों के रास्ते देश-विदेश में व्यापार होता था।²¹ नदियों में प्रचुर जल उपलब्ध था और वह प्रदूषित भी नहीं था। नदी किनारे बसे नगरों का व्यापारिक दृष्टि से अत्यधिक महत्व था। नदी के एक किनारे से दूसरे किनारे तक माल और सवारियाँ ढोने वाले नाविकों का धन्धा भी अच्छा चलता था। नेपाल से आने वाली एकठा नाव में एक बार में 40 से 50 मन तक अनाज भरा जा सकता था।²² नदी पार करने के लिए निराश्राविणी नौका सुरक्षित मानी जाती थी।²³ अविकसित क्षेत्रों में खाल पर बैठकर भी नदी पार की जाती थी।²⁴ भरत चक्रवर्ती की दिग्विजय के अवसर पर उनका चर्मरत्न नाव में परिवर्तित हो गया था। उस पर सवार होकर उन्होंने सिन्धु नदी को पार करते हुए सिंहल, बर्बर, यवन द्वीप, अरब, एलेक्जैण्ड्रा आदि देशों की यात्रा की थी।²⁵

समुद्री मार्ग

समन्दर पार व्यापार के लिए समुद्री जहाजों से यात्राएँ की जाती थीं। ये यात्राएँ अत्यन्त रोमांचक, साहसभरी और जोखिमों से भरी होती थी। वे असुरक्षित भी होती थीं। जलदस्युओं का भय रहता था। वे काली-पीली सफेद झण्डियों वाले, बड़ी पतवारों वाले, द्रुतगामी पोतों द्वारा आक्रमण कर व्यापारियों को लूट लेते थे।^{१६} समुद्री यात्रा करने वाले सार्थवाह भी होते थे। चम्पा के माकन्दी नामक सार्थवाह के पुत्रों - जिनपालित और जिनरक्षित ने ग्यारह बार समुद्री-मार्ग से यात्राएँ कीं। बारहवीं बार की उनकी समुद्री मार्ग की यात्रा में जहाज टूट गया तथा उन्हें भयंकर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।^{१७} चम्पा का ही एक पालित नामक व्यापारी जलपोत पर सवार होकर व्यापार के लिए पिहुण्ड गया था। डॉ. जगदीश चन्द्र जैन के अनुसार पिहुण्ड खार्वेल शिलालेख का पिथुङ्ग हो सकता है जो चिकाकोल और कलिंगपटम के अन्दरुनी हिस्से में स्थित था।^{१८} वसुदेवहिण्डी, कुवलयमालाकहा आदि ग्रन्थों में भी समुद्री मार्गों से की जाने वाली रोमांचक व्यावसायिक यात्राओं के उल्लेख मिलते हैं।^{१९} जल मार्गों की सुरक्षा के लिए राज्य की ओर से पोतवाध्यक्ष नियुक्त किया जाता था, जो मार्गों और यानों की सुरक्षा सुनिश्चित करता था।^{२०}

यान और वाहन

मानव सभ्यता की प्रगति के मूल में एक महत्वपूर्ण आविष्कार है - पहिया या चक्र। यह गति और प्रगति का प्रतीक है। आगम युग का मानव आत्म-विद्या में पारंगत था तो भौतिक प्रगति में भी पीछे नहीं था। व्यापार, व्यवसाय और अन्य कार्यों के लिए वह विविध प्रकार के वाहनों का प्रयोग करता था। ये वाहन जमीन पर चलने वाले तथा जल में चलने वाले होते थे। आकाशीय वाहनों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं।

स्थल वाहन

स्थल मार्गीय वाहनों में बैल, हाथी, घोड़े, गधे, ऊँट आदि पशु बहुत काम आते थे। स्वतन्त्र रूप से माल ढोने में भी और विभिन्न प्रकार के वाहनों को खींचने में भी। रथ, शटक, बैलगाड़ी आदि वाहनों के माध्यम से माल परिवहनित होता था।^{२१} नर-वाहन भी होते थे। डोली, पालकी, कावड़ और शिविका नर-वाहन के रूप हैं। पर इनका व्यावसायिक उपयोग अधिक नहीं होता था। मेघकुमार की दीक्षा के अवसर पर सौ पुरुषों द्वारा वहन की जाने वाली शिविका का उपयोग

किया गया था।³² कम से कम चार व्यक्तियों द्वारा उठाई जाने वाली शिविकाएँ होती थीं। शिविका सम्पन्न व राजन्य वर्ग द्वारा विशेष रूप से उपयोग में लाई जाती थी। धार्मिक-सांस्कृतिक आयोजनों में भी शिविका का उपयोग होता था। तीर्थंकर महावीर ने चन्द्रप्रभ नामक शिविका में बैठकर अभिनिष्क्रमण किया था।³³ व्यावसायिक उद्देश्यों के लिए विभिन्न प्रकार की गाड़ियाँ होती थी। वाणिज्यग्राम के गृहपति आनन्द के पास दूरगमन (दिसायत्त) और स्थानीय कार्यों (संवहणीय) के लिए 500-500 शटक गाड़ियाँ थीं।³⁴ बैल और घोड़ों से रथ संचालित होते थे। युद्धों में भी रथों का उपयोग होता था।³⁵ यानशालाओं (गैरेज) का उल्लेख भी मिलता है।

जल वाहन

नाव, पोत और जलयान (जहाज) मुख्य जल वाहन थे। नाव (नौका) नदी व झील में और पोत व जलयान समुद्र में चलते थे। उत्तराध्ययन सूत्र में दो प्रकार की नावें बताई गई हैं³⁶

1. आश्राविणी - छिद्रवाली और कमजोर।
2. निराश्राविणी - निश्छिद्र और मजबूत।

आचारांग सूत्र³⁷ में तीन प्रकार की नौकाएँ बताई गई हैं -

1. उर्ध्वगामिनी - प्रवाह के प्रतिकूल जाने वाली।
2. अधोगामिनी - प्रवाह के अनुकूल जाने वाली।
3. तिर्यगामिनी - एक किनारे से दूसरे किनारे व तिरछी गमन करने वाली।

निशीथसूत्र³⁸ में चार प्रकार की नौकाओं का उल्लेख है - प्रथम दो आचारांग सूत्रानुसार तथा तीसरी और चौथी क्रमशः योजनवेलागामिनी और अर्धयोजनवेलागामिनी। निशीथभाष्य³⁹ में भी चार प्रकार की नौकाएँ बताई गई हैं। परन्तु वे निशीथसूत्र से कुछ भिन्न हैं। उनमें प्रथम तीन आचारांग के अनुसार और चौथी का नाम समुद्रगामिनी नौका है। समुद्रगामिनी नाव से तेलयगपट्टण (वेरावल) से द्वारका की यात्रा की जाती थी। नावों के अगट्टिया, अन्तरंडकडोलिया (डोंगी), कौंचवीरग (जलयान), कुम्भ, तुम्ब, दत्ति, उडुप, पणि आदि नाम भी मिलते हैं।⁴⁰ आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने जलपोतों का निर्माण किया था।⁴¹ सूत्रकृतांग में वर्णित लेप गाथापति के पास अनेक यान थे।⁴² बौद्ध जातक साहित्य में पाँच सौ व्यक्तियों की क्षमता के जहाज का उल्लेख मिलता है।⁴³

जहाज के लिए पोत, पोतवहन, वहन, प्रवहण आदि नाम मिलते हैं तथा ये काष्ठनिर्मित होते थे। ये झील और समुद्र दोनों में चलने वाले अलग-अलग प्रकार के होते थे। जो समुद्र में नहीं चलने वाले होते उनमें पतवार, रज्जु, डण्डे आदि होते जबकि समुद्री जलपोतों में कपड़ों के पाल अतिरिक्त रूप से लगे रहते थे।⁴⁴ जलयानों से लम्बी दूरी की दीर्घ यात्राएँ की जाती थी। इसलिए उन्हें संचालित करने वाले विशेषज्ञ व्यक्तियों का दल (स्टाफ) भी साथ रहता था, जिनकी अलग-अलग जिम्मेदारियाँ होती थीं। ज्ञाताधर्मकथांग⁴⁵ के अनुसार यान के अग्र भाग में देव-मूर्ति, पिछले भाग में नियामक या निर्यामक (निज्जामय), मध्य भाग में गर्भज (छोटा-बड़ा काम करने वाले) तथा पार्श्व भाग में चालक कुक्षिधर होते थे।

वायुयान

राजप्रश्नीय सूत्र⁴⁶ में विमान और देवयान का उल्लेख मिलता है। व्यावसायिक उद्देश्यों से इन यानों के उपयोग का कोई विवरण नहीं मिलता है। जैन कथा साहित्य में विद्याधरों और लब्धिधारियों द्वारा आकाश मार्ग से गमन के उल्लेखों में कोई आर्थिक प्रयोजन दृष्टिगोचर नहीं होता है। जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-5)⁴⁷ के अनुसार प्राचीन भारत में विकसित विमान विद्या थी। विमान बनाने और वायु मार्ग से उसे संचालित करने की वैज्ञानिक विधि, तकनीक और कौशल की जानकारी भी प्राचीन भारत में थी। विमान विद्या से आर्थिक गतिविधियों की पूरी शृंखला जुड़ी थी। महाराज भोज के काल में विमान उड़ते थे और राजा-महाराजाओं के पास निजी विमान होते थे। कबूतर डाकिये का दायित्व वायु मार्ग से ही निभाते थे। कमाई के लिए परदेश गये प्रिय को सन्देश भिजवाने, राजकीय सन्देशों के सम्प्रेषण आदि में कपोतों की महत्वपूर्ण योगदान रहा है। मोटे तौर पर गैर-आर्थिक कार्यों से भी आर्थिक प्रयोजन जुड़े रहते थे।

आर्थिक पक्ष से जुड़े कुछ चरित्र⁴⁸

पूर्व में बताया गया कि आर्यरक्षित ने जैन आगम साहित्य को चार अनुयोगों में वर्गीकृत किया गया है - चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग। चरणकरणानुयोग में आचार का विशेष प्रतिपादन है। धर्मकथानुयोग में दृष्टान्त, कथा, चरित आदि का वर्णन है। गणितानुयोग में अर्थशास्त्र सहित सभी विषयों की गणित सम्बन्धी जानकारियाँ समाहित रहती हैं। द्रव्यानुयोग में तत्व और दर्शन सम्बन्धी विषयों का समावेश रहता है। आर्थिक पक्ष मुख्य रूप से

धर्मकथानुयोग और चरणकरणानुयोग में विद्यमान रहता है। ज्ञाताधर्मकथांग की कुछ कथाओं की विषय वस्तु तो ऐसी है कि उन्हें अर्थ-कथाएँ भी कह सकते हैं। उपासकदशांग के दसों ही श्रावकों का जीवन अर्थशास्त्रीय दृष्टि से समृद्ध था। उनकी समृद्धि के पीछे नीति, कर्तव्य और धर्म का अनूठा और प्रेरक सम्बल था। इन ग्रन्थों के अलावा अन्तगड, अनुत्तरोपपातिक, विपाकसूत्र आदि भी कथा प्रधान हैं। सूत्रकृतांग, स्थानांग, भगवती आदि में भी अनेक रूपक और कथाएँ ऐसी हैं, जो अर्थशास्त्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। यहाँ ऐसे ही प्रेरक चरित्रों में से कुछ पर एक विहंगम दृष्टिपात किया जा रहा है।

रोहिणी ज्ञात

छठवें अंग आगम ज्ञाताधर्मकथा के सातवें अध्ययन में यह कथा आती है। राजगृह नगर के धन्य सार्थवाह के चार पुत्र थे - धनपाल, धनदेव, धनगोप और धनरक्षित। चारों ही नामों के साथ 'धन' शब्द जुड़ा होना प्रस्तुत सन्दर्भ में उल्लेखनीय बात है। उनकी पत्नियों के नाम थे - उज्जिता, भोगवती, रक्षिका और रोहिणी। जीवन की सांध्य वेला में धन्य सार्थवाह ने भविष्य का विचार किया कि उसके पश्चात् कौटुम्बिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए कुछ किया जाना चाहिये। उसने एक कार्यक्रम रखा। उसमें उसने अपने सगे-सम्बन्धियों, मित्रों और परिचितों को आमंत्रित किया तथा सबके समक्ष चारों पुत्रवधुओं को बुलाकर प्रत्येक को चावल के पाँच-पाँच दाने दिये और कहा कि - 'मेरे मांगने पर ये पाँच दाने वापस लौटाना।'

उज्जिता ने सोचा कोठार में ढेर सारे चावल हैं। श्वसुरजी जब भी मांगेंगे, दे दूंगी। यह सोच उसने चावल के उन पाँच दानों को एकान्त में डाल दिया। भोगवती ने पाँचों शालि के दानों को छीला और छील कर खा गई। तीसरी बहू रक्षिका ने विचार किया कि श्वसुरजी ने समारोह पूर्वक ये पाँच दाने पुनः लौटाने की हिदायत के साथ दिये हैं। निश्चित ही इसका कोई अर्थ होना चाहिये। उसने पाँचों दानों को डिब्बी में संभाल कर रख लिया। चौथी बहू रोहिणी ने सोचा - 'इस प्रकार पाँच दाने देने में अवश्य ही कोई रहस्य होना चाहिये। इसलिए मेरे लिए यह उचित है कि चावल के इन पाँच दानों का संरक्षण, संगोपन और संवर्धन करूँ।' ऐसा विचार करके उसने अपने कुलगृह के सदस्यों को बुलाया और उन्हें उन पाँच शालि-अक्षतों को दिया और कहा कि इन पाँच शालि-अक्षतों को अलग क्यारी में

बोना। इस निर्देश के साथ रोहिणी, बुवाई और बुवाई के बाद की सारी प्रक्रिया व प्रविधि अपने कुलगृह के सदस्यों को समझाती है। कुलगृह के सदस्य रोहिणी के निर्देशानुसार उन पाँच अक्षत दानों को अलग से बोते हैं। उनकी फसल अलग से लेते हैं। उनका विधिवत् भण्डारण करते हैं। पुनः उन बड़े हुए दानों को बोते हैं। वर्ष दर वर्ष यह क्रम चलता है।

पाँच वर्ष बाद धन्य सार्थवाह पुनः एक भोज और मिलन का कार्यक्रम रखता है। उसमें सभी परिवारजनों, मित्रों और परिचितों को आमंत्रित करता है। कार्यक्रम के दौरान चारों बहूओं को बुलाकर पाँच वर्ष पूर्व दिये पाँच शालि-अक्षत के दानों के बारे में पूछता है। पहली बहू उज्जिता से दाने लेते हुए पूछा कि ये दाने वही हैं या दूसरे? उज्जिता कहती है - दूसरे। इस पर सार्थवाह ने उस बहू को उसके स्वभाव के अनुसार घर के झाड़ू-कचरा और बाहर के कार्यों की जिम्मेदारी सौंप दी। दूसरी बहू भोगवती, जो अक्षत के दाने खा गई थी, को रसोई सम्बन्धी जिम्मेदारी सौंपी। तीसरी बहू रक्षिता ने पाँच दाने डिब्बी में संभाल कर रखे थे। श्वसुरजी को वे ही दाने लौटाये। श्वसुरजी संतुष्ट हुए और उन्होंने रक्षिता को धन-सम्पदा, रत्न-मणि और बहुमूल्य खजाने की भाण्डागारिणी के रूप में नियुक्त कर दिया। चौथी बहू रोहिणी को पूछने पर बताया गया कि वे पाँच शालि-अक्षत के दाने पाँच वर्षों में बहुत बढ़ गये हैं। इसलिए गाड़ियाँ भरकर उन्हें लौटाना होगा। इस पर सार्थवाह ने रोहिणी को बहुत छकड़ा-छकड़ी दिये। रोहिणी ने गाड़ियाँ भर-भर कर वे दाने लौटाये तो सब देखते रह गये। धन्य सार्थवाह ने रोहिणी को कुटुम्ब का सर्वेसर्वा नियुक्त कर दिया।

इस कथा के माध्यम से हालांकि ग्रन्थकार धर्म-शिक्षा देता है, परन्तु इसके कई आर्थिक पक्ष उभरते हैं।

1. धन्य, सार्थवाह था। सार्थवाह देश-विदेश में व्यापार करने वाला बहुत बड़े व्यापारिक दल का मुखिया होता है। वह विशिष्ट प्रबन्धकीय कौशल का धनी होता है तथा प्रस्तुत कथा में उसके इस कौशल को वह प्रकट करता है।
2. धन्य के चारों पुत्रों के नाम अर्थशास्त्रीय हैं।
3. गोपनीय बातों को छोड़कर कोई भी बड़ा फैसला सबके सामने अथवा सबकी सम्मति से किया जाता था।

4. एक प्रतिष्ठित कुटुम्ब की बहू भी कृषि सम्बन्धी आद्योपान्त ज्ञान रखती थी। इससे तत्कालीन समय में समृद्ध कृषि और खेती-बाड़ी की सूचना मिलती है। कृषि-कार्यों में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका थी। कृषि के लिए सहायक उपकरणों और वाहनों तथा खेती-बाड़ी की प्रक्रिया के विवरण का बहुत आर्थिक मूल्य है।

माकन्दी सार्थवाह

ज्ञाताधर्मकथांग के नवम् अध्ययन में यह कथा आती है। कथा अत्यन्त रोचक है। इसमें साहित्य के नौ रस - शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त तथा इन नौ रसों के स्थायी भाव - रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम का समावेश हुआ है। कथा के अनुसार चम्पानगरी में माकन्दी सार्थवाह रहता था। उसके दो पुत्र थे - जिनपालित और जिनरक्षित। उन्होंने ग्यारह बार व्यापार के लिए लवण समुद्र की साहसिक यात्राएँ कीं और प्रचुर धन कमा कर वे सकुशल स्वदेश लौटे। वे बारहवीं बार समुद्र-यात्रा करना चाहते थे। परन्तु उनके माता-पिता ने मना कर दिया। फिर भी वे धन लाभ की आशा में बारहवीं बार समुद्र-यात्रा करते हैं। समुद्र में भारी-भयानक तूफान आता है। वे उसमें बुरी तरह फँस जाते हैं। किसी तरह जलयान के टूटे पाटिये के आसरे दोनों भाई अपनी जान बचाकर एक द्वीप पर पहुँच जाते हैं। वहाँ द्वीप पर रहने वालों के अधीन उन्हें रहना पड़ता है। एक भाई तो अपनी चतुराई, धैर्य और दृढ़ता के सहारे द्वीप से सकुशल चम्पा लौट आता है। उनकी यह वापसी वायु-मार्ग से होती है। परन्तु दूसरा चूक करता है और बीच समुद्र में ही उसे जान से हाथ धोना पड़ता है। इस कथानक में आगम युग की वाणिज्यिक गतिविधियों का मार्मिक चित्रण है। उनके निम्न आर्थिक बिन्दु उभरते हैं -

1. धनार्जन करना आसान नहीं। जीवन और जगत के सारे रंग-ढंग उसमें देखने को मिलते हैं।
2. समुद्र-यात्रा की तैयारी। जोखिम भरी समुद्र यात्राएँ।
3. माल, माल का प्रकार, माल को मापने के उपकरणों का वर्णन।
4. स्थल-यान और जल-यान का वर्णन।
5. आयात-निर्यात और विदेशी व्यापार।
6. देव शक्तियों और विद्याओं के सहारे आकाश-मार्ग से आवागमन।

धन्य सार्थवाह

उस समय चम्पा एक वाणिज्यिक नगरी थी। यह कथानक भी चम्पानगरी से सम्बन्धित है। ज्ञाताधर्मकथांग के पन्द्रहवें अध्ययन 'नन्दीफल' में इसका वर्णन है। चम्पानगरी में धन्य सार्थवाह रहता था। एक बार उसने विक्रय के लिए माल लेकर अहिच्छता नगरी जाने का विचार किया। प्रस्थान के कुछ दिनों पूर्व उसने पूरी चम्पानगरी में घोषणा करवाई कि जो कोई व्यक्ति धन्य के सार्थ के साथ चलना चाहे, वह उसके साथ चल सकता है। साथ में चलने वालों के लिए भोजन, वस्त्र, आवास, आवश्यकता पड़ने पर चिकित्सा आदि सब व्यवस्थाएँ धन्य सार्थवाह की ओर से की जाएगी। शुभ तिथि और समय देखकर धन्य सार्थवाह अनेक लोगों के साथ व्यापार के लिए प्रस्थान करता है। पूर्व घोषणा के अनुसार प्रत्येक सहायता के लिए धन्य सारी व्यवस्थाएँ करता है। किसी को कोई तकलीफ नहीं होने देता है तथा नीतिपूर्वक व्यापार, व्यवसाय और धर्म की शिक्षा देता है। धन्य सभी व्यापारिक मार्गों को भली-भाँति जानता था। चम्पा से अहिच्छत के रास्ते में एक भयानक अटवी पड़ती थी। उसमें जहरीले पेड़-पौधे, फल और वनस्पतियाँ थीं। धन्य सभी यात्रियों को ऐसे वृक्षों से दूर रहने की हिदायत देता है। इस तरह पूरा सार्थ लेकर धन्य अहिच्छत पहुँचता है। वहाँ के राजा कनककेतु से भेंट कर उन्हें बहुमूल्य उपहार देता है। राजा ने धन्य को व्यापार करने की अनुमति दे दी और कर माफ कर दिये। सभी लोगों ने अपनी अपनी योग्यता के अनुसार व्यापार किया और यथासमय पुनः चम्पा लौटे। आर्थिक जीवन की दृष्टि से यह कथानक बहुत ही महत्वशाली है। इससे निम्न आर्थिक बिन्दु स्पष्ट होते हैं -

1. सार्थवाह की प्रभावशीलता और उदारता का दिग्दर्शन।
2. व्यवसाय का उद्देश्य केवल लाभ ही नहीं वरन् समाज-सेवा और देश की उन्नति भी है।
3. धन्य का सार्थ मानवीय एकता का जीवन्त समूह है। वह बिना किसी भेदभाव के समाज के हर वर्ग, धर्म, जाति और स्तर के व्यक्ति को अपने सार्थ में सम्मिलित करता है। व्यवसाय के माध्यम से सामाजिक समता और सौहार्द का यह अनूठा कथानक है।
4. कठिन यात्रा-पथ का वर्णन।
5. राजकीय सम्पर्कों से व्यापार सुगम बना लेना और कर-मुक्ति का लाभ प्राप्त करना।

समुद्रपालीय

मूल आगम ग्रन्थ उत्तराध्ययन के इक्कीसवें अध्ययन के अनुसार अंगदेश की चम्पापुरी में पालित नाम का एक समुद्र व्यापारी था। वह भगवान महावीर का शिष्य था। वह जलयानों में भरकर माल विदेशों में ले जाता और लाता। उसका आयात-निर्यात का विस्तृत व्यापार था। एक बार वह व्यापार के लिए समुद्र के तटवर्ती पिहुण्ड नगर पहुँचा। व्यापारिक उद्देश्यों से उसे उस नगर में कुछ अधिक समय तक रुकना पड़ा। उसकी प्रामाणिकता, नीतिपरायणता, व्यापार-निपुणता और व्यवहार-कुशलता से प्रभावित होकर पिहुण्ड नगर के एक श्रेष्ठी ने अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया। पालित जब उसकी नव-विवाहिता के साथ पुनः चम्पानगरी लौट रहा था, तब समुद्र में, जलयान में ही उसकी पत्नी ने एक सर्वांग सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। समुद्र में जन्म होने से उसका नाम समुद्रपाल रखा गया। समुद्रपाल युवा हुआ और बहतर कलाओं में निष्णात हुआ। बाद में निमित्त मिलने पर समुद्रपाल दीक्षा ले लेता है। इस कथा की निम्नांकित आर्थिक निष्पत्तियाँ हैं -

1. आगम ग्रन्थों की इन कथाओं से प्राचीन भारतीय जहाजरानी पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।
2. अगणित जोखिमों के बावजूद विदेशी व्यापार खूब किया जाता था।
3. व्यापार में प्रामाणिकता।
4. तत्कालीन सामाजिक परम्पराओं की सूचना प्राप्त होती है। जैसे - आडम्बररहित विवाह और जातिगत भेदों की उपेक्षा। इनके सुप्रभाव लोगों की आर्थिक दशा और सामाजिक सौहार्द पर होते थे।

उपासकदशांग के दस श्रावक

उपासकदशांग सातवाँ अंग आगम है। इसमें ई. पू. 600 का सजीव सांस्कृतिक चित्रण है। आनन्द और अन्य श्रावकों का जीवन तत्कालीन व्यापार, वाणिज्य और व्यवसाय पर प्रकाश डालता है। राजा, ईश्वर, तलवर आदि नाम राज्याधिकारियों के परिचायक हैं। चम्पा, राजगृह आदि नगरों एवं राजाओं के नाम, मगध तथा आसपास के जनपदों का भौगोलिक और व्यावसायिक परिचय देते हैं⁴⁹ प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में अनेक स्थलों पर उपासकदशांग के आर्थिक महत्व के

सन्दर्भों का उल्लेख हुआ है। आनन्द आदि श्रावकों का लम्बा-चौड़ा व्यवसाय है और उनके पास अपार वैभव है। सभी तीर्थंकर महावीर से अणुव्रत, शिक्षाव्रत और गुणव्रत ग्रहण करते हैं। व्रतों के अनुसार अपना जीवन यापन करते हैं। मितव्ययिता और उदारता, कर्म और धर्म, त्याग और भोग, राग और विराग आदि का उनके जीवन में अद्भुत सुमेल था। उपासकदशांग से स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर ने एक व्रती समाज की आधारशिला रखी थी। उससे क्रान्तिकारी सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक उत्कर्ष हुआ था। उसका प्रभाव आज भी है। व्रत-नियमों से चलने वाले विपुल भौतिक और आध्यात्मिक वैभव के स्वामी बन जाते हैं। विपाक सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सुबाहुकुमार, भद्रनन्दी, सुजात आदि का जीवन भी व्रतों से ओतप्रोत था। एक शोषण-मुक्त श्रम आधारित उन्नत अर्थ-व्यवस्था आगम-युग में जन्म ले रही थी। उसके सूत्रधार तीर्थंकर महावीर थे।

इस प्रकार आगम ग्रन्थों में अनेक कथाएँ, चरित, दृष्टान्त, उदाहरण आदि मिलते हैं, जिनका अर्थशास्त्रीय अध्ययन हमें कई जानकारियाँ देता है। आगमोत्तर काल में भी तरंगवती, समराइच्चकहा, कुवलयमाला जैसी कालजयी कथाएँ लिखी गईं और अनेक कथाकोश रचे गये। जिनमें तत्कालीन समय के आर्थिक-सामाजिक जीवन के बारे में अनेक अज्ञात-अल्पज्ञात जानकारियाँ मिलती हैं। पथङ्गशाह, जगडूशाह, भामाशाह जैसे साढ़े चौहत्तर शाह जैन समाज में प्रसिद्ध हैं। जिनके चरितों का आर्थिक पक्ष अत्यन्त उज्वल और प्रेरक रहा है।

सन्दर्भ

1. ज्ञाताधर्मकथांग, अष्टम् अध्ययन
2. सूत्रकृतांग सूत्र, 1/2/3/145
3. णायाधम्मकहाओ, 1/66
4. रायप्पसेणीय, 162
5. णायाधम्मकहाओ, 17/12
6. जैन, कमल (डॉ.) प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन, पृ.-120
7. राजप्रश्नीय सूत्र 164
8. ज्ञाताधर्मकथांग 17/14
9. उत्तराध्ययन टीका, पृ.-64
10. भगवती सूत्र 2/5/96
11. बहत्कल्पभाष्य 3/2300
12. औपपातिक सूत्र-40 और सूत्र 45
13. निरुत्तादि वत्तणी व जहा। बहत्कल्पभाष्य 1/189
14. मुद्रापट्टकं दूतपुरुषं वा मार्गयितव्याः, बहत्कल्पभाष्य 3/2787
15. बहत्कल्पभाष्य 1/260
16. कौटिलीय अर्थशास्त्र 2/4/22
17. णायाधम्मकहाओ, 8वाँ अध्ययन
18. णायाधम्मकहाओ, 15वाँ अध्ययन
19. जैन, कमल (डॉ.) प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन, पृ.-129
20. बहत्कल्पभाष्य 1.1776
21. निशीथ सूत्र 42 - तं जहा - गंगा, जउणा, सरऊ, एरावई, मही।
22. जैन, जगदीश चन्द्र (डॉ.) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ.-182

23. उत्तराध्ययन सूत्र 23/71
24. सूत्रकृतांग 1/11, पिण्ड निर्युक्ति 42
25. जैन, जगदीश चन्द्र (डॉ.) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ.-183 एवं आवश्यक चूर्ण।
26. प्रश्नव्याकरण सूत्र 3/7
27. णायाधम्मकहाओ, 9वाँ अध्ययन
28. उत्तराध्ययन सूत्र 21.2 एवं जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ.-173
29. जैन, कमल (डॉ.) प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन, प.-132
30. कौटिलीय अर्थशास्त्र 2/28/45
31. सूत्रकृतांग 1/3/2/197
32. ज्ञाताधर्मकथांग प्रथम अध्ययन
33. चन्द्रप्रभाख्यशिविकामधिरूढो दृढव्रतः। - उत्तरपुराण 74/299 एवं देखें आचारांग सूत्र (2/15/367-368) में भगवान महावीर की दीक्षा-शिविका का वर्णन।
34. उपासकदशांग 1/20
35. औपपातिक सूत्र 49
36. उत्तराध्ययन सूत्र 23/71
37. आचारांग सूत्र 2/3/1/137
38. निशीथ सूत्र 18.12-13
39. निशीथ भाष्य, पीठिका 183
40. जैन, जगदीश चन्द्र (डॉ.) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ.-182 एवं निशीथ चूर्ण 1/185 व 3/4209
41. आवश्यक निर्युक्ति 214
42. सूत्रकृतांग 2/7/69

43. पण्डार जातक 2/128, 5/75
44. औपपातिक सूत्र 32 के संयम-पोत के वर्णन में इन प्रतीकों का उदाहरण दिया गया है।
45. ज्ञाताधर्मकथांग 8वाँ व 17वाँ अध्ययन।
46. राजप्रश्नीय सूत्र 4
47. भारद्वाज, एस. के. (डॉ.) का लेख 'प्राचीन भारत में विमान विद्या' जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, पृ.-6
48. धर्मकथानुयोग में अर्थ-कथाएँ भी मिलती हैं अथवा उपयोगी आर्थिक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। उपाध्याय कन्हैयालाल 'कमल' ने चारों अनुयोगों पर ऐतिहासिक कार्य किया, जिसमें धर्मकथानुयोग भी है। कथा साहित्य पर डॉ. जगदीश चन्द्र जैन की 'दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ' तथा 'जैन कथा साहित्य विविध रूपों में', डॉ. प्रेम सुमन जैन की 'अहिंसा की कथाएँ', 'प्राकृत कथा साहित्य परिशीलन', उपाध्याय पुष्कर मुनि की 'जैन कथाएँ' (111 भाग) प्रवर्तक रमेश मुनि की 'प्रताप कथा कौमुदी' आदि पुस्तकें द्रष्टव्य।
49. शास्त्री, इन्द्रचन्द्र (डॉ.) उपासकदशांग सूत्र (व्याख्याकार-आचार्य आत्मारामजी) में प्रस्तावना पृष्ठ-13

अध्याय चतुर्थ : मूल्यपरक अर्थव्यवस्था

परिच्छेद एक

अणुव्रतों का अर्थशास्त्र

परिच्छेद दो

दान, गृहस्थाचार और राष्ट्र-धर्म

परिच्छेद तीन

व्यसन निषेध और मार्गानुसारी का आर्थिक पक्ष

अणुव्रतों का अर्थशास्त्र अणुव्रत स्वरूप

जैन धर्म में सदगृहस्थ और सदगृहिणी को श्रावक और श्राविका कहा गया है तथा चतुर्विध संघ के चार स्तम्भों में से दो स्तम्भ श्रावक और श्राविका के हैं। इस प्रकार संघीय व्यवस्था का आधा भार गृहस्थ वर्ग पर है। यदि व्यवस्था की दृष्टि से देखा जाय तो श्रमण वर्ग श्रमणीय मर्यादाओं में जीता है तथा उनकी संख्या भी थोड़ी होती है, इसलिए संघ का अधिकांश दायित्व श्रावक-श्राविकाओं पर ही है। सामुदायिक प्रबन्धकीय कौशल का अभ्यास और प्रयोग गृहस्थ संघीय व्यवस्थाओं में सहयोग करके करता है।

भगवान महावीर ने गृहस्थाचार के रूप में श्रावक के लिए बारह व्रतों की व्यवस्था की है। इनमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा-व्रत हैं। उपासकदशांग के अनुसार गुणव्रत और शिक्षाव्रत अलग-अलग नहीं होकर सात शिक्षाव्रत कहते हुए गुणव्रतों का उनमें समावेश कर लिया गया है।¹

अणुव्रत यानि छोटे-छोटे व्रत। ये छोटे-छोटे व्रत व्यक्ति को बड़ा से बड़ा बनाने में सक्षम हैं। छोटे-छोटे नियम आदमी को पूर्णता प्रदान करते हैं और पूर्णता कोई छोटी बात नहीं होती है। भगवान महावीर की सम्पूर्ण आचार व्यवस्था समझ और प्रज्ञा पर अवलम्बित है। इसलिए वहाँ अनाग्रह तथा निर्णय की स्वतन्त्रता विद्यमान है। आगम साहित्य में कहीं भी ऐसी भाषा नहीं है, जहाँ साधक को उसकी इच्छा के विपरीत साधना-मार्ग पर अग्रसर होने के लिए कहा गया हो।

व्रत व्यवस्था में भगवान महावीर ने क्रमबद्ध और सूक्ष्म चिन्तन दिया है। हिंसादि पाप तीन करण और तीन योग से होते हैं। तीन करण हैं - पाप स्वयं नहीं करना, पाप दूसरों से नहीं करवाना और पाप का अनुमोदन नहीं करना।² तीन योग हैं - मन, वचन और काया। इनके कुल 49 भेद बनते हैं। श्रावक के लिए अधिकतर व्रत दो करण तीन योग से अनुपालनीय बताये गये हैं।³ कुछ व्रत एक करण एक योग से अनुपालनीय हैं।⁴ इन व्रतों का आचरण समाज व देश के लिए एक योग्य नागरिक का निर्माण करना है। अर्थशास्त्रीय दृष्टि से वह नागरिक सीमित संसाधनों का उपयोग करने वाला होता है। 'न्यूनतम लेना, अधिकतम देना और श्रेष्ठतम जीना' उसके जीवन का सूत्र होता है।

आगम-ग्रन्थों में प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार बताये गये हैं। ग्रन्थों में व्रतों के निरतिचार पालन पर जोर दिया गया है। स्थानांग सूत्र में व्रत के खण्डन की चार कोटियाँ बताई गई हैं -

1. अतिक्रम - व्रत की परिधि तोड़ने का मानसिक संकल्प।
2. व्यतिक्रम - व्रतों को तोड़ने के लिए सामग्री जुटाना।
3. अतिचार - व्रत का आंशिक रूप से खण्डन।
4. अनाचार - व्रत का भंग हो जाना।

अतिचार तक जो दोष लगते हैं; वे नहीं लगे, इसकी सावधानी रखनी चाहिये। अतिचार तक लगे दोषों से व्रत खण्डित नहीं होता है। अनाचार से वह खण्डित हो जाता है।

बारह व्रतों का अर्थशास्त्रीय अध्ययन

1. अहिंसा

अहिंसा प्रथम और प्रमुख अणुव्रत है। इस व्रत के अन्तर्गत श्रावक स्थूल हिंसा का त्याग करता है। इस व्रत का नाम 'स्थूल प्राणातिपात विरमण' है। श्रावक स्थूल प्राणातिपात के अन्तर्गत संकल्पपूर्वक तस निरपराध प्राणियों की हिंसा का दोष करण तीन योग से त्याग करता है। हिंसा के चार प्रकार बताये गये हैं - संकल्पजा, आरम्भजा, उद्योगिनी और विरोधिनी।

संकल्पजा हिंसा : अहिंसा व्रती इरादतन हिंसा का पूर्ण त्यागी होता है। इससे समाज में प्रतिशोध की भावना कभी नहीं पैदा होती है तथा तोड़-फोड़ और विनाश पर अंकुश लगता है। एक व्यक्ति इरादे से कोई अपराध करता है और एक व्यक्ति से भूलवश कोई पाप हो जाता है; धर्म और कानून दोनों दृष्टियों से इरादतन अपराध करने वाला अधिक सजा का भागी होता है।

आरम्भजा हिंसा : जीवन व्यवहार में नहीं चाहते हुए भी आरम्भजा हिंसा होती है। श्रावक के लिए वह छूट योग्य होती है। पाप कम से कम हो, इसका विवेक श्रावक रखता है।

उद्योगिनी हिंसा : जीविकोपार्जन के लिए व्यवसाय और उद्योग संचालन में जो हिंसा होती है, उसका परित्याग व्रती के लिए संभव नहीं है, इसलिए वह छूट

योग्य है। उदाहरण के तौर पर श्रावक खेती बाड़ी करता है, उसमें तस जीवों की हिंसा भी हो जाती है। परन्तु, उसमें उन जीवों की हिंसा का इरादा नहीं है, इसलिए वह क्षम्य है।⁷

विरोधिनी हिंसा : श्रावक के लिए अनाक्रमण मुख्य बात है। लेकिन यदि कोई हमला करता है तो उसका प्रतिकार अवश्यंभावी हो जाता है। आत्म-रक्षा तथा परिवार, समाज और देश की रक्षा के लिए व्रती को शस्त्र भी उठाना पड़ सकता है। इससे उसका व्रत टूटता नहीं है। अन्यायी और आक्रमणकारी के प्रति की गई हिंसा से गृहस्थ का अहिंसा व्रत खण्डित नहीं होता। निशीथ चूर्ण में तो यहाँ तक कहा गया है कि ऐसी अवस्था में गृहस्थ तो क्या साधु का व्रत भी खण्डित नहीं होता है। इतना ही नहीं, अन्याय का प्रतिकार नहीं करने वाले साधक को दण्ड का भागी भी बताया गया है।⁸

ग्रन्थों में महाराजा चेटक और मगध सम्राट अजातशत्रु (कूणिक) के युद्ध को अन्याय के प्रतिकार स्वरूप युद्ध माना गया। इस सम्बन्ध में विज्ञों ने महाराजा चेटक को विराधक नहीं माना! उस महासंग्राम में जिस तरह से भीषण नरसंहार हुआ, वह अपने आप में अन्यायपूर्ण था। अन्याय से अन्याय का प्रतिकार कैसे हो सकता है?

इस प्रकार श्रावक के अहिंसा अणुव्रत में अकारण अथवा बिना किसी को कष्ट दिये जीवन को सजाने संवारने के पूरे अवसर विद्यमान हैं। इस अणुव्रत के पाँच अतिचार निम्न हैं -

1. **बन्ध :** आगम युग में पशुपालन मुख्य व्यवसाय था। जो पशु मानव के जीविकोपार्जन का मुख्य साधन हो, उनकी समुचित देखभाल की जानी चाहिये। उन्हें कठोर बन्धन से बांधना, पिंजरों में कैद करना आदि अहिंसा व्रती के लिए अतिचार है।¹⁰ अधीनस्थ कर्मचारियों को निश्चित समयवाधि से अधिक समय तक रोक कर कार्य करवाने को भी बन्ध अतिचार के अन्तर्गत माना गया है।¹¹ इस अतिचार से श्रमिकों और दास-दासियों के शोषण के विरुद्ध माहौल बना। यदि उनसे अधिक काम करवाना है तो उन्हें अधिक पारिश्रमिक दिया जाय। वर्तमान के श्रम कानून में अधिसमय (ओवर टाइम) के प्रावधानों को इस अतिचार के सम्बन्ध में देखा जाना चाहिये।
2. **बध :** इसके अन्तर्गत पीटना, ताड़ना देना, घातक प्रहार करना आदि को अतिचार बताया गया है। मवेशियों व पशुओं पर घातक प्रहार नहीं करने

चाहिये।¹² वे हमारे मित्र की तरह होते हैं। उनके साथ करुणा और प्रेम का व्यवहार करना चाहिये। इसी प्रकार नौकरों और श्रमिकों के साथ भी पूर्ण मानवीय व्यवहार होना चाहिये। किसी की मजबूरी का अनुचित फायदा उठाना बध अतिचार है।¹³

3. **छविच्छेद** : इस अतिचार के अन्तर्गत पशु आदि के अंगोपांग काटना, उनका छेदन करना, खरसीकरण करना आदि सम्मिलित है। इसका लाक्षणिक अर्थ होता है - वृत्तिच्छेद, जिसका अत्यधिक आर्थिक मूल्य है। किसी की जीविका छीन लेना, जीविका में बाधा उत्पन्न करना, उचित पारिश्रमिक से कम देना छविच्छेद अतिचार है।¹⁴
4. **अतिभार** : मानवों और भारवाहक पशुओं पर अधिक भार नहीं डालना और क्षमता से अधिक काम नहीं करवाना इस अतिचार से बचने के लिए आवश्यक है।¹⁵ माल ढोने वाले श्रमिकों पर उनकी क्षमता से अधिक भार नहीं उठवाना तथा नौकरों से शक्ति से अधिक कार्य नहीं करवाना चाहिये।¹⁶ बालश्रम निषेध कानून, महिला श्रमिक कानून और कामकाजी गर्भवती महिलाओं के लिए विशेष कानूनी प्रवधानों का इस सम्बन्ध में विशेष महत्व हैं।
5. **भोजन-पानी का निरोध** : इस अतिचार से बचने के लिए पालतू मूक पशुओं को समय पर चारा पानी देने का एवं नौकरों व दास-दासियों को समय पर भोजन और वेतन देने का निर्देश है।

अहिंसा अणुव्रत के जो अतिचार हैं, उनका वर्तमान में श्रम और सुरक्षा कानूनों की दृष्टि से बहुत मूल्य हैं। श्रमिकों के शोषण के विरुद्ध जो आवाज आज उठाई जाती है, श्रावकाचार में उसका प्रवधान ढाई हजार वर्ष पूर्व हो गया था। श्रावकाचार में तो मूक प्राणियों के हितों का भी बहुत खयाल रखा गया है। जिसका वर्तमान में अभाव देखा जाता है। हालांकि, पशु-पक्षी क्रूरता निवारण अधिनियम में पशु-पक्षियों पर होने वाली ज्यादतियों के निषेध के प्रावधान हैं।

2. सत्य

इस व्रत के अन्तर्गत गृहस्थ जीवनभर के लिए दो करण तीन योग से स्थूल मृषावाद का त्याग करता है।¹⁷ स्थूल मृषावाद के अन्तर्गत वे सारे झूठ आ जाते हैं, जो लोक-निन्दनीय और राज-दण्डनीय है। श्रावक प्रतिक्रमण में पाँच प्रकार के झूठ का त्याग करता है।¹⁸

1. **वर-कन्या सम्बन्धी** : वर कन्या सम्बन्धी झूठ बोल कर तय किये गये रिश्ते दीर्घ समय तक नहीं टिक पाते हैं। इससे परिवार टूटता और समाज कमजोर होता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति और समाज के आर्थिक हितों पर कुठाराघात होता है।
2. **गौ आदि पशु सम्बन्धी** : पशु मुख्य आर्थिक उपादान थे, इसलिए पशु सम्बन्धी झूठ का निषेध किया गया है। व्यापक अर्थों में व्यापारिक वस्तुओं और वाहनों के सम्बन्ध में भी झूठ नहीं बोला जाना चाहिये। जिससे व्यापार, व्यापारी और व्यापारिक वस्तुओं के प्रति लोक-विश्वास बना रहे। अतिरंजित और झूठे विज्ञापनों से मृषावाद का दोष लगता है। ऐसे प्रलेभनों से निम्न व मध्यवर्गीय परिवारों पर अनावश्यक आर्थिक भार पड़ता है।
3. **भूमि सम्बन्धी** : भूमि एक महंग सौदा होता है। इसलिए आर्थिक जगत में भूमि के स्वामित्व और स्वत्व को लेकर बहुत साँच-झूठ और ठगाई होती है। भोले और निर्धन व्यक्ति उसमें फँस भी जाया करते हैं। व्यक्ति को भूमि सम्बन्धी झूठ नहीं बोलना चाहिये।
4. **धरोहर सम्बन्धी** : लटी संहिता में इसे न्यासापहार अतिचार माना है।¹⁹ प्राचीन परम्परागत बैंकिंग प्रणाली में मूल्यवान धरोहर के बदले में ऋण दिया जाता था। सद्गृहस्थ को निर्देश दिया गया है कि वह ऐसी अमानत को दबाने या परिवर्तित करने के लिए कभी झूठ का सहारा नहीं लें।
5. **कूट साक्षी** : वाणिज्यिक गतिविधियों और न्याय-प्रणाली में गवाही का महत्व होता है। झूठी गवाही और छद्म साक्ष्यों से आर्थिक जगत में बड़े-बड़े अपराध होते हैं। न्यायिक व्यवस्था भी उनके समक्ष दीन-हीन बन जाती है।

उपरोक्त स्थूल मिथ्या-वचनों का त्याग करते हुए श्रावक को निम्न पाँच अतिचारों से बचना चाहिये²⁰ -

1. **सहसा अभ्याख्यान** : बिना सोचे समझे किसी के लिए कुछ-का-कुछ कह देना अतिचार है। कभी किसी के लिए एकाएक गलत बात मुँह से निकल जाती है, उससे भी दोष लगता है। लेकिन दुर्भावना पूर्वक किसी के लिए अनुचित कहने से अनाचार का दोष लगता है। वचनों की दरिद्रता से जीवन की सम्पन्नता घट जाती है।

2. **रहस्य अभ्याख्यान** : जीवन में गोपनीयता का अपना स्थान होता है। जिम्मेदार व्यक्ति को गोपनीयता की शपथ भी दिलाई जाती है। व्यवसाय में भी गोपनीयता का महत्व होता है। किसी की गोपनीय बात को प्रकट करने से उसकी प्रतिष्ठा पर आँच आती है और अर्थिक हितों को धक्का लगता है। कभी-कभी तो किसी बात का रहस्योद्घटन या पटाक्षेप होने पर बवाल मच जाता है। इसलिए समझदार व्यक्ति कभी किसी की अप्रकटनीय बात को प्रकट नहीं करता है।
3. **मन्त्र-भेद** : इस अतिचार का सम्बन्ध मुख्यतः दाम्पत्य और पारिवारिक जीवन सम्बन्धी गोपनीय बातों के प्रकटीकरण से है। सद्गृहस्थ को चाहिये कि कैसी भी स्थिति में ऐसी बातें प्रकट नहीं करें, जिससे किसी के मर्म को, हृदय को चोट पहुँचे अथवा वैसी बात से कलह उत्पन्न हो जाय।
4. **मृषोपदेश** : मृषावाद के त्यागी को कभी किसी को गलत राय नहीं देनी चाहिये। पेशेवर जगत में सलाह का अत्यधिक महत्व है। गलत सलाह भ्रम और हानि पैदा करती है।
5. **कूटलेखकरण** : आचार्य अभयदेव ने जाली दस्तावेज बनाने, झूठी मुद्राएँ बनाने और जाली हस्ताक्षर करने को कूटलेखकरण अतिचार माना है।¹ आर्थिक अपराध और भ्रष्टाचार को रोकने के लिए इस अतिचार के निषेध का बहुत महत्व है। दुर्भावना से कार्य करने वाले के लिए अतिचार अनाचार बन जाता है।

व्यापार में विश्वास की परम्परा को स्थापित करने के लिए मृषावाद विरमण व्रत एक 'व्यापार-मन्त्र' की तरह है। जिसका अनुपालन व्यापार और व्यापारियों के लिए वरदान है।

3. अस्तेय

श्रावक प्रतिज्ञा करता है कि वह यावज्जीवन मन, वचन और कर्म से न तो स्थूल चोरी करेगा, न करवायेगा।² प्रतिक्रमण-सूत्र³ में पाँच प्रकार की स्थूल चोरियाँ बताई गई हैं -

1. खात खनना यानि सेंध लगाकर वस्तुएँ ले जाना।
2. गाँठ खोलकर या जेब काट कर चोरी करना।
3. ताला तोड़कर या दूसरी चाबी से चोरी करना।

4. दूसरों की पड़ी वस्तु को चोरी की नियत से ले लेना।

5. जबरदस्ती किसी की वस्तु अपने अधीन करना।

इस प्रकार की चोरियाँ लोक-निन्दनीय और राज-दण्डनीय होती हैं। इसलिए जो व्रत ग्रहण नहीं करता है, उसके लिए भी पूर्ण वर्जनीय है। व्रत ग्रहणकर्ता अपने प्रतिज्ञा-सूत्र में अदत्तादान का त्याग करता है।²⁴ उसके लिए बिना दी हुई वस्तु को लेने का निषेध है। वह वस्तु सचित भी हो सकती है और अचित भी। प्रश्नव्याकरण सूत्र में अदत्तादान के चार प्रकार बताये हैं - स्वामी अदत्त, जीव अदत्त, देव अदत्त और अजीव अदत्त। इसका अर्थ है कि श्रावक किसी भी वस्तु को उसके स्वामी, धारक, प्रभारी या सम्बन्धित अधिकृत व्यक्ति की अनुमति के बगैर प्राप्त नहीं करें। व्यवस्था और विश्वास बनाये रखने के लिए यह आवश्यक हैं। किसी की चीज हड़पना, वेतन, किराया, ब्याज, पारिश्रमिक आदि में नियमों से परे जाकर दुर्भावना से फेरबदल करना तथा साहित्य सम्बन्धी चोरियाँ भी श्रावक के लिए वर्ज्य हैं।²⁵

अस्तेय व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं²⁶ -

1. **स्तेनाहृत** : चोरी की वस्तु लेना, खरीदना और अपने घर में रखना स्तेनाहृत है। चोरी करने वाले तो कम होते हैं परन्तु चोरी की चीजें लेने वाले बहुत मिल जाते हैं। क्योंकि वे सस्ते दामों में मिल जाती है। इससे चोरी को प्रोत्साहन मिलता है और बिना चोरी की सही वस्तुओं के व्यापार पर विपरीत प्रभाव होता है। कीमती वस्तुओं की चोरी करने वाले अनेक समूह भी कार्य करते हैं। कितनी ही जगहों पर ऐसे चोरों के गिरोह पकड़े जाते हैं। चोरी की वस्तुएँ खरीदना कानूनी तौर पर भी अपराध है।
2. **तस्कर प्रयोग** : चोरी तस्करी करने वालों को किसी भी रूप में सहयोग करना श्रावक के लिए निषिद्ध है। जो लोग चोरों, तस्करों आदि को वित्तीय या गैर-वित्तीय किसी भी प्रकार की मदद करते हैं, वे समाज-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था में गम्भीर व्यवधान पैदा करते हैं।
3. **विरुद्ध राज्यातिक्रम** : राजकीय नियमों का उल्लंघन विरुद्ध राज्यातिक्रम अतिचार है। राज्य की निषिद्ध सीमाओं का उल्लंघन भी विरुद्ध राज्यातिक्रम है।²⁷ सरकार द्वारा अन्तर्राज्यीय व्यापार और अन्तर्देशीय व्यापार के नियमन व नियन्त्रण के लिए नियमों के विरुद्ध सीमा-उल्लंघन पर प्रतिबन्ध लगाया जाता

है। एक श्रावक के लिए यह विधान उसके व्रतों के अन्तर्गत ही हो जाता है। वह बल या भय पूर्वक नहीं, अपितु इच्छापूर्वक राजकीय नियमों के पालन की प्रतिज्ञा करता है।

4. **कूटतुल्य-कूटमान** : गलत माप-तौल करना इस अतिचार के अन्तर्गत आता है। सद्गृहस्थ यह संकल्प करता है कि वह जीवन व्यवहार और व्यापार में सर्वत्र ईमानदारी का परिचय देते हुए अपनी प्रतिष्ठा और व्यापार की प्रामाणिकता कायम रखेगा। पता चला है कि आजकल इलेक्ट्रॉनिक तौल के काँटों में भी व्यक्ति कम तौल सेट कर देता है। जबकि ग्राहक उसे पूरा समझ कर ले लेता है। यह चोरी का एक प्रकार है। इससे बचना चाहिये।
5. **तत्प्रतिरूपक व्यवहार** : इस अतिचार के अन्तर्गत गृहस्थ को वस्तुओं में मिलावट नहीं करने का निर्देश किया गया है।²⁸ मिलावटी वस्तुओं को बेचने से जन-स्वस्थ्य और सही व्यापार के साथ खिलवाड़ होता है। ऐसा व्यवहार श्रावक को नहीं करना चाहिये।

दूसरे और तीसरे व्रत के अतिचारों के निषेध को 'व्यवसाय के आदर्श नीति-नियम' निरूपित कर सकते हैं।

4. ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अन्तर्गत सद्गृहस्थ या सद्गृहिणी के द्वारा अपने जीवन-साथी या जीवन-संगिनी के प्रति पूर्ण निष्ठा व्यक्त की जाती है तथा अन्य समस्त स्त्रियों (पुरुषों के लिए) और पुरुषों (स्त्रियों के लिए) के प्रति विकार-मुक्त सम्बन्ध का सत्संकल्प किया जाता है। यह व्रत सदाचार और सामाजिकता की नींव है। जिस समाज और राष्ट्र का चरित्र और चारित्र उज्वल होता है, वह यशस्वी, अजेय और सम्पन्न होता है। बलवान, समर्थ और धनवान नागरिकों का वहाँ वास होता है। भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य पर बहुत बल दिया। उनकी परम्परा के सद्गृहस्थ आज भी ब्रह्मचर्य पालन का आदर्श उपस्थित करते हैं। वहाँ अपने जीवन-साथी के प्रति भी अधिकाधिक विकार-मुक्त रह कर जीवन की रचनात्मकता को बहुगुणित किया जाता है।

उपासकदशांग²⁹ में आनन्द श्रावक भ. महावीर से संकल्प करता है - मैं स्वपत्नी सन्तोषव्रत ग्रहण करता हूँ, मेरी शिवानन्दा नामक पत्नी के अतिरिक्त सभी प्रकार के मैथुन का त्याग करता हूँ। आवश्यक सूत्र के चौथे व्रत के अनुसार

श्रावक देव-देवी सम्बन्धी मैथुन का त्याग दो करण तीन योग से तथा मनुष्य और तिर्यच सम्बन्धी मैथुन का त्याग एक करण एक योग से करता है। संसारिक जीवन की जिम्मेदारियों और व्यावहारिक कठिनाइयों को ध्यान में रखकर इस व्रत का विधान किया गया है। इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं³⁰ -

1. **इत्वरपरिगृहितागमन** : इस अतिचार के तीन अर्थ बताये गये हैं³¹ - थोड़े समय के लिए रखी गई रखैल स्त्री से समागम, वाग्दत्ता के साथ समागम और अल्पवयस्क या अवयस्क के साथ समागम। वर्तमान सन्दर्भों में इस प्रकार के सम्बन्धों को शारीरिक, सामाजिक और कानूनी दृष्टियों से भी वर्जनीय व हेय माना जाता है। ऐसे सम्बन्ध व्यक्ति को दरिद्रता की ओर ढकेलते हैं।
2. **अपरिगृहितागमन** : इस अतिचार का अर्थ किसी भी प्रकार की पराई स्त्री या पर-पुरुष के साथ समागम करने की ओर बढ़ना है। जिसका व्रत के द्वारा निषेध है। व्रत का मूल हेतु भी यही है। सप्त कुव्यसनों में दो व्यसन वेश्या-गमन और परस्त्री या परपुरुष-गमन इस अतिचार से सम्बन्धित हैं। अवैधानिक और असामाजिक सम्बन्धों से जीवन संकटों से घिर जाता है।
3. **अनंगक्रीड़ा** : स्वाभाविक रूप से कामसेवन की बजाय अप्राकृतिक तरीकों से कामक्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा अतिचार है।³² समलैंगिक कामक्रीड़ाएँ भी इसी अतिचार के अन्तर्गत आती हैं। सद्गृहस्थ इन पापों को पूर्णतः त्यागकर अपने जीवन को सजाता है।
4. **परविवाहकरण** : गृहस्थ को चाहिये कि वह अपने परिवार के सदस्यों के विवाह के अतिरिक्त अन्य जनों के विवाह करवाने से बचें। कितने ही व्यक्तियों को दूसरों के लड़के-लड़कियों के रिश्ते जुड़वाने में दिलचस्पी होती है। आध्यात्मिक दृष्टि से वह ठीक नहीं है।

निरपेक्ष भाव और सहयोग भाव से इस सम्बन्ध में किसी की मदद करने का सामाजिक मूल्य है। वर्तमान समय में जहाँ सम्बन्ध जुड़ना कठिनतर हो रहा है; विलम्बित विवाह और अविवाह की स्थितियाँ समाज में पैदा हो रही हैं, वहाँ इस सहयोग का मूल्य और बढ़ जाता है। सामूहिक विवाह की परम्परा का एक कारण यह भी है। व्यक्ति के सुख-समृद्धि का सपना इससे जुड़ा है। ब्रह्मचर्य व्रत का मुख्य लक्ष्य भोगासक्ति घटना और समाज में सदाचार की स्थापना करना है। विवाह भी इन उच्चतर लक्ष्यों से जुड़ा है।

5. **कामभोग की तीव्र इच्छा** : कामाग्नि में आकुल-व्याकुल होकर व्यक्ति अपना विवेक और सुधबुध खो देता है। व्रती को कामोत्तेजना को बढ़ाने वाली औषधियों व मादक चीजों का सेवन नहीं करना चाहिये। जो व्यक्ति कामभोग की तीव्र अभिलाषा से बचता है वह अपनी जीवन-शक्ति, दीर्घजीविता और रचनात्मकता को बढ़ाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रावक के चौथे व्रत के अन्तर्गत सुन्दर समाज व्यवस्था, समर्थ सन्तति और चरितवान नागरिक निर्माण के सारे नियम मौजूद हैं। समाज की शान्ति और समृद्धि इस व्रत पर निर्भर करती है। लड़के का विवाह इक्कीस वर्ष की उम्र से पूर्व और लड़की का विवाह अठारह वर्ष की उम्र से पूर्व करना वर्तमान कानून की दृष्टि से निषिद्ध है। इस व्रत की दृष्टि से भी इसे निषिद्ध माना जाना चाहिये। बाल-विवाह, बेमेल-विवाह, वृद्ध-विवाह का निषेध भी इस व्रत के अन्तर्गत हो जाता है। विधवा-विवाह और विधुर-विवाह को भी प्रचलित सामाजिक परम्परा तथा व्यक्ति विशेष की परिस्थितियों के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिये। व्रत का विधान स्त्री और पुरुष दोनों के लिए हैं। इसलिए प्रत्येक नियम-उपनियम को समानता के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिये। ये सारी बातें व्यक्ति और समाज की आर्थिक बेहतरी से सम्बन्धित है।

5. अपरिग्रह

समाज और देश में आर्थिक समता की स्थापना और विषमता के निवारण में अपरिग्रह व्रत की युगान्तरकारी भूमिका रही है। यह व्रत भारतीय संस्कृति का साम्यवाद है और साम्यवाद से भी ज्यादा प्रभावशाली, निरापद और विकासोन्मुख है। श्रावक-सूत्र में इस व्रत का नाम परिग्रह परिमाण व्रत है। श्रावक एक करण तीन योग से परिग्रह की मर्यादा करता है। उपासकदशांग में इसका नाम इच्छापरिमाण व्रत है, जो अत्यन्त अर्थपूर्ण है।³³ इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं।³⁴ उनके परिमाण से जीवन में और संसार में सुखों की सृष्टि होती है। तीन प्रकार के परिग्रह³⁵ - कर्म, शरीर और बाहरी में से यहाँ मुख्यतः बाहरी परिग्रह पर विशेष धिर्मर्श अभिप्रेत है। इच्छाओं के परिसीमन के लिए बाहरी परिग्रह का परिसीमन भी आवश्यक है। उपासकदशांग³⁶ में यह परिग्रह सात प्रकार का और आवश्यक सूत्र में यह नौ प्रकार का बताया गया है -

1. क्षेत्र : कृषि, आवासीय या वाणिज्यिक भूमि अथवा भूखण्ड।
2. वास्तु : मकान आदि अचल सम्पत्ति।
3. हिरण्य : चाँदी और चाँदी की मुद्राएँ व वस्तुएँ।
4. सुवर्ण : स्वर्ण और स्वर्ण की मुद्राएँ व वस्तुएँ।¹⁷
5. द्विपद : दास-दासी, नौकर-चाकर, कर्मचारी आदि।
6. चतुष्पद : पशुधन।
7. धन : समस्त चल सम्पत्ति, वाहन आदि।
8. धान्य : अनाज और खाने-पीने की वस्तुएँ।
9. कुप्य : घर गृहस्थी का अन्य सामान।

आजकल मध्य व उच्च वर्गीय परिवारों के घर अनेक प्रकार की अनावश्यक चीजों से भरे होते हैं। गृहस्थ को सभी प्रकार की वस्तुओं की मर्यादा करनी चाहिये। धरती पर मानव की उचित आवश्यकता-पूर्ति के लिए तो संसाधन है, परन्तु इच्छा-पूर्ति के लिए नहीं। उपासकदशांग (1/49) के अनुसार इच्छा-परिमाण व्रत के पंचातिचारों का वर्णन किया जा रहा है।

1. क्षेत्र और वास्तु के परिमाण अतिक्रमण : श्रावक व्रत ग्रहण के द्वारा जितने भूमि और भवन की मर्यादा करता है, उससे अधिक रखने पर दोष लगता है।
2. हिरण्य-सुवर्ण का परिमाण अतिक्रमण : श्रावक हिरण्य और सुवर्ण का परिमाण करें तथा निर्धारित परिमाण का उल्लंघन नहीं करें। उल्लंघन पर इस अतिचार का दोष लगेगा।
3. धन-धान्य का परिमाण अतिक्रमण : इसमें व्रत ग्रहण के द्वारा जितने धन और धान्य की मर्यादा करता है, उससे अधिक रखने पर अतिचार का दोष लगता है।
4. द्विपद-चतुष्पद का परिमाण अतिक्रमण : इस अतिचार में भी मर्यादा से अधिक सेवक और पशु-सम्पदा रखने को दोषपूर्ण बताया है।
5. कुप्य का परिमाण अतिक्रमण : परिग्रह का परिमाण करने वाला गृहस्थ घर की, व्यवसाय की सारी वस्तुओं की मर्यादा करता है। वैसी मर्यादा के उल्लंघन पर इस अतिचार का दोष लगता है।

इन अतिचारों के दोषों से बचने के लिए मर्यादा से अधिक संग्रह को सत्कार्यों में लगाकर व्रत का निरतिचार पालन करना चाहिये। ये पाँच व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। आगे के सात व्रतों में तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं। इससे पूर्व रात्रि भोजन त्याग पर विचार किया जा रहा है।

रात्रि-भोजन निषेध

रात्रिभोजन त्याग भगवान महावीर की विशिष्ट और अनुपम देन है। आचार्य सुधर्मा भ. महावीर की स्तुति में कहते हैं - 'से वारिया इत्थि संराइ भत्तं'।⁸⁸ श्रमणाचार में रात्रिभोजन-त्याग को छठवें महाव्रत का दर्जा दिया गया है तथा श्रमण वर्ग के लिए रात्रिभोजन पूर्ण रूप से निषिद्ध बताया गया है।⁸⁹ श्रमण वर्ग रात्रि में जल सेवन भी नहीं करता है। सूर्यास्त होते होते भी कोई श्रमण भोजन करता है तो वह 'पापी श्रमण' कहलाता है।⁹⁰ महाव्रतों के अपवाद मिल सकते हैं, पर रात्रि भोजन त्याग का कोई अपवाद नहीं है। इससे रात्रिभोजन त्याग की विशिष्टता और महत्ता का पता चलता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 11 प्रकार के संयमाचरण में रात्रिभोजन त्याग को समाविष्ट किया है।⁹¹ श्रावकाचार में भी रात्रिभोजन त्याग को छठवें व्रत की संज्ञा दी गई है।⁹² रात्रिभोजन त्याग का स्वास्थ्य के साथ भी गहरा सम्बन्ध है। रात को नहीं खाने वाला रात्रिभोजनजन्य बीमारियों बचा रहता है। इसका व्यक्ति के बजट और क्षमता पर अनुकूल प्रभाव होता है। जैन गृहस्थाचार में रात्रिभोजन त्याग एक विशिष्ट पहचान है। वह पहचान आज कम होती जा रही है। उसका सामाजिक जन-जीवन पर नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है। वह इस रूप में कि पहले तो व्यक्तिगत तौर पर रात्रि-भोजन होता था; अब सामूहिक रूप से रात को खाया और खिलाया जाता है। वह भी सामान्य रूप से नहीं, बल्कि आडम्बर और वैभव के प्रदर्शन के साथ बड़े-बड़े रात्रि भोज किये जाते हैं। धनाढ्य-वर्ग ऐसे रात्रि भोजों में कुछ घण्टों में अनाप-शनाप पैसा पानी की तरह बहा देता है। निम्न मध्य वर्गीय जन-जीवन पर इस प्रकार के प्रदर्शनों का अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि इन भोजों को दिन में कर लिया जाय तो समाज का अपव्यय तो रुकेगा ही, समाज में अनावश्यक होड़ा-होड़ी में भी कमी आएगी। अनेक जैन गृहस्थ आज भी सामूहिक रात्रि भोजों का निषेध करके समाज को समता और समृद्धि का सन्देश देते हैं। रात्रि-भोजों का समाज और राष्ट्र पर विपरीत आर्थिक प्रभाव होता है। इस प्रभाव के आकलन की आवश्यकता है।

गुणव्रत .

गृहस्थ के बारह व्रतों के क्रम में भ. महावीर ने पाँच अणुव्रतों के बाद तीन गुणव्रतों की व्यवस्था की - दिशा परिमाण, उपभोग-परिभोग परिमाण और अनर्थदण्ड-त्याग। गुणव्रत और शिक्षाव्रत के नाम, क्रम और संख्या को लेकर आचार्यों और विद्वानों में मामूली मतभेद है। लेकिन उसकी चर्चा यहाँ पर अभीष्ट नहीं है। गुणव्रत अणुव्रतों के परिपालन में सहायक बनते हैं। साथ ही गृहस्थाचार को अधिक उन्नत व परिपूर्ण बनाते हैं। जैसे परकोटे नगर की रक्षा करते हैं वैसे ही शील-व्रत (गुण-शिक्षाव्रत) अणुव्रतों की रक्षा करते हैं।¹³ अर्थिक दृष्टि से गुणव्रत अत्यधिक महत्वशाली हैं।

6. दिशा-परिमाण व्रत (दिग्ब्रत)

उपासकदशांग में परिग्रह-परिमाण की तरह इस व्रत को भी इच्छा-परिमाण व्रत कहा गया है। आवश्यक-सूत्र के छठवें व्रत में श्रावक एक या दो करण तथा तीन योग से ऊँची, नीची और तिरछी दिशाओं का यथापरिमाण करता है। श्रावक यह संकल्प करता है कि वह अमुक-अमुक दिशाओं में इतनी-इतनी दूरी तक नहीं जायेगा।¹⁴ जो गृहस्थ दो करण तीन योग से दिशा का परिमाण करता है, वह दूसरों से भी दिशाओं का अतिक्रमण नहीं करवायेगा। दिशाओं को तीन भागों में बाँटा गया है -

1. **ऊर्ध्व दिशा** : ऊपर की ओर जाने की मर्यादा करना, जैसे पहाड़, वृक्ष, बहुमंजिले मकान आदि की अमुक ऊँचाई तक जाना। वर्तमान सन्दर्भों में अन्तरिक्ष-यात्रा व उपग्रह-प्रक्षेपण सम्बन्धी आचार-संहिताओं के सम्बन्ध में इस सीमाकरण का महत्व है।
2. **अधोदिशा** : खदान, समुद्र या धरती के निचले हिस्सों में अमुक गहराई तक जाने की मर्यादा करना। किस सीमा तक खदान खोदने से भूगर्भीय पर्यावरण पर नुकसान नहीं होगा, जल के लिए कितनी गहराई तक कूप या नलकूप (हैण्डपम्प और बोरिंग) खुदवाने से भूगर्भीय जल स्रोतों और पर्यावरण पर विपरीत असर नहीं होगा। ये प्रश्न आज बहुत प्रासंगिक हो गये हैं, जिनके उत्तर दिग्ब्रत में ढूँढे जा सकते हैं। झील, समुद्र आदि की अमर्यादित गहराइयों में मत्स्याखेट व जलीय जन्तुओं को पकड़ने से समुद्री पर्यावरण और पारिस्थितिकी पर होने वाले दुष्प्रभावों का आकलन भी दिग्ब्रत की दृष्टि से

किया जाना चाहिये। विज्ञों का मत है कि बेहिसाब उत्खनन और अत्यधिक मत्स्याखेट भूकम्प की वजह बनते हैं। हालांकि जैन-सूत्रों में मत्स्याखेट और अन्य महाहिंसक धन्धों को पूरी तरह निन्दित माना गया है। लेकिन हिंसा का अल्पीकरण भी अहिंसा है, इस सन्दर्भ में सारी बातों पर विचार किया जाना चाहिये।

3. **तिर्यक् दिशा** : इसके अन्तर्गत चारों मुख्य दिशाएँ - पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण तथा चारों विदिशाएँ - ईशान, आग्नेय, नैऋत्य और वायव्य समाविष्ट हैं।

दिग्ब्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं⁴⁵ -

1. ऊँची दिशा के परिमाण का अतिक्रमण करना।
2. नीची दिशा के परिमाण का अतिक्रमण करना।
3. तिरछी दिशा के परिमाण का अतिक्रमण करना।
4. दिशा के परिमाण का विस्मरण हो जाना।
5. एक दिशा के परिमाण को घटाकर दूसरी दिशा का परिमाण बढ़ाना।

दिग्ब्रत धारण करने से मनुष्य की असीम लालसाएँ सीमित हो जाती हैं। यह ब्रत संसार की अनेक आर्थिक, सामाजिक, नैतिक और राजनैतिक समस्याओं का समाधान करता है। घुसपैठ और प्रतिभा पलायन की समस्या का समाधान इस ब्रत की आचार-संहिता में समाहित है।

गांधीजी के स्वदेशी का मूलस्रोत दिशा-परिमाण है। महात्मा गांधी श्रीमद् राजचन्द्र की छत्रछाया में अहिंसा के सिद्धान्त को पल्लवित कर रहे थे। गांधीजी पर उनका प्रभाव था, इसलिए भ. महावीर के सूत्रों को अपनाना गांधीजी के लिए स्वभाविक था। भगवान महावीर की आचार-संहिता से तीन नियम अविर्भूत होते हैं - विकेन्द्रित अर्थनीति, विकेन्द्रित उद्योग और स्वदेशी।⁴⁶

उपनिवेशवादी मनोवृत्ति पर अंकुश लगाने में दिग्ब्रत की महत्वपूर्ण भूमिका है। विश्व में लोकतन्त्र के प्रसार के साथ भोगौलिक साम्राज्यवाद के विरुद्ध कुछ माहौल बना तो आर्थिक साम्राज्यवाद फैलता जा रहा है। ऋय-विक्रय, आयात-निर्यात आदि में मुक्त व्यापार प्रणाली और उदारीकरण से विश्व में आर्थिक उपनिवेश बढ़ रहे हैं। इनके अलावा हथियारों के वैध-अवैध व्यापार और आयात-

निर्यात से संसार भय और हिंसा से आक्रान्त है। ऐसे विकट समय में दिशा-परिमाण व्रत दिशा-सूचक यन्त्र की तरह सबका दिशा-बोध कर रहा है।

7. उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत

सातवाँ व्रत गरीब की सम्पन्नता का और सम्पन्न की सन्तुष्टि का अर्थशास्त्र है। भगवान महावीर ने व्यक्ति को संयमपूर्वक जीने की राह दिखाई। उस राह का बहुत सारा पाथेय इस व्रत में उन्होंने प्रदान किया है। इस व्रत के अन्तर्गत उपभोग और परिभोग का सीमाकरण किया जाता है। उपभोग के अन्तर्गत उन वस्तुओं को लिया जाता है जिनका उपयोग एक बार ही किया जा सकता है। जैसे जल, भोजन, खाने-पीने की चीजें, श्रृंगार प्रसाधन सामग्री, एकल उपयोग वस्तुएँ आदि। परिभोग के अन्तर्गत एक से अधिक बार उपयोग की जा सकने वाली वस्तुएँ आती हैं। जैसे वस्त्र, वाहन और अन्य सारी वस्तुएँ¹⁷ आवश्यक सूत्र के अनुसार उपभोग-परिभोग की निम्न छब्बीस वस्तुओं का इस व्रत के अन्तर्गत परिमाण करना होता है-

1. **उद्द्रवणिका विधि** : स्नान के पश्चात् शरीर पोंछने के काम आने वाले तौलिये की मर्यादा करना।
2. **दन्तधावन विधि** : दाँतों को साफ करने के द्रव्यों की मर्यादा करना। वर्तमान में सच्चे-झूठे टुथ-मेस्टेयँ और टुथ-ब्रशों का अनाप-शनाप विज्ञापन और लम्बा-चौड़ा व्यापार फल-फूल रहा है। इसके बावजूद दन्त रोगों में बेतहाशा वृद्धि हो रही है। यह विचारणीय है।
3. **फल विधि** : खाद्य फल, औषधीय फल और प्रसाधन के रूप में काम में लिये जाने वाले फलों की मर्यादा करना।
4. **अभ्यंगन विधि** : मालिश के लिए काम आने वाले तेलों की मात्रा और संख्या की मर्यादा करना।
5. **उद्धर्तन विधि** : उबटन, पीठी आदि की मर्यादा निश्चित करना।
6. **स्नान विधि** : स्नान के लिए जल की मात्रा की मर्यादा करना। कुएँ-बावड़ी, झील-सरोवर, नदी-निर्झर, स्वीमिंग-पुल आदि में स्नान नहीं करना अथवा मर्यादा करना। स्नानादि से जल-स्रोतों को प्रदूषित नहीं करना। जल-संकट के दौर में इस नियम का बहुत महत्व है। जल के सीमित उपयोग का अभ्यास सबको करना चाहिये।

7. **वस्त्र विधि** : पहनने के वस्त्रों के प्रकार और संख्या की मर्यादा करना। अनेक व्यक्ति रेशम का त्याग करते हैं, अनेक सिर्फ खादी के वस्त्र ही पहनते हैं तो कितने ही व्यक्ति थोड़े-से वस्त्रों में जीवन की लम्बी यात्रा तय कर लेते हैं। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी इस नियम के जीवन्त उदाहरण रहे हैं।
8. **विलेपन विधि** : शरीर पर लेप करने की वस्तुओं, क्रीम आदि की मर्यादा करना। हिंसक सौन्दर्य प्रसाधनों का त्याग इस नियम के अन्तर्गत किया जा सकता है।
9. **पुष्प विधि** : फूलों और फूल-मालाओं की मर्यादा करना। फूलों की रक्षा के साथ तितलियों, भौरों और अनेक प्रकार के सूक्ष्म जीव-जन्तुओं की रक्षा जुड़ी है। इस प्रकार इसमें पर्यावरण, पारिस्थितिकी और जैव-विविधता का संरक्षण जुड़ा है।
10. **आभूषण विधि** : आभूषणों के प्रकार और संख्या की मर्यादा करना।
11. **धूप विधि** : धूप, अगरबत्ती आदि की मर्यादा करना।
12. **पेय विधि** : पेय पदार्थों के प्रकार और मात्रा की मर्यादा करना।
13. **भोजन विधि** : भोज्य पदार्थों की मर्यादा करना।
14. **ओदन विधि** : चावलों के प्रकार एवं मात्रा की मर्यादा करना।
15. **सूप विधि** : विभिन्न दालों व चीजों से बनने वाले सूपों का संख्या व मात्रा की मर्यादा करना।
16. **विगय विधि** : दही, मक्खन, घी, तेल आदि की मर्यादा करना।
17. **शाक विधि** : खाने की हरी सब्जियों की मात्रा और संख्या की मर्यादा करना।
18. **माधुरक विधि** : गुड़, शक्कर, सूखे मेवे आदि की मर्यादा करना।
19. **जेमन विधि** : विभिन्न प्रकार के व्यंजनों की मर्यादा करना।
20. **पानीय विधि** : पीने के पानी के प्रकार और परिमाण की मर्यादा करना।
21. **मुखवास विधि** : पान, पान मसाला, सौंप, सुपारी, इलायची, लौंग आदि की मर्यादा करना। तम्बाकूयुक्त पदार्थों के त्याग को इसके अन्तर्गत लिया जा सकता है।

22. वाहन विधि : विभिन्न प्रकार के वाहनों की मर्यादा करना।
23. उपानह विधि : विभिन्न प्रकार के जूते, पगरखी, मौजें आदि की मर्यादा करना।
24. सचित्त विधि : विभिन्न प्रकार की सचित्त वस्तुओं की मर्यादा करना।
25. शयन विधि : शय्या, पलंग आदि की मर्यादा करना।
26. द्रव्य विधि : खाने-पीने की चीजों की मर्यादा करना और अन्य प्रकार के द्रव्यों की मर्यादा करना। सामूहिक भोजों में खाने-पीने की वस्तुओं की संख्या सीमित रखना भी इस नियम की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

उपासकदशांग में इक्कीस वस्तुओं के नाम प्राप्त होते हैं⁴⁸ इन बोलों में सभी प्रकार की खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने और उपयोग करने की वस्तुओं का समावेश हो जाता है। श्रावक को चाहिये कि वह यह तय करें कि क्या खाना, नहीं खाना, कौनसी चीज उपयोग करनी या नहीं करनी। मर्यादा का जीवन उसके स्वास्थ्य और बजट पर अनुकूल असर डालेगा।

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के पाँच अतिचार निम्न हैं⁴⁹ -

1. मर्यादा उपरान्त सचित्त वस्तुओं जल, वनस्पति, कन्द, मूल⁵⁰ आदि का सेवन करना।
2. मर्यादा उपरान्त सचित्त वस्तुओं से संश्लिष्ट आहार करना।
3. मर्यादा उपरान्त अपक्व भोजन अथवा कच्ची वनस्पति आदि का आहार करना।
4. मर्यादा उपरान्त दुष्पक्व/अधपके भोजन का आहार करना।
5. ऐसी वस्तुओं का सेवन करना जिनमें खाने योग्य भाग थोड़ा हो और फेंकने योग्य अधिक हो।

इन अतिचारों के माध्यम से श्रावक इस विवेक को पुष्ट करें कि उसे कब, क्या, कितना, कहाँ खाना है ? वह अपनी आचार-संहिता, स्वास्थ्य, मर्यादा आदि का ध्यान रखते हुए खान-पान को निर्धारित करें।

पन्द्रह कर्मादान

उपभोग-परिभोग परिमाण के अन्तर्गत भोजन सम्बन्धी मर्यादा और व्यवसाय सम्बन्धी मर्यादाओं की व्यवस्था की गई है। व्यक्ति की जीवन-चर्या

और जीविकोपार्जन में सह-सम्बन्ध होता है। इस दृष्टि से इस व्रत के अन्तर्गत व्रती श्रावक के लिए निषिद्ध व्यवसायों की सूची दी गई है। वह ऐसे व्यवसाय नहीं करें जिससे समाज, संस्कृति, पर्यावरण और अर्थतन्त्र पर विपरीत असर पड़े। ऐसे पन्द्रह धन्धों को पन्द्रह कर्मादान के रूप में जाना जाता है।¹ उपासकदशांग और आवश्यकसूत्र में 15 कर्मादानों के नामों की सूची मिलती है। जबकि गृहस्थाचार के अन्य ग्रन्थों में उनकी व्याख्याएँ भी मिलती हैं। पन्द्रह कर्मादान, जो श्रावक के लिए निषिद्ध हैं, निम्न हैं -

1. **अंगार कर्म (इंगालकम्मे)** : कोयले का धन्धा करने के लिए हरे-भरे वर्षों को काटना और जंगलों को नष्ट करना इस कर्मादान के अन्तर्गत आता है। प्रो. सागरमल जैन ने इसमें कुम्हार, लुहार, सुनार, हलवाई, भड़भूजा आदि को परिगणित करने से इन्कार किया है।² उपासकदशांग में सकडालपुत्र कुम्हार को 12 व्रतधारी श्रावक बताया गया है।
2. **वन कर्म (वणकम्मे)** : हरे-भरे जंगलों को नुकसान पहुँचाकर अपना व्यवसाय करना। लकड़ी और अन्य उन वन्य चीजों का व्यवसाय करना, जिससे जंगलों के प्राकृतिक स्वरूप को नुकसान पहुँचता है।
3. **शकट-कर्म (साडी कम्मे)** : शकट का अर्थ बैलगाड़ी, गाड़ी, वाहन आदि होता है। उनके निर्माण और बिक्री के धन्धे को शकट कर्म कहा है।³ आचार्य हेमचन्द्र मूल प्राकृत शब्द 'साडीकम्मे' का अर्थ वस्तुओं को सड़ाकर नई चीज बनाना, बेचना करते हैं। जैसे मदिग-व्यवसाय। प्रो. सागरमल जैन इस दूसरे अर्थ को उचित मानते हैं।⁴
4. **भाटक-कर्म (भाडीकम्मे)** : बैल, अश्व, ऊँट, खच्चर आदि पशु तथा इनसे चलने वाली गाड़ियों को भाड़े पर देने के धन्धे को भाटक-कर्म बताया गया है।⁵ भाड़े पर लेने वाले व्यक्ति इन मूक प्राणियों पर भार ढोने, हाँकने आदि में ज्यादाियाँ कर लेते हैं, इसीलिए इस कर्म को निषिद्ध बताया है। वर्तमान में अधिकांश वाहन पेट्रोलियम (पेट्रोल/डीजल) से चलते हैं। शकट व भाटक कर्म के निषेध में वाहनों के कम और विवेकसम्मत उपयोग की प्रेरणा है। पर्यावरण-संरक्षण की दृष्टि से इसकी आज बहुत उपयोगिता है।
5. **स्फोट-कर्म (फोडीकम्मे)** : ऐसे काम-धन्धे जिनमें विस्फोट करना पड़े, स्फोटक कर्म है। विस्फोट का धमाका प्रकृति को तीव्र रूप से प्रकम्पित कर

देता है। इसका पर्यावरण पर असर होता है। व्याख्या-ग्रन्थों में खान खोदने, शिला तोड़ने आदि को स्फोट-कर्म कहा है ¹⁶ असावधानी से करने पर ये कार्य मानव, जीव-जन्तुओं व प्रकृति के लिए भारी नुकसानप्रद सिद्ध होते हैं। सम्भव है, निर्धारित मानदण्डों का ध्यान रखे बगैर किये जाने पर ही इन्हें कर्मादान माना गया हो। वर्तमान में विभिन्न प्रकार की मनोरंजनात्मक स्फोटक-वस्तुएँ (पटाखे आदि), अन्य छोटे-बड़े विस्फोटकों/बमों से लेकर सर्व विनाशक अणु-बमों का निर्माण व व्यवसाय किया जाता है। वे सब इस कर्मादान के अन्तर्गत माने जायेंगे। आतिशबाजी से देश के करोड़ों रुपयों का धुआँ हो जाता है। आतंकियों द्वारा किये जाने वाले बम-विस्फोटों से अनगिन निर्दोष व्यक्ति अपनी जान गँवा देते हैं और करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट हो जाती है। अणु-बम के बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। 6 व 9 अगस्त, 1945 को हुई हिरोशिमा और नागासाकी की विनाश-लीला विश्व-इतिहास के सर्वाधिक काले दिनों में से एक है।

6. **दन्त-वाणिज्य (दंतवाणिज्य)** : नाम के अर्थ में इस कर्मादान के अन्तर्गत हाथी दाँत का व्यापार आता है। सुन्दर और बहुमूल्य दाँतों के लिए संसार के हाथियों पर इंसान ने बहुत अत्याचार किये हैं। उपलक्षण से इस कर्मादान के अन्तर्गत उन सभी प्रकार के पशु-उत्पादों को लिया जाता है, जिनके लिए पशु-पक्षियों का वध किया जाता है ¹⁷ इन उत्पादों में चर्म, हड्डी, नाखून, सींग, पंख, कस्तूरी आदि गिनाये जा सकते हैं। व्यावसायिक लाभों के लिए मानव ने मूक प्रणियों पर बेहिसाब जुल्म ढाये। भगवान महावीर के उपदेशों के प्रभाव से उनके अनुयायियों ने वन्य जीवों और अन्य जीवों की रक्षा के लिए हर युग में युगान्तरकारी कार्य किये। उससे संसार अधिक सुन्दर, बेहतर और रहने योग्य रह सका।
7. **लाख-वाणिज्य (लखवाणिज्य)** : श्री हेमचन्द्राचार्य इसके अन्तर्गत लाख, चपड़ी, मैनसिल, नील, धातकी के फूल, छाल आदि के व्यापार को परिगणित करते हैं ¹⁸ जिन वानस्पतिक उत्पादों के साथ प्रत्यक्ष रूप से तस जीवों की हिंसा जुड़ी हो, वे सारे लाख वाणिज्य मानने चाहिये। कुछ प्रकार के व्यापारों से वनस्पतियों की कुछ प्रजातियों पर अस्तित्व का संकट खड़ा हो जाता है। उनका निषेध भी यहाँ माना जा सकता है।

8. **रस-वाणिज्य (रसवाणिज्ये)** : इसके अन्तर्गत शराब आदि मादक रसों का व्यापार आता है। मद्य के अलावा मांस, चर्बी, मधु आदि का व्यवसाय भी रस-वाणिज्य के अन्तर्गत माना गया है।^{१९} आधे चिकित्सालय और कारागृह मदिरा की वजह से भरे पड़े हैं। व्यक्ति की शान्ति और समृद्धि मदिरा पी जाती है।
9. **विष-वाणिज्य (विसवाणिज्ये)** : विभिन्न प्रकार के विषों का व्यवसाय विष-वाणिज्य है। नकली दवाइयों के गोरख धन्धे को इसमें लिया जा सकता है। जिसमें आदमी दवा के नाम पर जहर बेचता है और जन-स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ करता है। सभी प्रकार की प्राणघातक वस्तुओं और हथियारों के व्यापार को भी विष वाणिज्य में लिया जाता है।^{२०} अहिंसा के पथ पर चलने वाला समाज और संसार का जाने-अनजाने बहुत भला करता है।
10. **केश-वाणिज्य (केसवाणिज्ये)** : शब्दार्थ की दृष्टि से केशों का व्यापार करना केश-वाणिज्य है। शृंगार-बाजार में मानव-केश एक व्यापारिक वस्तु है। निर्धन बालाएँ अपने केशों को कौड़ियों के मोल बेच देती थी। और केशों को ही नहीं, अपने सौन्दर्य और सम्मान को भी उन्हें बेचना पड़ता था। यह व्यवसाय मानवाधिकारों का हनन करता है। भगवान महावीर ने सदृहस्थ के लिए ऐसी वस्तुओं के ऋय-विक्रय का निषेध किया। आचार्यों ने दास-दासियों व केश-युक्त प्राणियों के ऋय-विक्रय को इसमें गिना है।^{२१} सम्भवतः केश और अन्य व्यापारिक लाभों की प्राप्ति के लिए मानव और प्राणियों का ऋय-विक्रय किया जाता रहा होगा। अन्य प्राणियों को तो आज भी वस्तु की तरह खुल्लम-खुल्ला खरीदा-बेचा, मारा-पीटा और नोंचा जाता है। रंग-रोगन और चित्तकारी में ऐसे ब्रशों का प्रयोग भी किया जाता है, जो सुअर, गिलहरी, नेवले आदि प्राणियों के बालों से निर्मित होते हैं। बाल प्राप्ति के लिए इन निरीह प्राणियों को असह्य यातना देते हुए मार दिया जाता है। ऐसे व्यवसाय अमानवीय होते हैं, इसलिए अन्ततः अनार्थिक होते हैं।
11. **यन्त्रपीड़न कर्म (जंतपीलणकम्ममे)** : व्याख्या-ग्रन्थों में घाणी, कोल्हू आदि से तिलहन से तेल निकालने तथा तेल निकालने के ऐसे यन्त्रों के धन्धे को इस कर्मादान के अन्तर्गत लिया है।^{२२} शब्दार्थ में जाये तो प्राणियों को यन्त्र से पीड़ा देना और जन्तुओं को पीलना जैसे अभिप्राय प्रकट होते हैं। ऐसे धन्धे विभिन्न रूपों में समाज में देखने को मिल सकते हैं। कुछ चिकित्सा पद्धतियाँ

व औषधियाँ ऐसी हैं जो छोटे-छोटे और छोटे-बड़े जीव-जन्तुओं की प्रत्यक्ष हिंसा पर आधारित हैं। ऐसे व्यापारों से परिस्थितिकी असन्तुलन पैदा होता है। सदृहस्थ को चाहिये कि वह सदैव निरापद व अहिंसक विकल्प चुनें।

12. **निल्लंछण कर्म (निल्लंछणकम्मे)** : आचार्य अभयदेव ने बैल आदि पशुओं को नपुंसक बनाने के व्यापार को इस कर्मादान के अन्तर्गत माना है।⁶³ जबकि आचार्य हेमचन्द्र पशुओं की नाक बाँधने, डाम लगाने, कान छेदने, पीठ गालने आदि को भी इसमें मानते हैं।⁶⁴ वर्तमान में स्त्री-पुरुष नसबन्दी का कार्य इसी कर्मादान का रूप है, जिससे मानव असंयमित जीवन जीने लगता है।
13. **दावाग्रि दापन (दवग्गिदावणया)** : जंगल किसी भी राज्य की बहुत बड़ी सम्पत्ति होते हैं। विभिन्न प्रकार के व्यापारिक उद्देश्यों के लिए जंगलों में आग लगा दी जाती थीं। इससे जंगल के साथ बहुत सारी चीज़ें नष्ट हो जाती थीं। वनस्पतियाँ, जीव-जन्तु और उनके नैसर्गिक आवास तथा वनवासियों व निम्न-मध्यवर्गीय व्यक्तियों के रोजगार वनों की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाते हैं।
14. **सरदहतलाय शोषण (सरदहतलाय सोसणया)** : चन्द लोगों के निहित स्वार्थों के लिए तालाब, झील आदि को सुखना इस कर्मादान के अन्तर्गत है। जैसे वनों को नष्ट करने से बहुत सारी चीज़ें नष्ट हो जाती हैं, वैसे ही जलशयों को नष्ट करने से भी जलीय प्राणी, पर्यावरण, रोजगार आदि बहुत सारी चीज़ें नष्ट हो जाती हैं।
15. **असतीजन पोषण (असईजणपोसणया)** : देह-व्यापार के लिए स्त्री-पुरुषों की व्यवस्था करना, उनके यौन-कर्म को खरीदना, बेचना या बिकवाना आदि निम्न स्तर के कार्य इस कर्मादान के अन्तर्गत आते हैं। वर्तमान में पर्यटन और होटल-व्यवसाय की आड़ में देह-व्यापार बढ़ गया है। यह नितान्त अनुत्पादक कर्म है। हेमचन्द्राचार्य इस कर्मादान में अप्रशस्त प्रयोजनों से कुत्ते, बिल्ली आदि रखने तथा स्वतन्त्र रहने वाले पक्षियों को कैद करने को भी सम्मिलित करते हैं।⁶⁵

ये पन्द्रह कर्मादान सदृहस्थ के लिए वर्जित हैं। ये वर्जनाएँ सामाज, देश, अर्थ-तन्त्र और पर्यावरण के लिए स्थायी रूप से हितकारी हैं। वर्तमान में जल,

जंगल और जमीन के लिए आन्दोलन हो रहे हैं। कर्मादानों के निषेध में समष्टि का हित जुड़ा है। बौद्ध परम्परा में भी सभी प्रकार के हिंसक व्यवसायों को निषिद्ध माना गया है। अंगुत्तर निकाय में भगवान बुद्ध ने पाँच प्रकार के काम-धन्धों का निषेध किया है -

1. सत्त्वणिज्जा - शस्त्रों का व्यापार।
2. सत्तवणिज्जा - प्राणियों का व्यापार।
3. मंसवणिज्जा - मांस का व्यापार।
4. मज्जवणिज्जा - मद्य का व्यापार।
5. विसवणिज्जा - विष का व्यापार⁶⁶

स्पष्ट है कि श्रमण परम्परा की दोनों धाराएँ हिंसा से हर मोर्चे पर लड़ रही थी। सिर्फ व्यवसाय में हिंसा की खिलाफत से पूरे समाज और जन-जीवन में हिंसा के विरुद्ध प्रभावशाली माहौल बनाया जा सकता है। श्रेष्ठ पर्यावरण, सामाजिक समता और आर्थिक समृद्धि के लिए यह प्रयोग ढाई हजार वर्ष पूर्व सफल रहा था। आज इसे पुनः दोहराने की आवश्यकता है।

8. अनर्थदण्ड विरमण व्रत

यह धर्मशास्त्र का आठवाँ व्रत है; इसे अर्थशास्त्र का प्रथम व्रत कह सकते हैं। जीवन व्यवहार और व्यापार में जितनी भी उद्देश्यहीन, अपव्ययकारी और अनुत्पादक गतिविधियाँ और प्रवृत्तियाँ हैं, वे सब अनर्थदण्ड के अन्तर्गत आती हैं। सावधानीपूर्वक ऐसी वृत्तियों से विरत होना अनर्थदण्ड-विरमण व्रत है। आधुनिक भौतिकवादी जीवन शैली में अपव्यय अत्यधिक बढ़ गया है। उसे न जनता रोक पा रही है, न सरकार। पच्चीस-छब्बीस शताब्दियों पूर्व तीर्थंकर महावीर जन-जीवन में ऐसी चेतना जागृत कर रहे थे कि समय, श्रम, साधनों और संसाधनों का अपव्यय बिल्कुल नहीं हो। केवल संसाधनों का ही नहीं, व्यक्ति अपनी भाव-शक्ति और वैचारिक-सम्पदा का भी अनावश्यक उपयोग नहीं करें। ऐसी निरर्थक पापकारी प्रवृत्तियों की पाँच कोटियाँ⁶⁷ बताई गई हैं-

1. **अपध्यान** : निष्प्रयोजन ही कुछ-का-कुछ सोचते रहना, अशुभ चिन्तन करना अपध्यान है। ग्रन्थों में वर्णित आर्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान को अपध्यान कहा है। जिसमें चिन्ता, क्रूरता, हिंसा और प्रतिशोध के विचार आते हैं। ऐसे

विचार व्यक्ति और समुदाय की सुख-शान्ति छीन लेते हैं। जिन प्रशस्त विचारों और भावों की अकल्पनीय शक्ति से व्यक्ति कहाँ-से-कहाँ पहुँच सकता है; अपध्यान उस अपार शक्ति को क्षीण कर देता है और व्यक्ति जहाँ-का-तहाँ रह जाता है या जीवन में कोई विशेष प्रगति नहीं कर पाता है। सफलता, उन्नति और लक्ष्य-प्राप्ति के लिए व्यर्थ के विचारों से बचना अत्यावश्यक है।

2. **पापकर्मोपदेश** : किसी को दुर्भावनापूर्वक गलत सलाह देना पापकर्मोपदेश है। कितने ही लोगों को दूसरों को भिड़ाने में मजा आता है। वे अपने कुटिल बयानों और झूठी सलाहों से उपद्रव मचा देते हैं। राजनीति में कई साम्प्रदायिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ें कुछ लोगों द्वारा भिड़ाने के कारण होती हैं। व्यवसाय जगत में किसी को निन्द्य या अवैध व्यापार करने या गलत तरीकों से धनार्जन की सलाह देना भी अनर्थदण्ड है। वकील और न्याय प्रणाली की विश्वसनीयता सही सलाह पर निर्भर करती है।
3. **प्रमादाचरण** : जीवन व्यवहार और कार्यों को सजगतापूर्वक नहीं करना प्रमाद-आचरण है। मद्य या मद, विषय-विकार, क्रोधादि कषाय, निद्रा और विकथा - ये प्रमाद के भेद हैं। इनसे सन्तुलित और सुखी जीवन में गम्भीर व्यवधान पैदा होता है। ये चीजें जीवन के सौभाग्य को क्षत-विक्षत कर देती हैं। न सिर्फ आध्यात्मिक हानि, अपितु भौतिक हानियाँ और अभाव प्रमादाचरण से उत्पन्न होते हैं।
4. **हिंस्रप्रदान** : जो हिंसाकारी उपकारण, हथियार, शस्त्र-अस्त्र आदि हैं, उनका वितरण व आपूर्ति करना हिंस्रप्रदान है। संसार युद्ध और आतंकवाद की विभीषिका झेल रहा है, उसमें हिंस्रप्रदान की मुख्य भूमिका है। विश्व-राजनीति में हथियारों की होड़ मची हुई है। राष्ट्रों के बीच मुक्त और चोरी छिपे हथियारों का आदान-प्रदान, आतंककारी संगठनों को महाविनाशकारी हथियारों की आपूर्ति जैसी गतिविधियों से विश्व की शान्ति और समृद्धि का कोई सम्बन्ध नहीं है। व्यक्ति और विश्व के समग्र व स्थायी विकास के लिए हथियारों की इस होड़ाहोड़ी से सबको बचना पड़ेगा।
5. **दुःश्रुति** : जैसे फालतू बातें करना, निन्दा-चुगली करना अनर्थदण्ड है, वैसे ही फालतू बातें और निन्दा सुनना भी अनर्थदण्ड है। गप्पे हाँकना-सुनना, टीवी

पर बेमतलब के कार्यक्रम देखना-सुनना, भड़काऊ साहित्य पढ़ना आदि इसमें सम्मिलित हैं। अनर्थदण्ड के ऐसे स्थलों और निमित्तों से व्रतधारी को, विवेकवान को सदैव बचना चाहिये।

अनर्थदण्ड विरमण व्रत के समुचित परिपालन के लिए पाँच अतिचारों से बचने का निर्देश दिया गया है⁶⁸ -

1. **कन्दर्प** : अशिष्टता से हँसी-ठट्टा करना, वासना को उद्दीप्त करने वाली चर्चाएँ करना कन्दर्प है। इस तरह की आदतों से व्यक्ति की शालीनता और कुलीनता घट जाती है, जिसका विपरीत असर उसके जीवन के सम्बन्धों और व्यापारों पर होता है।
2. **कौत्कुच्य** : शरीर के अंगोपांगों से अभद्र चेष्टाएँ करना इस अतिचार के अन्तर्गत आता है। व्यक्ति अपने हाव-भाव में भी भद्र और ईमानदार परिलक्षित होना चाहिये।
3. **मौखर्य** : अधिक बोलना, बोल-बोल करना मौखर्य है। व्रती को वाणी की कीमत समझते हुए उसका कभी दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। जीवन की सफलता और सम्पन्नता के पीछे वचन-सम्पदा का बहुत योगदान होता है।
4. **संयुक्ताधिकरण** : हिंसक साधनों और हथियारों का संग्रह करना संयुक्ताधिकरण है। ऐसे शस्त्र-अस्त्रों का संग्रह करने वाला दुस्साहसी व भय पैदा करने वाला हो जाता है। किसी एक व्यक्ति या समुदाय के ऐसा करने से दूसरे भी संयुक्ताधिकरण के लिए दुष्रेरित होते हैं। ऐसी स्थितियों से बचने के लिए विश्व में निरस्त्रीकरण और परमाणु अप्रसार सन्धियों के प्रयास हो रहे हैं।
5. **उपभोग-परिभोग बढ़ाना** : जिन वस्तुओं की आवश्यकता नहीं हैं, उन्हें खरीदना, लाना और घर में रखने से इस अतिचार का दोष लगता है। खाने-पीने और उपयोग करने की वस्तुओं को अनावश्यक रूप से संग्रह करने से जहाँ व्यक्ति का बजट बिगड़ता है, वहीं आर्थिक जगत में मांग और आपूर्ति का सन्तुलन गड़बड़ा जाता है। व्यापारिक जमाखोरी से महंगाई, वस्तुओं का कृत्रिम अभाव और मुनाफाखोरी बढ़ती है। 'घरेलू जमाखोरी' से वस्तुओं का दुरुपयोग होता है। ऐसा करने से सामान्य तबके के व्यक्तियों के लिए कुछ चीजें अनावश्यक/कृत्रिम रूप से महंगी हो जाती हैं। समग्र रूप से राष्ट्रीय उत्पादन, राष्ट्रीय आय और सम-वितरण पर जनता की ऐसी-अपव्यवकारी वृत्तियों का विपरीत प्रभाव होता है।

संसार में अपव्यय और निष्प्रयोजनकारी गतिविधियों में अत्यधिक इज़ाफ़ा हुआ है। यह अपव्यय दो स्तरों पर अधिक है - सरकारी स्तर पर और धनाढ्य लोगों में। राज्य द्वारा अर्थ-व्यवस्था को पटरी पर लाने के लिए सरकारी मशीनरी पर होने वाले धन के दुरुपयोग को रोकने की कवायद की जाती है। पर स्थिति देखते हुए ऐसे प्रयास 'ऊँट के मुँह में जीरा' नजर आते हैं। जो जनता के सेवक हैं तथा राजकीय कर्मचारी हैं, उनमें यह गहरा बोध या दृढ़ संकल्प होना चाहिये कि जनता की गाढ़ी कमाई का, राजकीय सम्पत्ति का वे कभी भी, किसी भी रूप में दुरुपयोग एवं अपव्यय नहीं करेंगे। उनका यह आचरण उनके व्यक्तित्व को ऊपर उठाने के साथ-साथ राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था और लोगों के जीवन स्तर को बेहतर बनाने में भी मददगार साबित होगा।

धनाढ्य व्यक्ति इस मानसिकता से ऊपर उठे कि उनके कमाये धन को वे जिस रूप में चाहे खर्च कर सकते हैं। कितने ही धनाढ्य अपार धन के बावजूद संयमित जीवन जीते हैं। सत्कार्यों में अपने धन को नियोजित करते हैं। जन सामान्य को भी चाहिये कि वह पानी, बिजली, पेट्रोल, डीजल, गैस आदि का सीमित उपयोग करें। आतिशबाजी तो बहुत बड़ा अनर्थदण्ड है। वह निष्प्रयोजन होती है, अनुत्पादक होती है और पर्यावरण को नुकसान पहुँचाती है।

एक किसान कई बीघा भूमि पर सिंचाई के लिए बहुत सारे पानी का उपयोग करता है, जबकि एक व्यक्ति अपने नहाने धोने और कुलर में डालने के लिए जरूरत से ज्यादा, किन्तु सिंचाई से काफी कम जल का उपयोग करता है। व्रत की दृष्टि से किसान निर्दोष और आवश्यकता से अधिक उपयोग करने वाला दोषी है। पाँच लाख की आबादी वाले शहर का प्रत्येक बाशिन्दा यदि एक दिन के लिए केवल एक लीटर पानी कम उपयोग का संकल्प करें तो सिर्फ एक दिन में पाँच लाख लीटर पानी की बचत हो सकती है। अर्थ-व्यवस्था, समाज, पर्यावरण और पारिस्थितिकी पर ऐसे व्रतों और संकल्पों का जबर्दस्त सुप्रभाव होता है।

अब जिन चार व्रतों का वर्णन किया जा रहा है, वे शिक्षाव्रत के नाम से जाने जाते हैं। पूर्व में जिन अणुव्रतों और गुणव्रतों की चर्चा की गई, वे स्थायी रूप से ग्रहण किये जाते हैं। जबकि शिक्षाव्रत, जैसा कि नाम से विदित है, प्रशिक्षण और अभ्यास के व्रत हैं। इन्हें अल्प समय के लिए ग्रहण किया जाता है।

9. सामायिक-व्रत

श्रावक अपने नौवें व्रत के अन्तर्गत दो करण तीन योग से निर्धारित समय के लिए समस्त प्रकार के पापकारी कार्यों व गतिविधियों से निवृत्त होकर समता की साधना करता है।⁶⁹ जैन परम्परा में सामायिक का बहुत मूल्य है और प्रचार है।

जैन ग्रन्थों में पूणिया नामक निर्धन गृहस्थ की सामायिक साधना की स्वयं तीर्थंकर महावीर प्रशंसा करते हैं। मगध सम्राट श्रेणिक जब पूणिया की सामायिक खरीदना चाहता है तो उसके सम्पूर्ण राज्य की सम्पत्ति भी उस सामायिक को खरीदने के लिए अपर्याप्त मानी गई थी। यह एक उदाहरण है सामायिक के अपरम्पार महत्व का। वस्तुतः सामायिक एक आध्यात्मिक साधना है। वह ऋय-विक्रय की वस्तु नहीं है, जिसे खरीदा या बेचा जा सके। संसार की भौतिक सम्पदाओं की तुलना आध्यात्मिक मूल्यों से नहीं हो सकती।

सामायिक करते समय साधक बत्तीस दोषों को टालता है।⁷⁰ उनमें दस मन के, दस वचन के और बारह काया के हैं। मन के दस दोष हैं - अविवेक, कीर्ति की लालसा, लभेच्छा, अहंकार, भय, निदान (फलाकांक्षा), फल प्राप्ति में सन्देह, रोष, अविनय तथा अबहुमान। दस वचन के दोष हैं - कुवचन, अविचारित वचन, स्वच्छन्द वचन, संक्षेप या अयथार्थ वचन, कलहकारी वचन, विकथा, हास्य, अशुद्ध उच्चारण, निरपेक्ष वचन और अस्पष्ट वचन। बारह काया के दोष हैं - कुआसन, अस्थिर आसन, दृष्टि की चंचलता, सावद्य क्रिया, आलम्बन, अंगों का आकुंचन-प्रसारण, आलस्य, अंगों को मोड़ना, मैल उतारना, शोक-मुद्रा में बैठना, निद्रा और सामायिक में दूसरों से सेवा करवाना।

इनके अलावा जिन पाँच अतिचारों से बचते हुए सामायिक की आराधना करनी चाहिये, वे निम्न हैं⁷¹ -

1. मनोदुष्प्रणिधान : कमजोर या आधे-अधूरे मन से सामायिक करना तथा सामायिक में मन की कमजोरियों का पोषण करना। मन के दोषों के प्रति असजग रहना।
2. वचनदुष्प्रणिधान : वचन का सम्यक प्रयोग नहीं करना, अशुद्ध पाठ उच्चारण करना तथा वचन के दोषों को टालने के प्रति असावधान रहना।
3. कायदुष्प्रणिधान : बारह काया के दोषों को नहीं टालना।

4. **काल-विस्मरण** : सामायिक के प्रति प्रतिबद्धता और समयबद्धता नहीं रखना। साम्नायिक की समयावधि का ध्यान नहीं रखना।
5. **अनवस्थितकरण** : सामायिक को विधि और नियम पूर्वक नहीं करना, अव्यवस्थित ढंग से करना।

इन पाँच अतिचारों को टालने के साथ सामायिक करने वाले को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धि का भी ध्यान रखना चाहिये।⁷² आचार्यों ने एक सामायिक की काल-मर्यादा एक मुहूर्त यानि 48 मिनट निर्धारित की है।⁷³ श्रावक के लिए सामायिक प्रथम आवश्यक है। सामायिक के पाठों में छोटे-छोटे दोषों के लिए आलोचना की जाती है। वह आलोचना गमनागमन और ध्यान-साधना से सम्बन्धित है। समग्र दृष्टि से देखा जाय तो सामायिक एक उत्कृष्ट साधना है, जिसके माध्यम से व्यक्ति समत्व के अधिकाधिक निकट होता जाता है।

सामायिक के स्वरूप पर एक विहंगम दर्शयिता करने से यह निष्कर्ष आसानी से निकाला जा सकता है कि सामायिक करने वाला व्यक्ति अपने जीवन में अनुशासित, सहिष्णु, परिश्रमी, स्वावलम्बी और समयज्ञ होता है। जीवन को कुशलता पूर्वक चलाने, श्रेष्ठ प्रबन्धन और धनोपार्जन करने के लिए जिन योग्यताओं की आवश्यकता होती हैं, सामायिक से वे सहज निष्पन्न होती हैं। तीर्थंकर महावीर के अनुयायियों की सम्पन्नता के पीछे सामायिक साधना का बहुत बड़ा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष योगदान है।

10. देशावकाशिक व्रत

पाँचवें, छठवें और सातवें व्रतों - परिग्रह परिमाण, दिशा परिमाण और उपभोग परिभोग परिमाण का इस शिक्षाव्रत में प्रशिक्षण और अभ्यास किया जाता है। निर्धारित समय के लिए श्रावक यह प्रतिज्ञा करता है कि वह अमुक सीमा के बाहर न वह स्वयं जायेगा, न दूसरों को भेजेगा तथा मर्यादा के बाहर की वस्तु के उपभोग-परिभोग का भी विवेकपूर्वक त्याग रखेगा।⁷⁴ उपासकदशांग सूत्र टीका में इस व्रत की काल मर्यादा दिन-रात या इससे कम-ज्यादा समय की बताई गई है⁷⁵ जबकि श्रावकाचार के अन्य ग्रन्थों में क्षेत्र मर्यादा के अन्तर्गत घर, मोहल्ला, ग्राम, खेत, वन, नदी आदि एवं काल मर्यादा के अन्तर्गत सप्ताह, पक्ष, माह, चातुर्मास, ऋतु, वर्ष आदि को परिगणित किया गया है।⁷⁶ श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा में दया-व्रत के नाम से जो साधना की जाती है, वह इसी व्रत का रूप है। इसके

अलावा देशावकाशिक व्रत के तहत श्रावक श्राविकाओं का कर्तव्य बनता है कि वे निम्न चौदह नियम नित्य विचारें और यथाशक्ति ग्रहण करें -

1. **सचिन्त** : श्रावक प्रतिदिन कच्चा जल, अन्न, फल, फूल, बीज आदि जिन वस्तुओं का उपयोग करता है, उनकी मर्यादा निश्चित करें। यह मर्यादा संख्या, माप, तौल आदि के रूप में हो सकती है। कच्चे फल, फूल, पत्तियाँ नहीं तोड़ना भी समाविष्ट है।
2. **द्रव्य** : रोटी, दाल, भात, सब्जी, आचार, चटनी आदि खाने पीने सम्बन्धी वस्तुओं की संख्या निश्चित करना। जैसे भोजन में इतने द्रव्य से ज्यादा सेवन नहीं करूँगा। सामूहिक भोजनों में यह मर्यादा इस रूप में तय होनी चाहिये कि मेजबान इतने द्रव्य (आइटम) से अधिक नहीं बनाएगा। इससे अपव्यय रुकता है और आमंत्रित व्यक्ति बेमेल चीजें खाने से बच जाते हैं।
3. **विगय** : विगय प्राकृत शब्द है, जिसका अर्थ होता है - विकृति। जिनके अमर्यादित सेवन से विकार उत्पन्न हो ऐसे मक्खन, घी, तेल, दूध, दही आदि की मर्यादा करना। यह स्वास्थ्य रक्षण का सूत्र भी है।
4. **पण्णी** : पैरों में पहनी जाने वाली वस्तुओं (जूते, चप्पल, मोज़े आदि) की मर्यादा करना। जीवित पशु से प्राप्त चमड़े के जूतों का त्याग करना।
5. **ताम्बूल** : मुखवास, पान, सुपारी आदि की मर्यादा करना। तम्बाखूयुक्त नशीले मुखवास-द्रव्यों का त्याग करना।
6. **वस्त्र** : प्रतिदिन पहने व ओढ़े जाने वाले वस्त्रों की मर्यादा करना। वस्त्रों को भड़काऊ तरीके से नहीं पहनना। शालीन परिधान धारण करना।
7. **कुसुम** : फूल, इत्र, सुगंधित द्रव्यों, श्रृंगार-सामग्री आदि की मर्यादा करना।
8. **वाहन** : प्रतिदिन उपयोग में लिये जाने वाले वाहनों के प्रयोग एवं उनकी संख्या निर्धारित करना।
9. **शयन** : शयन, शयन-स्थान, पलंग, खाट, बिस्तर आदि की मर्यादा करना।
10. **विलेपन** : तेल, क्रीम, उबटन आदि विलेपनीय वस्तुओं की मर्यादा करना।
11. **ब्रह्मचर्य** : मैथुन-सेवन की मर्यादा या त्याग करना। कामोत्तेजक साहित्य, टीवी कार्यक्रम या प्रसंगों से बचना।

12. दिशा : दिशाओं में गमनागमन की मर्यादा करना।

13. स्नान : स्नान व स्नान-जल की मर्यादा करना।

14. भोजन : मिठाई, पकवान आदि विशेष भोजन का त्याग या मर्यादा करना। खाने-पीने की बाजार की वस्तुओं, होटल के भोजन आदि का त्याग या मर्यादा करना।

ये नियम व्यक्ति को संकल्पवान और संयमित बनाते हैं। गृहस्थजन ऐसे नियमों के माध्यम से अपने बजट को भी सन्तुलित कर लेते हैं और सम्पन्नता की दिशा में आगे बढ़ते हैं।

इस व्रत के पाँच अतिचार निम्न हैं -

1. आनयन प्रयोग : मर्यादित क्षेत्र के बाहर की वस्तु लाना या मंगवाना।
2. प्रेष्य प्रयोग : मर्यादित क्षेत्र के बाहर वस्तु भेजना।
3. शब्दानुपात : मर्यादित क्षेत्र के बाहर की वस्तु को लाने या ले जाने के लिए शब्द-संकेतों का संहारा लेना। दूरभाष (टेलीफोन, मोबाइल आदि) से चतुराई पूर्वक ऐसे संकेत करना आसान हो गया है। जिनके माध्यम से पूरे संसार में कहीं भी सन्देश पहुँचाया जा सकता है। व्रती इन साधनों का अमर्यादित और कुटिल प्रयोग कभी नहीं करेगा।
4. रूपानुपात : हाव-भाव तथा शारीरिक संकेतों से व्रत मर्यादा तोड़ना रूपानुपात है।
5. पुद्गल-प्रक्षेप : मर्यादा के बाहर के व्यक्ति को उपरोक्त प्रकार के इशारों के अलावा अन्य इशारों से अपना मन्तव्य बताना।

इस व्रत का आर्थिक पक्ष यह है कि जो व्यक्ति स्वदेशी का प्रचार करते हैं, वे शुरु में कुछ समय के लिए ही लोगों को स्वदेशी अपनाने का संकल्प करवायें। इससे लोग सहज रूप से ऐसे नियम स्वीकार कर सकेंगे और बड़ी प्रतिज्ञा के लिए तैयार होने की पात्रता अर्जित कर लेंगे। विदेश-यात्रा तथा आयात-निर्यात की नियमावली व्यक्तियों और वस्तुओं की मुक्त आवाही-जावाही को तरह-तरह से नियमित और नियन्त्रित करती है। गाँव में रहने वाले यह ध्यान रखें कि वे वस्तुएँ जो गाँव में उत्पादित या उपलब्ध होती हैं, उन्हें गाँव से ही खरीदेंगे।

इससे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था सुदृढ़ होगी, शहरीकरण पर अंकुश लगाने में मदद मिलेगी। देश के समग्र विकास में ऐसी छोटी प्रतीत होने वाली बातों का बड़ा योगदान होता है।

11. पौषधोपवास व्रत

सांसारिक और व्यावसायिक कार्यों से दिवस भर की विश्रान्ति के लिए पौषध व्रत की आराधना उपवास⁷⁷ के साथ की जाती है। यह जैन आध्यात्मिक साधना का विशिष्ट प्रकार है। इस व्रत की अवधि में साधक निम्न चीजों का त्याग करता है -

- 1- चारों प्रकार के आहार का त्याग। चारों प्रकार के आहार में सभी प्रकार की खाने-पीने की चीजें आ जाती हैं। तीन प्रकार के आहार में पानी को छोड़कर सभी खाने-पीने की चीजें आती हैं।
2. काम-भोग का त्याग।
3. स्वर्ण-रजत, मणि-मुक्ता, आभूषण और बहुमूल्य वस्तुओं का त्याग। इस त्याग से जैन गृहस्थ की सम्पन्नता का पता चलता है।
4. श्रृंगार-वस्तुओं - माला, गंध आदि का त्याग।
5. हिंसक उपकरणों तथा दोषपूर्ण चीजों का त्याग।

जो व्यक्ति एक दिन के लिए भी इन चीजों का त्याग करता है, वह त्याग की दिशा में आगे बढ़ता है। ऐसी आराधनाओं से समाज में निर्लोभता, त्याग, शुचिता आदि प्रशस्तताओं को बढ़ावा मिलता है। पौषधोपवास व्रत के निम्न पाँच अतिचार हैं -

1. व्रत के दौरान शय्या-संस्तरक आदि बिना देखे-भाले उपयोग करना।
2. शय्या-संस्तरक आदि का विधिपूर्वक प्रमार्जन नहीं करना या अच्छी तरह से नहीं करना।
3. बिना देखी-भाली या अनुपयुक्त भूमि पर लघु-शंका व दीर्घ-शंका निवारण करना।
4. अप्रमार्जित या दुष्प्रमार्जित भूमि पर लघु-शंका व दीर्घ-शंका निवारण करना।
5. पौषध व्रत का सम्यक् प्रकार से पालन नहीं करना।

12. अतिथि संविभाग व्रत

जिसके आने की कोई तिथि नहीं हो अथवा जो अल्प-तिथि यानि थोड़े समय के लिए आता है, वह अतिथि कहलता है। गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह अपने लिए बनाई गई तथा अपने अधिकार की वस्तुओं का अतिथि के लिए संविभाग करें। ग्रन्थों में अनगार (जिनका कोई घर नहीं हो तथा एक ही जगह पर स्थायी आगार यानि ठहराव नहीं हो) को उत्कृष्ट अतिथि बताया गया है।⁷⁹ यह उत्कृष्टता इसलिए है कि अनगार समाज और संसार में प्रेम, शान्ति और अहिंसा के दूत होते हैं। वे चलते-फिरते तीर्थ होते हैं। उनके सहयोग का अर्थ है अहिंसा और संयम का पोषण। श्रावकप्रज्ञप्ति में श्रावक और श्राविका को भी अतिथि का दर्जा दिया गया है। इन चारों के अलावा आधुनिक विद्वानों ने सभी प्रकार के अतिथियों दीन-दुःखी, वृद्ध, रोगी आदि के लिए भी संविभाग का समर्थन किया है।⁸⁰ इन अतिथियों का श्रावक भावपूर्वक सत्कार करें। उन्हें आहार, औषध, आवास और अन्य आवश्यक निर्दोष वस्तुएँ प्रदान करें। अतिथि संविभाग में श्रावक को दान-विधि, द्रव्य, दाता और पात्र का विवेक रखना चाहिये।⁸¹ इस व्रत के अतिचार श्रमण को लक्ष्य में रखकर बताये गये हैं। वे निम्न हैं⁸² -

1. **सचित्तनिक्षेपण** : श्रमण-श्रमणियों को देने योग्य आहार में सचित्त वस्तु मिला देना, जिससे आहार दान योग्य नहीं रहे।
2. **सचित्तपिधान** : श्रमण-श्रमणियों को देने योग्य आहार सचित्त से ढँक देना, जिससे आहार बहराया नहीं जा सके।
3. **कालत्रिक्रम** : भिक्षा के समय व्यतीत होने के बाद भोजन तैयार करना। जिन घरों में सायंकालीन भोजन सूरज ढलने के बाद तैयार होता है, वहाँ से सायंकालीन आहार साधु-साध्वी नहीं ले सकते हैं।
4. **परव्यपदेश** : देने की भावना नहीं होने पर अपनी वस्तु पराई बताना परव्यपदेश है।
5. **मात्सर्य** : अनादर, अहंकार, ईर्ष्या अथवा कृपणतापूर्वक दान देने से मात्सर्य दोष लगता है।

संविभाग का अर्थ है - सम + विभाग। सदगृहस्थ को अतिथि और योग्य पात्र के लिए अपने आहार, धन, साधन और संसाधन आदि का उचित भाग करना चाहिये। गृहस्थ के यथासंविभाग-व्रत का अन्य व्रतों की अपेक्षा विशेष महत्व

देखते हुए इसे सबसे बड़ा व्रत तथा व्रत-शिरोमणि कहा है।³ भगवान महावीर कहते हैं - 'असंविभागो न हु तस्स मोक्खो' जो अपने धन व साधनों का संविभाग नहीं करता है, वह मुक्त नहीं हो सकता।⁴

बारह व्रतों की प्रेरणाओं को सार रूप में निम्न प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं -

1. अहिंसा अणुव्रत से निर्दोष प्राणियों को बचाया जाता है।
2. सत्याणुव्रत से समभाव और निष्पक्षता की प्राप्ति होती है।
3. अस्तेय से उपार्जित वस्तुओं के उपयोग का नियम बनता है।
4. ब्रह्मचर्य से सबके प्रति आत्मवत् की भावना जागृत होती है।
5. अपरिग्रह से संचित वस्तुओं का संयमन होता है।
6. दिशा-परिमाण दिन-रात की दौड़-धूप से बचाता है और गमनागमन को मर्यादित करता है।
7. उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत सादगी और सरलता का पोषण करता है।
8. अनर्थदण्ड विरमण-व्रत व्यक्ति को वस्तुओं के उपयोग का विवेक प्रदान करता है और उसे उपयोगिता के मापदण्ड प्रदान करता है।
9. सामायिक व्रत अनुकूल-प्रतिकूल वातावरण में समभाव स्थापित करता है।
10. देश मर्यादा में सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणियों का संरक्षण किया जाता है।
11. पौषध के नियम से आत्म-शक्ति में अभिवृद्धि होती है।
12. अतिथि संविभाग विश्व-बन्धुत्व का पाठ पढ़ाता है।⁵

इस प्रकार गृहस्थाचार (अणुव्रतों) के माध्यम से आगम-ग्रन्थों में उत्तम नागरिक संहिता बताई गई है, जो व्यक्ति व समाज तथा राष्ट्र व विश्व को सुखी व समृद्ध बनाती है। व्यावसायिक नीतिशास्त्र के लिए अणुव्रत प्रेरक दस्तावेज है।

सन्दर्भ

1. उपासकदशांग सूत्र - प्रथम अध्ययन।
2. सूत्रकृतांग 1/2/26
3. उवासगदसाओ 1/13, दशवैकालिक सूत्र 6/10
4. उपासकदशांग सूत्र - प्रथम अध्ययन
5. स्थानांग सूत्र - मधुकर मुनि 3/4/175
6. योगशास्त्र - आ. हेमचन्द्र 2/19
7. भगवती सूत्र, शतक 7, उ.-1
8. जैन, सागरमल (डॉ.) जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग 2, पृ.-276
9. उवासगदसाओ 1/45
10. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 12/135
11. अभयदेव, आचार्य, उपासकदशांग टीका, पृ.-27
12. वही, पृ.-27
13. लाटी संहिता 4/263
14. जैन, सागरमल (डॉ.) जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग 2, पृ.-277
15. श्रावकप्रज्ञप्ति टीका 258
16. चारित्रसार-श्रावकाचार संग्रह 1/239, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 12/138
17. उवासगदसाओ 1/14
18. हेमचन्द्र, आचार्य, योगशास्त्र - 254-55
19. लाटी संहिता 5/22
20. उवासगदसाओ 1/46

21. उपासकदशांग टीका पृ. 29-30
22. उवासगदसाओ 1/15
23. आवश्यक सूत्र, तीसरा अणुव्रत
24. उवासगदसाओ 1/15
25. कोठारी, सुभाष (डॉ.) उपासकदशांग : एक परिशीलन, पृ.-101
26. उवासगदसाओ 1/47, तत्त्वार्थसूत्र, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, सागारधर्मामत आदि में भी शब्दों के फेर के साथ इन अतिचारों का उल्लेख है।
27. उपासकदशांग टीका पृ. 31
28. वही प.-32, श्रावकप्रज्ञप्ति टीका 159, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 14/34
29. उवासगदसाओ 1/16
30. उवासगदसाओ 1/48
31. जैन, सागरमल (डॉ.) जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग 2, पृ.-282
32. उपासकदशांग टीका प. 32, सर्वार्थसिद्धि 7/28, श्रावकप्रज्ञप्ति टीका 2/73
33. उवासगदसाओ 1/49
34. उत्तराध्ययन सूत्र 9/48
35. ठाणांग सूत्र 3/1/113
36. उवासगदसाओ 1/21-27
37. हिरण्य-सुवर्ण में रत्न-मणियों को भी गिना जाता है। लटी संहिता 5/105-106
38. सूत्रकृतांग सूत्र छठ अध्ययन
39. दशवैकालिक-सूत्र 4/16, उत्तराध्ययन-सूत्र अध्ययन 19, मूलाचार 112-113, भगवती आराधना 6-1186 गाथा एवं 6-1207 गाथा।
40. उत्तराध्ययन-सूत्र 17,16

41. चारित्रपाहुड - 22
42. आचार-सार 5-70
43. अमतचन्द्र, आचार्य, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-136
44. घासीलालजी, आचार्य, उपासकदशांग सूत्र टीका।
45. उवासगदसाओ 1/50
46. महाप्रज्ञ, आचार्य, महावीर का अर्थशास्त्र, प.-47
47. भगवती सूत्र शतक 7, उद्देशक 2
48. उवासगदसाओ 1/22-38
49. उवासगदसाओ 1/51
50. 'सचित्तहारं खलु सचेतनं मूल कन्दादिकम्' - श्रावकप्रज्ञप्ति टीका-286
51. उवासगदसाओ 1/51
52. जैन, सागरमल (डॉ.) जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग 2, पृ.-287
53. उपासकदशांग टीका पृ. 39
54. जैन, सागरमल (डॉ.) जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग 2, पृ.-288
55. उपासकदशांग टीका पृ. 39, योगशास्त्र 3/104, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित 9/3/339
56. उपासकदशांग टीका पृ. 39, योगशास्त्र 3/105, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित 9/3/340. देखें - अन्तिम अध्याय में स्फोट-कर्म और खनन पर विचार।
57. उपासकदशांग टीका पृ. 39-40, योगशास्त्र 3/106, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित 9/3/341
58. योगशास्त्र 3/107, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित 9/3/342
59. जैन, सागरमल (डॉ.) जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग 2, पृ.-288

60. योगशास्त्र 3/109, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित 9/3/344
61. उपासकदशांग टीका पृ. 40, योग शास्त्र 3/108, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित 9/3/344
62. योगशास्त्र 3/110, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित 9/3/345
63. उपासकदशांग टीका प. 40, योग शास्त्र 3/111, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित 9/3/346
64. योगशास्त्र 3/111, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित 9/3/346
65. योगशास्त्र 3/112, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित 9/3/347
66. जैन, सागरमल (डॉ.) जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग 2, पृ.-289। प्रो. प्रेमसुमन जैन के आलेख 'भ. बुद्ध की शिक्षाओं का सामाजिक सरोकार' के अनुसार दीघनिकाय (द्वितीय भाग) में भी इन व्यापारों का निषेध है।
67. उपासकदशांग (1/43) और आवश्यक सूत्र रत्नकरण्डश्रावकाचार (75), कार्तिकेयानुप्रेक्षा (43 से 47), सर्वार्थसिद्धि (7/21) आदि में इन चार के अतिरिक्त दुःश्रुति का उल्लेख भी है।
68. उवासगदसाओ 1/48
69. आवश्यक सूत्र - नौवाँ व्रत। रत्नकरण्डश्रावकाचार (97) में कहा गया कि सामायिक तीन करण तीन योग से की जानी चाहिये।
70. अमर मुनि, उपाध्याय, सामायिकसूत्र एवं अन्य सामायिकसूत्र की पुस्तकें।
71. उवासगदसाओ 1/53, तत्त्वार्थ सूत्र 7/28
72. जैन, सागरमल (डॉ.) जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग 2, पृ.-294
73. योगशास्त्र 5/115-116, आवश्यक मलयगिरी टीका 4/43
74. आवश्यक सूत्र - दसवाँ व्रत।
75. आत्मारामजी, आचार्य, उपासकदशांग टीका, पृ. 80

76. रत्नकरण्डश्रावकाचार 5/3-4, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 18/5-6, सागारधर्मामत 5/26
77. आवश्यक सूत्र ग्यारहवाँ व्रत
78. रत्नकरण्डश्रावकाचार 109
79. आवश्यक सूत्र 12वाँ व्रत, आचार्य अभयदेव और आचार्य घासीलालजी कृत उपासकदशांग टीका।
80. जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप - आचार्य देवेन्द्र मुनि पृ.-345
81. तत्त्वार्थ सूत्र 7/39
82. उवासगदसाओ 1/56, तत्त्वार्थ सूत्र 7/36
83. देवेन्द्र मुनि, आचार्य, जैन धर्म में दान एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 119
84. दशवैकालिक 9/2/23, प्रश्नव्याकरण 2/3, उत्तराध्ययन 17/11
85. मुनि भुवनेश (डॉ.) जैन आगमों के आचार दर्शन और पर्यावरण संरक्षण का मूल्यांकन, पृ.-40

परिच्छेद दो

दान, गृहस्थाचार और राष्ट्रधर्म

सम्पूर्ण जैनाचार त्याग पर अवस्थित है। त्याग के अनेक पक्ष होते हैं, उनमें दान की महिमा अपरम्पार है। आगम-साहित्य दान की महिमा से भरे पड़े हैं। श्रमण परम्परा में जीवन साधना के सर्वोच्च शिखर पर बिराजमान तीर्थंकर को परमदाता बताया गया है। वे अभय का दान करने वाले, धर्म का दान करने वाले, चक्षु (ज्ञान) का दान करने वाले, बोध व बोधि देने वाले तथा सबको शरण और जीवन देने वाले हैं। इसीलिए वे लोकनाथ, लोकसूर्य, लोक में परमोत्तम तथा संसार के ज्ञावाती समुद्र में भटके-फँसे प्राणियों के लिए द्वीप के समान है।

वर्षादान

तीर्थंकर दीक्षा लेने से पूर्व एक वर्ष तक निरन्तर दान देते हैं, उसे ग्रन्थों में वर्षादान या वार्षिक-दान के रूप में जाना जाता है। वे सूर्योदय से लेकर प्रातःकालीन आहार तक एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण-मुद्राएँ प्रतिदिन दान करते हैं।^१ वर्ष भर में कुल 3 अरब, 88 करोड़, 80 लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान उनके द्वारा किया जाता है।^२ आचारांग^३ और कल्पसूत्र^४ में दीक्षा-पूर्व तीर्थंकरों के दान को सर्वस्व-त्याग कहा है। उनसे दान लेने वालों में सनाथ, अनाथ, भिक्षुक, रोगी, दरिद्र आदि सभी वर्गों, क्षेत्रों और श्रेणियों के लोग आते थे। सम्पन्न भी उनसे कुछ प्राप्त करने की अभिलाषा रखते। वे लोग (और अन्य सभी दान ग्रहणकर्ता) केवल दान ही नहीं, दान और सहयोग की प्रेरणा भी तीर्थंकर प्रभु से प्राप्त करते और अपने जीवन को त्याग व उदारता से सजाते-संवारते थे।

ज्ञाताधर्मकथांग^५ में तीर्थंकर मल्लि द्वारा किये गये वार्षिक दान का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि दीक्षा पश्चात् अणगार-जीवन में धर्म के चार व्यवहारिक अंगों^७ में से तीन - शील, तप और भाव की आराधना तो हो सकती है, परन्तु दान-धर्म की विधिवत् आराधना गृहस्थ जीवन में ही सम्भव है। दान या उदारता की बुनियाद पर ही गृहस्थ-धर्म टिका हुआ है। वर्षादान के द्वारा तीर्थंकर संसार को त्याग, उदारता, सहयोग आदि की प्रकर्ष प्रेरणा देते हैं। उनकी इस प्रेरणा का जितना आध्यात्मिक महत्त्व है, उससे कहीं अधिक उसका सामाजिक व आर्थिक मूल्य है।

निर्धन ब्राह्मण को वस्त्रदान

तीर्थंकर महावीर ने वर्षपर्यन्त दान करने के बाद महाभिनिष्क्रमण किया। दीक्षा के वक्त इन्द्र ने उनके वाम-स्कन्ध पर श्रद्धापूर्वक बहुमूल्य दिव्य वस्त्र डाल दिया। प्रव्रज्या ग्रहण करके ज्ञातृखण्ड वन से प्रस्थान करके भगवान आगे बढ़ गये। मार्ग में उन्हें राजा सिद्धार्थ का परिचित सोम नामक वृद्ध ब्राह्मण मिला। महावीर के वर्षोदान के वक्त वह उन तक पहुँच नहीं पाया था। पत्नी के इस आग्रह पर कि महावीर तो स्वर्ण की वर्षा कर रहे हैं और हम दरिद्रतापूर्वक जीवन यापन कर रहे हैं। जाओ, अब भी जाओ, तीर्थंकर महावीर के पास। उनकी शरण गया हुआ कभी दरिद्र नहीं रह सकता। वह ब्राह्मण खोज करता हुआ वन में वहाँ पहुँचा, जहाँ महावीर साधनारत् थे। उसने महावीर को अपनी व्यथा-कथा बताई। भौतिक रूप से देने के लिए भगवान महावीर के पास देवदूष्य वस्त्र था। उन्होंने वस्त्र का अर्धभाग उसे प्रदान कर दिया। कुछ समय बाद महावीर के स्कन्ध से वस्त्र का शेष अर्धभाग भी गिर पड़ा। सोम उसे भी ले आया। उसका वह वस्त्र एक लाख दीनार में बिका। इससे उसकी दरिद्रता समाप्त हो गई।⁹ तीर्थंकर महावीर के जीवन की यह घटना प्रेरणा देती है कि व्यक्ति अपने निजी सुखों का त्याग करके भी करुणा-भाव और सहयोग-वृत्ति को बनाये रखें। सामाजिकता और मानवीयता के ये आधारभूत घटक हैं।

दान प्रथम

धर्म के चार अंगों - दान, शील, तप और भाव⁹ में दान को प्रथम स्थान दिया गया है। दान को श्रावक का परम-धर्म¹⁰, प्रमुख कर्तव्य तथा कल्याण का सरलतम उपाय भी बताया गया है। जो व्यक्ति अपने दानादि सामाजिक और आर्थिक कर्तव्यों को नहीं समझता है, वह धर्म के मंगल-पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता है। दान हमें आदान-प्रदान की शिक्षा देता है। दान विसर्जन है, वह हमें अर्जन और सर्जन की प्रेरणा देता है। दान ही ऐसा धर्म है जिसमें प्रत्यक्ष तौर पर द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय लाभ होता है। यह लाभ तत्काल होता है और सदियों तक होता रहता है। दान से स्थापित/संचालित योजना, परियोजना अथवा प्रकल्प दाता के दिवंगत होने के पश्चात् भी युगों तक समाज के लिए लाभकारी बने रहते हैं। चिरकालीन बहुपक्षीय लाभ ही दान का अर्थशास्त्र है।

दान बनाम संविभाग

‘दानं सम्यग् विभाजनं’ - संसाधनों का समुचित विभाजन दान है। गृहस्थ के बारहवें व्रत में उसे साधनों और संसाधनों के संविभाग की सलाह दी गई है। आगम ग्रन्थों में दान की अपेक्षा संविभाग शब्द को समाजशास्त्रीय दृष्टि से अधिक उपयुक्त माना जाता है। ग्रन्थों में एक और शब्द है - प्रतिलाभ।¹¹ व्यक्ति तत्कालीन समय और समाज से प्रत्यक्ष तौर पर लाभान्वित होता है। उसमें यह भाव होना चाहिये कि वह भी दूसरों के लिए लाभकारी बनें। सद्गृहस्थ यह कामना करता है कि उसे अपने संविभाग से प्रतिलाभ मिलें। दान अथवा संविभाग से हानि नहीं, अपितु प्रतिलाभ होता है। नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह अपने साधनों का परार्थ और परमार्थ के लिए संविभाग करें और प्रतिलाभ प्राप्त करें।

समाज में सबकी हैसियत समान नहीं होती है। जो किन्हीं कारणों से जीवन विकास में पिछड़ जाते हैं, उनके प्रति समर्थ जनों का यह दायित्व बनता है कि वे अपने धन का संविभाग करें, जिससे सामुदायिक सम्पन्नता के लिए कार्य किया जा सके। संविभाग में संविभागकर्ता के अहंकार के लिए अवकाश नहीं रहता है। यह उसका दायित्व है कि वह जिस देश काल में जी रहा है, उसमें जीने वालों के प्रति अपने फर्ज को भी समझें। सामाजिक आर्थिक समता की स्थापना के लिए संविभाग कर्ममहत्व असंदिग्ध है। संविभाग केवल मूर्त वस्तुओं का ही नहीं, अपितु अमूर्त सम्पदा का भी होता है। योग्य व बुद्धिमान व्यक्तियों का फर्ज बनता है कि वे अहंकार-रहित होकर कम योग्य व्यक्तियों को अपनी योग्यता से लाभान्वित करें।

दान और अनुग्रह

आचार्य उमास्वाति ने दान को अनुग्रह के लिए वस्तु-त्याग के रूप में परिभाषित किया है।¹² जिससे स्वयं का और दूसरों का उपकार हो, उसे अनुग्रह कहते हैं।¹³ स्पष्ट है, दान से दूसरों का ही नहीं, स्वयं का भी उपकार होता है। क्या, कब, किसे और किस उद्देश्य से देना, इसका विवेक दाता को अवश्य होना चाहिये। पात्र, वस्तु व समय के विवेक के साथ किये गये सहयोग से सहयोग का महत्व बढ़ जाता है। दान के साथ दानी को अपना स्वत्व, स्वामित्व और अहंत्व का विसर्जन भी करना चाहिये। ऐसा दान पारस्परिक अनुग्रह का कारण बनता है। लोभ-कषाय को मन्द करने और अपरिग्रह-व्रत की आराधना के लिए दान प्रमुख उपादान है।

दान और समता

विषमता संसार की बड़ी समस्या है। समता उसका समाधान है। आगम-ग्रन्थों में समता को धर्म और धर्म का सार बताया गया है।¹⁴ समता के कई अर्थ होते हैं। सामाजिक दृष्टि से आर्थिक समता-विषमता पर विज्ञों ने बहुत विचार किया। दान को आर्थिक विषमता के निवारक के रूप में एक घटक माना गया। दान से स्थायी और अस्थायी - दोनों प्रकार के समाधान मिलते हैं। उचित अवसर पर प्राप्त सहयोग से व्यक्ति अपने जीवन को दिशा दे देता है और प्राप्तकर्ता एक दिन स्वयं दाता भी बन जाता है।

समाज की व्यवस्था ऐसी बनाई जाय कि सामाजिक निर्धनता कम से कम हो और असहाय स्वनिर्भर बन सके। भगवान महावीर के अनुयायियों ने हर युग में दान-दीम प्रचलित रखा। इस सम्बन्ध में भारत के पूर्व न्यायधीश रंगनाथ मिश्र का यह कथन प्रेरणास्पद है - 'मेरी यह मान्यता है कि सेवा शिक्षा, दान, संस्कार-निर्माण आदि का यदि कोई शुभ कार्य कोई संस्था करने जा रही है, तो उसके पीछे किसी-न-किसी जैन बन्धु की प्रेरणा, सहयोग या संयोजन है।'¹⁵ दान से समाज में समता, समरसता, सहकारिता, शान्ति, सह-अस्तित्व और समृद्धि का प्रसार होता है।

दान के दस प्रकार

स्थानांग सूत्र¹⁶ में दान के दस प्रकार बतलाये गये हैं -

1. **अनुकम्पा दान** : कैसा भी अर्थशास्त्र हो, वह मानवीय भावनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता। अगर वह करता है तो अनर्थशास्त्र बन जाता है। किसी दीन, दुखी या विपदाग्रस्त प्राणी या व्यक्ति को देखकर अनुकम्पित होकर उसकी मदद करना अनुकम्पा दान है। भगवान महावीर में अनुकम्पा को सम्यक्त्व का एक लक्षण बताया है। राजप्रश्नीय सूत्र में राजा प्रदेशी अपनी समस्त सम्पत्ति का एक भाग निर्धनों व संकटग्रस्त व्यक्तियों के लिए नियोजित करता है।
2. **संग्रह दान** : इस प्रकार के दान में मानवीयता की भावना या तो कम होती है या नहीं होती है, प्रत्युत् अदला-बदली की भावना होती है। कई लोग इस प्रकार के दान से समाज में अपना नाहक वर्चस्व बना लेने में कामयाब होते हैं। इससे दान की मूल भावना आहत होती है।

3. **भय दान** : किसी दबाव, आतंक या डर से दान करना भय दान है। दबाव में किया जाने वाला दान दान नहीं होता है। संग्रह व भय दान से समाज में रिश्वतखोरी व भ्रष्टाचार बढ़ता है।
4. **कारुण्य दान** : दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए जो कर्मकाण्ड किये जाते हैं, उन्हें कारुण्य दान के अन्तर्गत माना गया है।¹⁷ जैन विचारकों ने इस तरह के कर्मकाण्डों को समाज के लिए अनुचित बताया। हाँ, दिवंगतों की पुनीत स्मृति में सत्कार्यों में दान करना स्वीकार्य है।
5. **लज्जा दान** : लोक लाज से दान देने की बजाय स्वेच्छापूर्वक दिया जाना चाहिये। इससे दान का महत्व बढ़ जाता है।
6. **गौरव दान** : गर्व-रहित होकर दिये जाने वाले दान से दान और दानी दोनों का गौरव बढ़ता है।
7. **अधर्म दान** : कुपात्र को दिया गया दान अधर्म दान है। जिस दान से समाज व देश में अराजकता बढ़े और मूल्यों का पतन हो, वह अधर्म दान है। आतंककारियों, व्याभिचारियों तथा हिंसा में संलग्न लोगों की मदद करना अधर्म दान है। ऐसा दान कभी नहीं करना चाहिये।
8. **धर्म दान** : श्रेष्ठ उद्देश्यों के लिए, अहिंसा, संयम आदि मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठार्थ अपने धन का, साधनों का संविभाग करना धर्म दान है।
9. **करिष्यति दान** : प्रत्युपकार की आकांक्षा से किसी का उपकार करना करिष्यति दान है।
10. **कृत दान** : किसी के उपकार के बदले में उपकार करना कृत दान है।

दस प्रकार इन दस प्रकार के दानों में कुछ स्वीकार्य और कुछ अस्वीकार्य है। कुछ प्रकार के दानों का सामाजिक आर्थिक सम्बन्धों में अलग महत्व है। जो व्यक्ति सहयोग देना नहीं जानता वह सामाजिक नहीं और जो सहयोग लेना नहीं जानता वह भी सामाजिक नहीं। समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र सहयोग और सहकारिता से संचालित है। योगी को भी सहयोगी की जरूरत पड़ती है। व्यक्ति को परोपकार करना चाहिये, उपकारी का उपकार नहीं भूलना चाहिये।

आचार्य कार्तिकेय, आचार्य जिनसेन आदि ने दान के चार भेद किये हैं -
आहार, औषध, ज्ञान और अभयदान।¹⁸

1. **आहार दान** : आहार मानव और प्राणी मात्र की प्रथम आवश्यकता है। जो अनंगार है अर्थात् जिनके कोई घर नहीं है ऐसे साधुओं व साधु-पुरुषों के आहार पानी की व्यवस्था करना समाज का दायित्व है। भुखमरी और दुष्काल के समय में किया गया आहार दान देश की रक्षा करता है और वह प्रत्यक्ष तौर पर अभय दान का कारण भी बनता है।
2. **औषध दान** : किसी भी समाज व देश के सतत् विकास के लिए स्वास्थ्य और चिकित्सा की सुदृढ़ व्यवस्थाएँ अत्यन्त जरूरी हैं। भगवान महावीर के अनुयायी युगों से औषधालयों और चिकित्सालयों के लिए अपने धन का विसर्जन करते रहे हैं। व्यक्तिगत और छोटे-छोटे स्तरों पर भी सदगृहस्थ बीमार की चिकित्सा सेवा करके समाज को बीमार होने से बचाता है। वर्तमान में रक्तदान, अंगदान, नेत्र दान आदि को इसमें गिना जा सकता है। इसका भी अभय दान से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।
3. **ज्ञान दान** : अज्ञान सबसे बड़ा कष्ट है। अज्ञान और कुज्ञान से समाज को मुक्त करने के लिए अपने साधनों का संविभाग ज्ञान दान है। ज्ञान पर जैन परम्परा ने अत्यधिक जोर दिया है। आचारांग में ज्ञान को आत्मा का पर्याय बताया गया है।¹⁹ इस दृष्टि से ज्ञान दान का अर्थ बहुत व्यापक हो जाता है। भगवान महावीर के अनुयायियों ने ज्ञान-विज्ञान और शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए भी ऐतिहासिक कार्य किये हैं। देश-समाज की आर्थिक और सर्वांगीण उन्नति के लिए ज्ञान व शिक्षा अनिवार्य घटक है। किसी को कलत्र व हुनर विशेष में पारंगत बनाना या बनाने की व्यवस्था करना आर्थिक ज्ञान दान है। इससे व्यक्ति जीविकोपार्जन में सक्षम बनता है।
4. **अभय दान** : आर्य सुधर्मा स्वामी ने भगवान महावीर की स्तुति में अभय दान को सर्वोत्तम बताया।²⁰ जीवन में अनेक प्रकार के भय होते हैं, उन भयों से प्राणी को मुक्त करना अभयदान है। इसके अन्तर्गत किसी के प्राणों की रक्षा करना, शरणागत की रक्षा करना आदि सम्मिलित हैं। अभय दान से देश की पशु सम्पदा की रक्षा में भी उल्लेखनीय कार्य हुआ है। किसी व्यक्ति के लिए बेरोजगारी अथवा आजीविका छिन जाने का भय हो, उस भय से उसे मुक्त करना भी अभयदान है। एक व्यक्ति के रोजगार से पूरा परिवार चलता है।

आपातकाल में दान

दान का मूल ध्येय है - उचित वक्त पर उचित मदद करना। कितने ही व्यक्ति व्यक्तिगत अथवा पारिवारिक तौर पर संकट में फँस जाते हैं। ऐसे संकट के उनकी सहायता करनी चाहिये। कितने ही व्यक्ति सामूहिक रूप से प्राकृतिक और अप्राकृतिक आपदाओं से घिर जाते हैं। मानवता का तकाजा है, उनकी मन से मदद की जाय। ऐसी आपदाओं के अन्तर्गत बाढ़, भूकम्प, अकाल, महामारी, दुर्घटनाएँ आदि सम्मिलित हैं। आपातकालीन दान समाज-धर्म, राष्ट्र-धर्म व मानव-धर्म का अंग है।

जगडूशाह

वि. सं. 1312 में पड़े त्रिवर्षीय दुष्काल का सामना करने के लिए जैन श्रावक जगडूशाह ने ऐतिहासिक मदद की। उन्होंने दुष्काल की विभीषिका को भाँप लिया था और ऐसे महासंकट का सामना करने के लिए पूर्व तैयारियाँ और प्रबन्धन कर लिया था। अकाल के समय जगडूशाह ने काशी के राजा को 128 हजार मन, नवाब मोइज्जुद्दीन को 84 हजार मन, सिन्धु व स्कन्धिल देश के राजा को 48-48 हजार मन और गुजरात के अणहिलवाड़े के राजा को 32 हजार मन अन्न और खाद्य-सामग्री की मदद की। इनके अलावा 112 दानशालाएँ खुलवाई तथा माँगने में संकोच करने वालों को करोड़ों स्वर्ण-मुद्राएँ मोदक में रखकर भिजवाई¹। जगडूशाह ने यह सब बिना किसी प्रत्याशा के विशुद्ध मानवीय धरातल पर किया। अपने देश ही नहीं, दूसरे देशों को भी सहायता भिजवाई।

भामाशाह

महाराणा प्रताप को मेवाड़ की स्वतन्त्रता और स्वाभिमान की रक्षार्थ संसाधनों के संकट का सामना करना पड़ा। वे निराश होकर मेवाड़ छोड़कर सिंध की ओर बढ़ गये थे। ऐसी सघन निराशा में श्रावक भामाशाह (जन्म वि.सं.1604 - निधन वि.सं.1656) उनके लिए आशा का सूरज बनकर उपस्थित हुए। भामाशाह ने प्रताप को इतना धन समर्पित किया, जिससे 25 हजार सैनिकों/व्यक्तियों का 12 वर्षों तक आसानी से बिना ब्याज खर्च चल सके। उनका यह दान इतिहास में अमर हो गया। उदारमनाओं के मुक्त योगदान के बगैर भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता था। विनोबा के भूदान आन्दोलन ने भी भारतीय सामाजिक आर्थिक जीवन पर बहुत अनुकूल प्रभाव पैदा किया।

दान पर इस विमर्श से यह निष्कर्ष सहज रूप से निकाला जा सकता है कि दान केवल धनादि मूर्त चीजों का ही नहीं होता है, अपितु मूर्त और अमूर्त कई रूपों और व्यवस्थाओं में व्यक्ति अपने दान-धर्म की आराधना कर सकता है। दान का व्यापक अर्थ है - सहयोग का जीवन जीना। अपने लिए ही नहीं, दूसरों के लिए भी जीना। महान उद्देश्यों के लिए जीना। आगमों में दान और दानियों की अपार महिमा गाई गई है।

कई सन्दर्भों में व्यक्ति का दान इतना प्रभावशाली होता है कि वह अर्थव्यवस्था में क्रान्तिकारी भूमिका निभा सकता है। समाज में रोजगार, स्वावलम्बन, आत्म-निर्भरता की प्रतिष्ठा करने वाले दानों का विशुद्ध रूप से अर्थशास्त्रीय महत्व है। इनके अलावा सरकार जनता पर कर लगाती है, यह दान का राजकीय रूप है। व्यक्ति को नियमानुसार कर चुकाना चाहिये।

सामाजिक-समता, सांस्कृतिक-उन्नति, संसाधनों के समान वितरण, विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था और राष्ट्रीय-विकास में दान, संविभाग व सहयोग का महत्व कभी कम नहीं हो सकता।

गृहस्थाचार और राष्ट्र-धर्म

गृहस्थाचार के नियमों व उपनियमों पर चर्चा से यह निष्कर्ष आसानी से निकाला जा सकता है कि श्रेष्ठ मानव और आदर्श नागरिक बने बगैर कोई भी व्यक्ति अच्छा व सच्चा धार्मिक व्यक्ति नहीं बन सकता। धर्म परलोक की वस्तु नहीं, अपितु इस जीवन को, समाज, देश व दुनिया को बेहतर बनाने की साधना का नाम है। सद्गृहस्थ ग्राम/नगर से लगाकर देश तक के प्रति अपने कर्तव्यों को किसी न किसी रूप में निभाता है। उसका यह कर्तव्य-निर्वहन उन सब चीजों को सुव्यवस्थित करता है, जिनमें मुख्यतः अर्थव्यवस्था सम्मिलित है। कर्तव्य-परायणता अर्थ-तन्त्र का मेरुदण्ड है। जिस देश, समुदाय या क्षेत्र में कर्तव्य-परायण नागरिक निवास करते हों, वह देश, समुदाय या क्षेत्र निरन्तर विकास करता है। आगम-ग्रन्थों में जगह-जगह कर्तव्यनिष्ठा के उद्घरण और उदाहरण मिलते हैं।¹² वहाँ कहा गया है कि जो अनर्थ-रूप और अकर्तव्य है, उनका आचरण नहीं करना चाहिये।¹³ उपासकदशांग के दस श्रावकों का जीवन कर्मठता का जीवन्त प्रतीक है। जो व्यक्ति कर्तव्यनिष्ठ होता है, वह सामाजिक, लौकिक, राष्ट्रीय जैसे सभी धर्मों की आराधना करता है। स्थानांग सूत्र में इस प्रकार के दस धर्म बताये गये हैं।¹⁴

ठाणांग के दस धर्म

1. **ग्राम-धर्म** : गाँव के प्रति अपने फर्ज को निभाना ग्राम धर्म है। भगवान महावीर उनके प्रथम नयसार के भव में 'ग्राम-चिन्तक' थे। जैनाचार्यों ने ग्राम-धर्म के समुचित परिपालन के लिए ग्राम के मुखिया 'ग्राम-स्थविर' की व्यवस्था के निर्देश भी दिये हैं। इन व्यवस्थाओं के तहत समस्त ग्रामवासी अपना और अपने गाँव का विकास सुनिश्चित करें। ग्राम-स्थविर की तुलना वर्तमान में 'ग्राम-सेवक' तथा सरपंच से की जा सकती है। गाँवों की उन्नति पर देश की उन्नति निर्भर है। 20वीं सदी के महानायक महात्मा गांधी ने ग्रामोन्नति पर बहुत जोर दिया। उन्होंने ग्राम-स्वराज का सपना देखा। पंचायती राज के माध्यम से उसे साकार करने की राह सुझाई। सदियों पूर्व आगम ग्रन्थों में इन व्यवस्थाओं के उपयोगी सूत्र हमें मिलते हैं। गाँव अर्थ-व्यवस्था की आधारभूत इकाई है। ग्राम कच्चे माल और प्राथमिक उद्योगों के केन्द्र होते हैं। कथित विकास की आंधी में भारत के आत्म-निर्भर और सक्षम गाँव आज कमजोर पड़ते जा रहे हैं। भगवान महावीर द्वारा सुझाये गये गृहस्थाचार के नियम ग्राम्य अर्थव्यवस्था को उत्कर्ष प्रदान करते हैं।
2. **नगर-धर्म** : जिस प्रकार गाँव के प्रति अपने फर्ज को निभाना ग्राम-धर्म है, उसी प्रकार नगर के प्रति अपने दायित्व निभाना नगर-धर्म है। जैन सूत्रों में ग्राम-स्थविर की भाँति नगर-स्थविर की व्यवस्था के उल्लेख मिलते हैं। जिनकी तुलना वर्तमान के नगर निगम तथा उसके सभापति से की जा सकती है। नगरवासियों का दायित्व अपने नगर के प्रति इसलिए भी अधिक बनता है कि वे ग्रामवासियों से अधिक विकसित अवस्था में जीवन यापन करते हैं। इसके अतिरिक्त नगरों का विकास गाँवों व ग्रामवासियों पर निर्भर है। नगरवासियों तथा नगर के निगम को चाहिये कि वे गाँवों के विकास के लिए अपने दायित्व को तय करें। निगम द्वारा कोई ऐसा नियम नहीं बने जिससे गाँवों या गाँवों के बाशिन्दों के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव हो। दूरियों के विकास की कीमत पर अपना विकास किसी भी दृष्टि से उचित नहीं होता है।
3. **राष्ट्र-धर्म** : राष्ट्र-धर्म के अनेक रूप होते हैं। जिस देश के नागरिक राष्ट्रीयता को अपने भावों के साथ संजोते हैं, वह देश अजेय होता है। उस पर किसी भी प्रकार के राजनैतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक आक्रमण की आशंका व संभावना नहीं रहती है। राष्ट्रीय-नियमों, प्रतीकों आदि को लेकर जो राष्ट्रीय-

चेतना नागरिकों में होनी चाहिये, उस चेतना का विकास आगमों में वर्णित गृहस्थाचार से सहज रूप से होता है। एक अहिंसा व्रत धारी गृहस्थ भी अवसर आने पर देश की रक्षार्थ शस्त्र उठाने से नहीं हिचकता है। अहिंसा अणुव्रत के अन्तर्गत बताया जा चुका है कि श्रावक के लिए विरोधिनी हिंसा का त्याग शक्य नहीं है। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में राजस्थान से पहली शहादत देने वाला वीर भगवान महावीर का उपासक अमर चन्द बाँठिया था।¹⁵ बाँठियाजी ने राष्ट्र-धर्म की आराधना के लिए तान्त्याटोपे को मुक्त आर्थिक मदद की। इस पर तत्कालीन अंग्रेजी शासकों ने बाँठियाजी को प्राणदण्ड की सजा सुनाई। बीकानेर निवासी अमर शहीद बाँठिया ने अन्तिम इच्छा के रूप में सामायिक-व्रत की आराधना की और पूरे समभावों के साथ अपने प्राणों की बाजी लगा दी परन्तु राष्ट्र-धर्म से विचलित होना उचित नहीं समझा। राष्ट्र-धर्म के लिए बाँठियाजी ने न सिर्फ धन, अपितु अपने जीवन का दान भी कर दिया। दानवीर श्रावक भामाशाह ने अकबर के वैभवशाली जीवन के अनेक प्रलोभनों को ठुकराकर अपने देश के प्रति उत्कृष्ट वफादारी व स्वामीभक्ति का परिचय दिया। आगम-युग से लगाकर वर्तमान समय तक अनेक राजा, मन्त्री, दीवान आदि राज्याधिकारी हो गये हैं। जिनकी सलाहों और सेवाओं से राष्ट्र के सर्वांगीण विकास में अगणित अध्याय जुड़े। इतिहास पर दृष्टिपात करें तो अधिकांश आर्थिक सलाहकार भ. महावीर के अनुयायी गृहस्थ ही रहे, जिन्होंने राज्य को सुदृढ़ आर्थिक आधार प्रदान किये।

4. **पाखण्ड-धर्म (नीति-धर्म)** : यहाँ पाखण्ड का अर्थ ढोंग या कर्म-काण्ड से नहीं अपितु अनुशासित व संयमित जीवन जीने से है। जिससे समाज व देश में शान्ति व व्यवस्था बनी रहे। गृहस्थाचार के सारे नियम-उपनियम व्यक्ति को उत्तम नागरिक बनाते हैं। सम्राट अशोक ने चरित-विकास के लिए एक स्वतन्त्र मन्त्रालय भी स्थापित किया था।¹⁶
5. **कुल-धर्म** : कौटुम्बिक श्रेष्ठ परम्पराओं का अनुपालन कुल-धर्म के अन्तर्गत परिगणित है। कुल-धर्म का एक अर्थ यह है कि सभी कुटुम्बीजन प्यार और सहकार पूर्वक रहें। कुल के जो ज्येष्ठ व श्रेष्ठ जन हैं, उनकी आज्ञाओं का सम्मान करें तथा जो वृद्ध व बीमारजन हैं, उनकी निष्ठापूर्वक साळ-सम्भाल करें। बड़े छोटों का ध्यान रखें और छोटे बड़ों का। जिस देश में कर्तव्यपरायण कुल व कुटुम्ब होते हैं, वह देश प्रगति करता है।

6. **गण-धर्म** : गण का अर्थ समान आचार-विचार के व्यक्तियों के समूह से है।¹⁷ इस अर्थ में किसी क्षेत्र-विशेष या व्यवसाय-विशेष की बिरादरी को गण कहा जा सकता है। जो व्यक्ति जिस समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है, उसे उसके नियमों का पालन करते हुए सामुदायिक उत्कर्ष के लिए यत्नशील रहना चाहिये, यह गण-धर्म है। जहाँ गणतन्त्र की बात है, वहाँ गण का अन्य अर्थ समान आचार-विचार के व्यक्तियों के समूह से नहीं हो सकता। वहाँ तो सभी प्रकार के आचार-विचार वाले व्यक्तियों की मौजूदगी अवश्यम्भावी है। वर्धमान महावीर की जन्म-स्थली कुण्डग्राम ज्ञातृ-क्षत्रियों का गणराज्य था। उनके पिता राजा सिद्धार्थ उसके गण-प्रमुख थे तथा माँ त्रिशल के पिता अथवा भाई महाराजा चेटक वैशाली गणराज्य के राष्ट्राध्यक्ष थे। कहा जा सकता है कि वर्धमान गणतान्त्रिक माहौल में पले-बढ़े थे। वर्तमान में प्रचलित लोकतान्त्रिक-प्रणाली का सूत्र गणतन्त्र की व्यवस्थाओं में मिलते हैं। इस अर्थ में गण-धर्म के अन्तर्गत समता, स्वतन्त्रता, स्वायत्तता, सह-अस्तित्व आदि मूल्यों के अनुपालन व अनुरक्षण का दायित्व आता है।
7. **संघ-धर्म** : धार्मिक व्यवस्थाओं के रूप में श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका से मिलकर संघ होता है। नन्दी-सूत्र में ऐसे परमोपकारी संघ की बड़ी महिमा बताई गई है। गृहस्थ-वर्ग इन संघों का आर्थिक पक्ष होता है। उसका कर्तव्य है कि वह संघ के लिए अपने संसाधनों का विवेकसम्मत नियोजन करें। संघ का दूसरा रूप गणों का समूह होता है। भगवान महावीर के समय में लिच्छवि, ज्ञातृ, विदेह आदि आठ गणराज्यों का एक वज्जिसंघ था, वैशाली जिसकी राजधानी थी। सदस्य अथवा नागरिक के रूप में ऐसे संघों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना संघ-धर्म है।
8. **श्रुत-धर्म** : श्रुत का पारम्परिक अर्थ है लिपिबद्ध आप्त-वचन। इन वचनों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त करना श्रुत-धर्म है। व्यक्ति को ऐसे महान श्रुत में से उत्तम अर्थ की खोज करनी चाहिये।¹⁸ ज्ञान का प्रचार-प्रसार और विस्तार करना, समाज से अंधविश्वासों और जड़ताओं को मिटाने के प्रयास श्रुत-धर्म के सोपान हैं। आज व्यक्ति से लेकर समष्टि तक सारा विकास ज्ञानाधारित हो गया है। जीवन की भौतिक उन्नति के लिए ज्ञान अत्यावश्यक उपादान हो गया है। सरकार शिक्षा के लिए अतिरिक्त कर लगाती है।¹⁹ भगवान महावीर में उसी ज्ञान को श्रेष्ठ कहा है जो व्यक्ति को अहिंसा के मंगल पथ से विचलित नहीं करें।²⁰

9. **चारित्र्य-धर्म** : इस धर्म के अन्तर्गत मुख्यतः आत्म-साधना को लिया जाता है। परन्तु आत्म-विकास के लिए जिन नियमों का पालन करना होता है, वे नियम राष्ट्र के नैतिक, सामाजिक व आर्थिक विकास में बड़ी भूमिका निभाते हैं।

10. **अस्तिकाय-धर्म** : जैन तत्व-ज्ञान को समझना समझाना अस्तिकाय-धर्म है। यह समझ हमारे दृष्टिकोण को वैज्ञानिक तथा तर्कसंगत बनाती है। हमारे मन-मस्तिष्क के द्वार नित नये ज्ञान-विज्ञान को जानने के लिए खुले होने चाहिये। विराट् दृष्टिकोण सम्भावनाओं के द्वार खुले रखता है। ज्ञान के उपयोग व प्रयोग में विवेक का विस्मरण नहीं होना चाहिये।

जिस आचार-विचार से सामाजिकता और राष्ट्रीयता जुड़ी होती है, उसी आचार-विचार से आर्थिक-प्रगति जुड़ी होती है। इन दस धर्मों के अन्तर्गत धर्म शब्द कर्तव्य का बोधक है। हर व्यक्ति समाज का सदस्य और देश का नागरिक होता है। उसे अपनी क्षमता, सामर्थ्य, योग्यता, जवाबदेही, समय आदि को ध्यान में रखते हुए अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिये।

सन्दर्भ

1. कल्पसूत्र, सामायिक सूत्र - नमोत्थुणं का पाठ
2. आचारांग सूत्र 2/23, गाथा 112-113, आवश्यक निर्युक्ति गाथा 239
3. आवश्यक निर्युक्ति गाथा 242
4. आयारो 2/15/360-361
5. कल्पसूत्र 111
6. ज्ञाताधर्मकथांग 1/8/76
7. विनय विजय (आचार्य), शान्तसुधारस भावना।
8. महावीर चरियं 514, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित 10/3/7।
9. सप्ततिशतस्थान प्रकरण गाथा-96 एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित 1/1/152
10. गहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मः - परमात्मप्रकाश टीका 2/111
11. समणं माहणं कृकृ पडिलभेमाणे विहरई
12. 'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्' - तत्वार्थ सूत्र 6/12
13. 'स्वपरोपकारोऽनुग्रहः' - तत्वार्थराजवार्तिक श्लोकावार्तिक, उपासकाध्ययन 766
14. आचारांग 1/8/3
15. 'महावीर मिशन' (दिल्ली), अगस्त 2002
16. स्थानांग सूत्र 10/475
17. स्थानांग टीका 9
18. पुष्कर मुनि, उपाध्याय, जैन धर्म में दान एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 303
19. 'जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया' - आचारांग 1/5/5/104
20. सूत्रकृतांग सूत्र, छठवाँ अध्ययन
21. पुष्कर मुनि, उपाध्याय, जैन धर्म में दान एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 22

22. आचारांग 1/5/2 - उत्तराध्ययन 13/10, वही 18/33
23. उत्तराध्ययन 18/30, 'अकिरियं परिवज्जए' - वही 18/33
24. टाणांग 10/760
25. भण्डारी, विजय, राजस्थान पत्रिका 6 जून, 2002 के अंक में प्रकाशित लेख। देखें मांगीलाल भूतोडिया की पुस्तक 'इतिहास की अमर बेल ओसवाल वंश' में शहीद अमर चंद बांठिया का जीवन।
26. जैन, प्रेम सुमन (प्रो.) प्राकृत भारती, 'अशोक के अभिलेख' अध्याय।
27. जैन, सागरमल, जैन, बौद्ध व गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ.-244
28. उत्तराध्ययन सूत्र 11/32
29. वर्ष 2004 का भारत सरकार का बजट
30. 'एवं खु नाणिणो सारं जं न हिंसई किंचण' - सूत्रकृतांग सूत्र 1/10

परिच्छेद तीन

व्यसन निषेध और मार्गानुसारी का आर्थिक पक्ष

जैन धर्म आचार प्रधान धर्म है। आचार को समस्त अंगों का सार बताया गया है।¹ जैन साधना पद्धति में धर्म के दो रूप बताये गये हैं - श्रुतधर्म (तत्त्वज्ञान) और दूसरा चारितधर्म (नैतिक आचार)। चारित धर्म दो प्रकार का बताया गया है - अनगार और आगार धर्म।² यहाँ आगार धर्म का सम्बन्ध गृहस्थाचार से है। आगार शब्द गृह या आवास के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है पारिवारिक-सामाजिक जीवन। इसमें आर्थिक जीवन भी समाविष्ट है। जिसका परिपालन घर, परिवार, समाज और व्यवसाय के दौरान किया जा सके, वह आगार धर्म है।³ आगम साहित्य में उपासकदशांग और आवश्यक सूत्र के अतिरिक्त आचारंग, स्थानांग, समवायांग, भगवती, अन्तकृतदशा, ज्ञाताधर्मकथांग, प्रश्नव्याकरण, विपाक-सूत्र, राजप्रश्नीय, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कन्ध आदि ग्रन्थों में गृहस्थाचार के बारे में विशेष विवरण मिलता है। गृहस्थाचार के समुचित अनुपालन के लिए जैनाचार्यों ने आगम ग्रन्थों को आधार मानते हुए व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी अनेक नियम-उपनियम बनाये हैं। ऐसे नियमों-उपनियमों पर विमर्श करना भी यहाँ समीचीन होगा।

आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र, अमृतचन्द्र, समन्तभद्र, अमितगतित, पं. आशाधर आदि ने गृहस्थाचार को समुन्नत बनाने के लिए आगमों के आधार पर आचार-संहिताएँ बनाई हैं। इनमें सप्त-व्यसनो का त्याग, श्रावक के 21 गुण और मार्गानुसारी के 35 नियम जैन परम्परा में काफी चर्चित और प्रचलित हैं। इनमें उत्तम गृहस्थ ही नहीं, एक श्रेष्ठ नागरिक और श्रेष्ठ मनुष्य के लिए आवश्यक नियमों व गुणों का भी समावेश हो जाता है।

सप्त-व्यसन

वसुनन्दि श्रावकाचार⁴ में सात कुव्यसनो के त्याग को गृहस्थाचार की भूमिका के रूप में अभिहित किया गया है। आचार्य वसुनन्दि ने लिखा -

जूयं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि चोर-परयारं।

दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में वसुनन्दी के इस क्रम में मैंने किंचित परिवर्तन किया है।⁵ परिवर्तित क्रम में सप्त व्यसनो पर विमर्श किया जा रहा है।

1. मांसाहार

भगवान महावीर ने मांसाहार को नरक गति का कारण बताया है। उन्होंने पंचेन्द्रिय-वध को भी नरक का कारण बताया^१ जिसके बगैर मांस प्राप्ति असंभव है। मांसाहार पंचेन्द्रिय-वध और हिंसा का सबसे बड़ा निमित्त है। मांसाहार और पंचेन्द्रिय-वध करने वाला मर कर नरक में जायेगा तब जायेगा परन्तु स्वर्ग-तुल्य संसार में यहाँ-वहाँ नरक जैसा वातावरण तो हिंसा की वजह से बन ही रहा है। सूत्रकृतांग^७ में हस्ती तापस और भगवान महावीर के शिष्य श्रमण आर्द्रकुमार के बीच में जो संवाद होता है, वह शाकाहार के गौरव को बढ़ाने वाला है। हाथी के एक जीव को मारकर कई दिनों तक खाने वाले हिंसा और अहिंसा, करुणा और क्रूरता का क-ख-ग भी नहीं जानते हैं। प्रश्न अल्प-बहुत्व का नहीं, चेतना के विकास और करुणा का है। इस सम्बन्ध में आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं - 'मांसाहार-निषेध का सबसे प्राचीन प्रमाण जैन साहित्य के अतिरिक्त किसी अन्य साहित्य में है, ऐसा अभी मुझे ज्ञात नहीं है।'^८ मूलचार में मांस को महाविकृति कहा है तथा उसे काम, मद और हिंसा को उत्पन्न करने वाला बताया है^९ विपाक सूत्र में मांसाहार को बीमारियों का घर, नरक का कारण और अत्यन्त हानिकारक बताया गया है।^{१०} मांसाहार मानव के लिए लाभदायक नहीं हो सकता, क्योंकि वह मानव का आहार ही नहीं है। शरीर-विज्ञान की दृष्टि से मानव मूलतः शाकाहारी प्राणी है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की बुलेटिन संख्या 637 की दृष्टि से मांसाहार से 160 प्रकार के रोग हो सकते हैं, जिनमें से अनेक असाध्य और अनेक दुःसाध्य हैं। मांसाहार अपव्ययकारी है और इससे न सिर्फ वैयक्तिक, अपितु वैश्विक अर्थव्यवस्था पर भी दूरगामी दुष्परिणाम हो रहे हैं।

2. मद्यपान

मूलचार में मद्य को भी महाविकृति कहा है तथा उसे काम, मद, हिंसा आदि का जनक बताया है^१ दशवैकालिक सूत्र में मदिरापान का निषेध करते हुए कहा गया है कि वह लोलुपता, छल, कपट, झूठ, अपयश, अतृप्ति आदि दुर्गुणों को पैदा करने वाला और दोषों को बढ़ाने वाला है।^{११} अन्तकृतदशांग के अनुसार शराब उच्छृंखलता और अपराधों की जननी है। शराब की वजह से वासुदेव श्रीकृष्ण की स्वर्णपुरी विशेषण युक्त सम्पन्न द्वारिका नगरी का भी विनाश हो गया था।^{१२} विश्व इतिहासकार टॉयन्बी ने लिखा - 'अति प्राचीन काल से अस्तित्व में आई कुल

इक्कीस संस्कृतियों में से उन्नीस संस्कृतियों के पतन का कारण शराब है।¹³ मद्यपान से मानव की अन्तर्शक्ति क्षीण हो जाती है। शराब से विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, शौच, दया आदि गुण नष्ट हो जाते हैं।¹⁴ आचार्य हरिभद्र ने मद्यपान के सोलह दुष्परिणाम बताये हैं¹⁵ - शरीर विद्रूप होना, शरीर विविध रोगों का आश्रयस्थल होना, परिवार से तिरस्कार होना, समय पर कार्य करने की क्षमता का नहीं रहना, अन्तर्मन में द्वेष पैदा होना, ज्ञानतन्तुओं का धुन्धला होना, स्मृति क्षीण होना, बुद्धि का भ्रष्ट होना, शक्ति का न्यून होना, सज्जनों से सम्पर्क नहीं होना, दुर्जनों से सम्पर्क बढ़ना, वाणी में कठोरता, कुलहीनता, धर्म का नाश, अर्थ का नाश और काम का नाश होना।

व्यक्ति के पतन के लिए इन/इतने सारे दुर्गुणों में से कुछ ही पर्याप्त हैं। ये ही दुर्गुण समाज और देश को भी शक्तिहीन और विपन्न बनाते हैं। शराब को राजस्व का बड़ा स्रोत मानना भी भ्रम मात्र है। शराब से उत्पन्न सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक विकृतियों को दूर करने या उनसे जूझने पर सरकार को जो खर्च करना पड़ता है, वह आय की तुलना में कई गुना अधिक होता है। पुलिस और चिकित्सा पर जो खर्च होता है, उसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती है। महिलाओं पर अत्याचार और सड़क-दुर्घटनाओं में भी शराब निमित्त बनती है। ताजा नतीजों के अनुसार भारत में प्रतिवर्ष 80000 से अधिक व्यक्ति सड़क-दुर्घटनाओं में काल के ग्रास बन जाते हैं तथा 12 लाख से अधिक घायल हो जाते हैं। इन सड़क-दुर्घटनाओं की वजह से देश को 55000 करोड़ रुपयों की आर्थिक हानि उठानी पड़ती है।¹⁶ अखबारों में आये दिन जहरीली शराब से मौतों की खबरें आती रहती हैं।¹⁷ जिन समाजों में मद्य का निषेध है, वे समाज उन्नतिशील और उन्नत हैं।

3. पर-स्त्री गमन या पर-पुरुष गमन

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव को विवाह परम्परा और पारिवारिक व्यवस्था का सूत्रधार माना जाता है।¹⁸ गृहस्थ के लिए यह विधान है कि वह विधिवत् विवाहित पत्नी में सन्तोष करते हुए शेष सभी पर-नारियों के साथ मैथुन-विधि का परित्याग करें।¹⁹ एड्स जैसी महामारी के चलते आधुनिक युग में भी वैवाहिक सीमा पार नहीं करने की हिदायतें दी जाने लगी हैं। पर-स्त्री गमन (पुरुषों के लिए) या पर-पुरुष गमन (स्त्रियों के लिए) अत्यन्त निम्न स्तर का कार्य है। इससे एक या दो व्यक्ति ही नहीं, वरन् दो या दो से अधिक परिवार तहस-नहस हो

जाते हैं। समाज के गौरव और वैभव पर इसका विपरीत असर होता है। पर-स्त्री या पर-पुरुष गमन से स्थायी सुख, सच्ची शान्ति और समृद्धि नष्ट हो जाती है।

4. वैश्या-गमन

गृहस्थ के चतुर्थ व्रत में वैश्या-गमन का भी निषेध है। आज दुर्भाग्य यह है कि वैश्या-गमन को व्यापार-व्यवसाय और पर्यटन की आड़ में बढ़ावा दिया जा रहा है। गिरावट का नमूना यह है कि 'सैक्स वर्कर' के रूप में पुरुष भी इस कुधन्धे में लगे हुए हैं। जिस समाज व राष्ट्र का युवा निर्वीर्य हो जाता है, सदाचारी नहीं होता है; वह समाज व राष्ट्र विकास के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता है। अर्थशास्त्री डॉ. मार्शल ने उत्पादक श्रम की अवधारणा से वैश्यावृत्ति को बाहर निकाल दिया। अर्थशास्त्री प्रो. सैलिंगमैन का कहना है कि सच्ची आर्थिक क्रिया सदाचारपूर्ण होनी चाहिये। देह-व्यापार का सह-अस्तित्व, व्यापार-धर्म और सामाजिकता से कोई रिश्ता नहीं है। इसलिए व्यक्ति और देश की आर्थिक प्रगति में उसका कोई योगदान नहीं है।

5. शिकार

शिकार क्रूरता और कायरता का प्रतीक है। किसी भी राज्य की समृद्धि के आधारभूत वन और वन्य जीवों के नष्ट होने में शिकार भी मुख्य कारण रहा है। शिकार से सीधे तौर पर दुर्लभ वन्य जीव मारे जाते हैं। इससे वनों का पर्यावरण और पारिस्थितिकी मटियामेट हो जाती है। वन्य जीवों के प्राकृतिक आवास नष्ट हो जाते हैं और जंगल जंगल नहीं रहते हैं। इस बंहाने वन आधारित अवैध और हिंसक व्यवसाय पनपने लग जाते हैं। शिकार ने संसार के पर्यावरण को भारी नुकसान पहुँचाया। इससे आर्थिक पर्यावरण भी बिगड़ा। जिसके दुष्प्रभाव आज नजर आ रहे हैं। वन्य-जीवों की अनेक जातियाँ और प्रजातियाँ शिकार की वजह से नष्ट हो गईं। अहिंसा की अनुपालना के क्रम में जैनाचार्यों ने शिकार त्याग को अनिवार्य माना। जैन दिवाकर मुनि चौथमलजी (1877-1950) ने हजारों-हजार वनवासी बन्धुओं और राजा-महाराजाओं से शिकार-वृत्ति छुड़वाकर पर्यावरण-रक्षा में ऐतिहासिक कार्य किया। अनेक जैनाचार्यों, श्रमण-श्रमणियों और श्रावक-श्राविकाओं ने व्यसन-मुक्ति की दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया। उनकी बदौलत वन्य-जीवों की अनेक दुर्लभ प्रजातियाँ आज भी विद्यमान हैं।

6. चोरी

चोरी नहीं करने को भगवान महावीर ने अणुव्रत और महाव्रत की संज्ञा दी है। चौर्य-कर्म आर्य-कर्म (श्रेष्ठ व्यक्तियों का कार्य) नहीं है। तीर्थंकर महावीर ने बिना दी हुई किसी की वस्तु लेने का स्पष्ट निषेध किया है। यहाँ तक बिना आज्ञा के दाँत कुरेदने का एक तिनका तक नहीं लेना चाहिये।²⁰ चोरी कई रूपों में की जाती है। इसलिए प्रश्नव्याकरण सूत्र में चोरी के तीस नाम बताये गये हैं। चोरी के व्यसन का त्याग करने वाला सर्वत्र विश्वसनीय और प्रामाणिक बना रहता है, वह अपने व्यापार और वाणिज्य को चहुँ ओर फैलाता है और खूब लाभ प्राप्त करता है। आर्थिक-जगत् में चोरी का कोई स्थान नहीं है। चोरी व्यापार और व्यवहार के लिए प्रत्यक्ष रूप से हानिकारक है।

7. जुआ

वसुनन्दी ने जुआ व्यसन को प्रथम क्रम पर रखा है। सम्भव है उस समय में जुआ वृत्ति का प्रसार अधिक हो गया हो। जुआ कभी किसी का नहीं हुआ। श्रमहीनता, निष्क्रियता, आलस्य, कोरी भग्यवादिता और रातोंरात धनपति बनने की मिथ्या लालसा में आदमी जुआ और द्यूत-क्रीड़ा की बुरी लत में बुरी तरह फँस जाता है। जुआ एक नितान्त अनुत्पादक कर्म है। इसलिए यह राष्ट्र के लिए अहितकारी तथा गरीबी की जनक है। आर्थिक उन्नति और समाज उत्थान में यह बड़ा बाधक तत्व है। मेहनत और कर्तव्य भावना से धनोपार्जन का आनन्द कुछ और ही होता है। जुआरी उस आनन्द से वंचित रहता है। जुआ से स्थायी सुख-समृद्धि नष्ट हो जाती है। जुआ की बुरी लत ने कई व्यक्तियों और परिवारों को कंगाल कर दिया। यहाँ तक जुआ से सत्ताएँ भी लूटी और समाप्त हुई है। शौक से जुआ खेलना भी अच्छी बात नहीं है। ऐसा करने से जीवन के अनमोल क्षण तो नष्ट होते ही हैं, एक गलत आदत को भी प्रोत्साहन मिलता है। जो व्यक्ति पुरुषार्थ और श्रम में आस्था नहीं रखते हैं, वे ऐसी स्वप्निल कुटेवों के शिकार होकर जीवन के अनमोल समय, धन और प्रतिष्ठा को नष्ट कर बैठते हैं। समाज और देश पर भारभूत बनकर जीते हैं।

अन्य व्यसन

इन सप्त व्यसनों के अलावा भी वर्तमान में अनेक कुव्यसन चल पड़े हैं। जो समाज और देश के यौवन, धन और स्वास्थ्य को चौपट कर रहे हैं। धूम्रपान,

तम्बाकू, पानमसाला, चरस, भांग, गांजा, अफीम आदि नशीली चीजों का सेवन, नशीली दवाओं का सेवन आदि व्यसन समाज को खोखला बना रहे हैं। हम उदाहरण के तौर पर धूम्रपान/तम्बाकू-सेवन के आर्थिक तथ्यों को देखेंगे तो चौंक पड़ेंगे। व्यापारी और उद्योगपति अपने मुनाफे के चक्कर में जन-स्वास्थ्य की कोई फिक्र नहीं करते हैं। सुगन्धित तम्बाकू और गुटका उत्पादित करने वाली देश की छोटी-बड़ी 300 कम्पनियाँ वर्ष में 1200 करोड़ रुपयों का व्यापार करती हैं। इसके अतिरिक्त भारत के सिगरेट उपभोक्ता प्रतिवर्ष 23000 करोड़ रुपयों की सिगरेटें फूँक डालते हैं। 500 सिगरेटों के उत्पादन में एक पेड़ को अपनी जान गँवानी पड़ती है। वर्ष 1997-98 में देश की तीन बड़ी सिगरेट कम्पनियों ने केवल विज्ञापनों पर 257 करोड़ रुपये खर्च किये। भारत में प्रतिवर्ष करीब 3 करोड़ 50 लाख लोग तम्बाकू जनित बीमारियों के शिकार होते हैं और 7 लाख लोग मारे जाते हैं। तम्बाकू जनित बीमारियों के नियन्त्रण के लिए तम्बाकू-उद्योग से होने वाली आय से करीब 800 करोड़ रुपये अधिक खर्च होते हैं। सरकार को यह गलतफहमी है कि उसे सिगरेट उद्योग से प्रतिवर्ष 8 अरब रुपयों का राजस्व मिलता है। सच तो यह है कि इस उद्योग की वजह से उसे कैंसर के इलाज पर हर साल 30 अरब रुपयों से अधिक व्यय करना पड़ता है।²¹

व्यसन अर्थतन्त्र, लोकतन्त्र और जनस्वास्थ्य के लिए घातक होते हैं। गृहस्थाचार की निर्मल निर्दोष भूमिका के रूप में इनका त्याग परमावश्यक है। यह तथ्य है कि जैन समुदाय की सम्पन्नता की एक वजह व्यसन-मुक्त जीवन शैली है।

मार्गानुसारी के गुणों का आर्थिक पक्ष

गृहस्थाचार की भूमिका के रूप में सप्त व्यसन त्याग के साथ आचार्यों ने विविध सन्दर्भों में आगम-वाणी के आधार पर अनेक नियमों और उपनियमों की स्थापना की हैं। उनमें श्रावक के इक्कीस गुणों की चर्चा होती रहती है। किञ्चित फेरबदल के साथ अन्य आचार्यों या विद्वानों ने भी ऐसे नियम-उपनियम बनाये हैं। उनमें आचार्य हेमचन्द्र द्वारा सुझाये गये मार्गानुसारी के 35 गुणों²² में सबका समावेश हो जाता है। इन गुणों में इतनी सारी बातें आ जाती हैं कि इन्हें जीवन के सफलता के सूत्र कह सकते हैं। आर्थिक दृष्टि से इन्हें 'जीवन में आर्थिक उन्नति के उपाय' अथवा 'व्यावसायिक सफलता के सूत्र' के रूप में देखा जा सकता है। यहाँ अर्थिक दृष्टि से मार्गानुसारी के 35 गुणों की चर्चा की जा रही है।

1. **न्यायनीतिपूर्वक धनोपार्जन** : आगमों में श्रावक को धम्माजीवी बताया गया है। जिस देश के नागरिक न्यायनीतिपूर्वक धनोपार्जन करने वाले हों वहाँ अनेक आर्थिक सामाजिक समस्याओं का समाधान स्वतः हो जाता है।
2. **शिष्टाचार प्रशंसक** : जो शिष्ट होता है, वह विशिष्ट होता है। आगम ग्रन्थों में विनय, अनुशासन²³ आदि सद्गुणों का अनेक स्थलों पर वर्णन है। शिष्टता मनुष्य को आर्थिक दृष्टि से योग्य बनाती है। एक अच्छा व्यावसायी और प्रबन्धक हमेशा शिष्ट होता है। वह शिष्ट जनों की तारीफ करता है। उनसे सहयोग लेना जानता है।
3. **काम-संयम** : आगम ग्रन्थों में अनेक जगहों पर उल्लेख हैं कि धनार्जन करने के लिए व्यापारी परदेश और विदेश जाते थे²⁴ तथा दीर्घ अवधि के पश्चात् पुनः लौटते थे। बिना काम-संयम यह सम्भव नहीं था। सामान्य तौर पर भी एक सच्चरित और समर्थ व्यक्ति के लिए काम-संयम का अत्यधिक मूल्य है। इसके अतिरिक्त काम संयम के अन्तर्गत अयोग्य-विवाह का निषेध भी है। आगमों में कहा गया है कि बालभाव से उन्मुक्त होने पर²⁵, नौ अंग प्रतिबुद्ध होने पर²⁶ और गृहस्थ सम्बन्धी भोग भोगने में समर्थ होने पर²⁷ ही विवाह किया जाय। जिन कार्यालयों में महिला-पुरुष कर्मचारी साथ-साथ कार्य करते हैं, वहाँ शालीन आचरण भी काम-संयम है।
4. **पाप का भय** : एक सद्गृहस्थ पाप और बुराइयों के अलावा कभी किसी से नहीं डरता है। वह पापी से भी नहीं डरता है, अपितु अवसर मिलने पर उसे भी रूपान्तरित कर देता है।²⁸
5. **देशप्रसिद्ध आचार का पालक** : जिस देश काल में व्यक्ति जीता है, उसकी मर्यादाओं को ध्यान में रखते हुए उसके अनुसार अपना व्यवहार रखें। समाज और देश की सभ्यता, संस्कृति, परम्परा और कानून-कायदों को जानने वाला तथा उसके अनुसार आचरण करने वाला उन्नति करता है।
6. **अनिन्दनीय** : भगवान महावीर ने निन्दा को पीठ का मांस खाने सदृश कहा है।²⁹ जो पराये की निन्दा नहीं करता है, वह स्वयं भी अनिन्दनीय हो जाता है। आचार्यों ने निन्दा-निषेध में राजन्य वर्ग और प्रतिष्ठित पुरुषों की निन्दा नहीं करने की विशेष हिदायत दी है। व्यवसाय की वृद्धि के लिए यह बात बिल्कुल ठीक है।

7. **आदर्श घर :** गृहस्थ का आवास न एकदम खुला हो, न एकदम बन्द हो।³⁰ जहाँ पर्याप्त आबादी हो, रोशनी, हवा व अन्य आवश्यक सुविधाओं की समुचित व्यवस्था हो, वहाँ घर होना चाहिये। आवास अनुकूल नहीं हो तो जीवन के विकास पर प्रतिकूल असर होता है।
8. **घर के अनेक द्वार न हो :** घर से सम्बन्धित लगातार यह दूसरा नियम घर के सुव्यवस्थित और पूर्णरूप से सुरक्षित रखने पर बल देता है। इस नियम का आर्थिक पक्ष यह है कि अनेक द्वार वाला मकान सुरक्षा की दृष्टि से अनुपयुक्त होता है।
9. **सत्पुरुषों की संगति :** व्यक्ति अपने संगी-साथियों से जाना-पहचाना जाता है। इसलिए उसे आचारनिष्ठ व्यक्तियों से प्रगाढ़ व सतत् परिचय रखना चाहिये। ऐसे परिचयों से जीवन में यश और लाभ की वृद्धि होती है। भगवान महावीर ने अज्ञानी व्यक्तियों की संगति को अपकीर्तिजनक बताया है।³¹
10. **माता-पिता की सेवा :** भगवान महावीर का जीवन माता-पिता के प्रति श्रद्धा-सेवा भाव का अनुपम उदाहरण है। उन्होंने गर्भस्थिति में ही यह प्रतिज्ञा की कि माता-पिता के जीवित रहते हुए वे प्रव्रज्या अंगीकार नहीं करेंगे।³² वर्तमान युग में बढ़ते एकल परिवारों की वजह से महान उपकारी माता-पिता की उपेक्षा होने लग गई है। पारिवारिक प्रेम नहीं होने से कौटुम्बिक व्यवसाय और पुष्टतैनी धन्धों पर गाज गिरी है। यह नियम मानव को कर्तव्य का बोध कराता है।
11. **कलहप्रद वातावरण से दूर रहें :** जो क्षेत्र उपद्रव और बीमारियों से रहित हो, वहाँ रहना और व्यापार करना चाहिये। शान्ति समृद्धि की जनक है।
12. **देश, जाति व कुल के विरुद्ध आचरण नहीं करना :** सद्गृहस्थ को अपने खानपान और जीवन व्यवहार में ऐसा आचरण नहीं करना चाहिये, जिससे लोक-निन्दा हो।
13. **आय के अनुसार व्यय :** अर्थ गृहस्थ जीवन की धुरी है। उसमें पूर्ण सामंजस्य रहना चाहिये। संयमित जीवन जीने वाला आय से अधिक व्यय नहीं करता है। आजकल जो उधार के आधार पर विलासी जीवन जीने की वृत्ति चल पड़ी है, उसके दुष्परिणाम भी सामने आने लगे हैं। राष्ट्रों के बजट में भी वित्तीय मदद से विकास की अवधरणा बढ़ी है। इससे सहयोगकर्ताओं का आर्थिक दबाव

बना रहता है। ऋणों की स्वीकृति ऋणों की वापसी की सुनिश्चिता के आधार पर होनी चाहिये। देश के नागरिकों की व्यय-आदतों का प्रभाव देश की आर्थिक स्थिति पर पड़ता है।

14. **हैसियत के अनुसार वस्त्राभूषण धारण करें :** यह बात भी पूर्व बिन्दु के सन्दर्भ में समझनी चाहिये। जो व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखे बगैर वस्त्राभूषण खरीदता, संग्रह करता और धारण करता है, वह लोगों की हँसी का पात्र बनता है और अन्ततः गरीबी को न्यौता देता है।
15. **धर्मश्रवण :** जीवन व्यापारों से परिश्रान्त मानव को चाहिये कि वह धर्म की शरण लेता हुआ स्वयं को शान्त, सन्तुलित, स्वस्थ और प्रसन्न रखे। जीवन की जानी-अनजानी राहों में पग-पग पर भटकने के निमित्त मिलते हैं। उनसे बचने का उपाय है - विवेक; जो निरन्तर धर्मश्रवण और आत्म-साधना से प्राप्त होता है। धर्म-श्रवण प्रायः सामूहिक रूप में होता है, इसलिये इसका सामाजिक-आर्थिक महत्व भी है।
16. **अजीर्ण होने पर भोजन न करें :** जीवन में जिस स्वास्थ्य और सामर्थ्य की आवश्यकता धर्म-पथ पर चलने के लिए होती है, संभवतः उससे अधिक अर्थोपार्जन के लिए होती है। इसलिए अधिकांश नियम, धर्म और धन दोनों की प्राप्ति के लिए महत्वशाली हैं। जैन धर्म तप प्रधान है। पहली बात तो यह है कि अजीर्ण हो ही नहीं और हो जाय तो भोजन नहीं करना ही उसका इलाज है। धन-संग्रह के अतिरेक पर भी इसी तरह विराम लगाना चाहिये। धन का अजीर्ण भी नहीं होना चाहिये।
17. **नियत समय पर प्रमाणोपेत आहार करना :** जैनाचार में आहार के लिए नियत समय दिन का समय है। वर्तमान समय में सामूहिक रात्रि भोजों के नाम पर जो आडम्बर, प्रदर्शन किया जाता और पैसा बहाया जाता है, वह समाजशास्त्रियों और अर्थशास्त्रियों के लिए चिन्तनीय है। इन भोजों में खाने-पीने की वस्तुएँ परस्पर विरोधी स्वभाव की और अधिक संख्या में होती हैं। व्रती गृहस्थ ऐसी अनार्थिक व फिजूल क्रियाओं पर अंकुश लगा सकते हैं।
18. **अविरोधी भाव से त्रिवर्ग की साधना करें :** भारतीय मनीषियों ने चार पुरुषार्थ पर बल दिया है। इनमें धर्म, अर्थ और काम को त्रिवर्ग माना गया है। मोक्ष को धर्म में समाविष्ट माना गया है। तीनों परस्पर आश्रित भी हैं और

स्वतन्त्र भी। गृहस्थ अपने जीवन को इतना सन्तुलित और विवेकसम्पन्न बनायें जिससे त्रिवर्ग की साधना निर्विघ्न रूप से हो सके।

19. **अतिथि सेवा** : भारतीय संस्कृति में अतिथि सत्कार का अत्यधिक महत्व है। आगम साहित्य³³ में आतिथ्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि गृहस्थ के घर पर अतिथि के आने पर वह हर्षित, प्रफुल्लित हो जाता। वह उसकी अगवानी में सात-आठ कदम सामने जाता, मधुर वाणी से उनका सत्कार करता। तत्पश्चात् वह जलपान आदि से उसका सत्कार करता। अतिथि के लौटने पर पुनः उन्हें पहुँचाने जाता। व्यवसाय जगत में भी आतिथ्य का महत्व है। इससे व्यवसाय पर अनुकूल असर पड़ता है, वह फलता-फूलता और बढ़ता है।
20. **आग्रहशील न होना** : भगवान महावीर के धर्म में दुराग्रह और कदाग्रह को कोई स्थान नहीं है। उनके धर्म, दर्शन, जीवन और व्यवहार में सर्वत्र अनेकान्त और अनाग्रह है। वहाँ सत्याग्रह और सत्यग्राहिता है। हठाग्रही व्यक्ति संकीर्ण होता है। वह अपने विकास के रास्ते स्वयं बन्द कर देता है।
21. **गुणानुरागिता** : प्रत्येक व्यक्ति में कोई न कोई विशेषता होती है। गुणानुरागिता एक ऐसा सद्गुण है, जिससे संसार भर के सद्गुणों को अपनी ओर आकर्षित किया जा सकता है। जैनागम साहित्य में गुणानुरागिता के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं।³⁴ दूसरों में अवगुण ढूँढ़ने वाला स्वयं अवगुणी बन जाता है। छिद्रान्वेषी सद्गुणी नहीं बन सकता।
22. **देशकालेचित आचरण** : देश काल के अनुसार बहुत सारी बातें बदल जाती हैं। विवेकशील व्यक्ति को अपने काम-काज देश काल को देखते हुए करने चाहिये। जिससे उसे उपहास का पात्र नहीं बनना पड़े और लाभ की प्राप्ति हो। अयोग्य देश और अयोग्य काल में गमन नहीं करना चाहिये।
23. **शक्ति के अनुसार कार्य** : सद्गृहस्थ को अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार ही किसी कार्य को हाथ में लेना चाहिये। एक युवा को अपने व्यवसाय के चुनाव में अपनी योग्यता, रुचि और सामर्थ्य का ध्यान रखना चाहिये। आगम ग्रन्थों में बताया गया है कि आचार्य और उपाध्याय शिष्यों को उनकी योग्यता और पात्रता के अनुसार ज्ञान प्रदान करें और दायित्व सौंपें।

24. **व्रती और ज्ञानीजनों की सेवा** : आचारवृद्ध और ज्ञानवृद्ध पुरुषों को अपने घर आमन्त्रित करना, आदरपूर्वक बिठलाना, सम्मानित करना और उनकी यथोचित सेवा करनी चाहिये। गुण और योग्यता में श्रेष्ठजनों का मान-सम्मान करने वाले विकास की दौड़ में सदैव आगे रहते हैं। जिनके पास ज्ञान, आचार और अनुभव हैं, उनकी सेवा सुश्रूषा से सदुणों का प्रसार होता है। आगमों में स्पष्ट निर्देश हैं कि उग्र में लघु, परन्तु ज्ञान और आचार में श्रेष्ठतर आदरणीय और वन्दनीय होता है।
25. **उत्तरदायित्व निभाना** : भारतीय संस्कृति में चार आश्रम बताये गये हैं। गृहस्थाश्रम पर सभी आश्रम आश्रित होते हैं। इस प्रकार गृहस्थ पर चौतरफा जिम्मेदारियाँ होती हैं। गृहस्थ अपने माता-पिता व परिवारजनों के प्रति कर्तव्यों को नहीं भूलें तथा गुरुजनों व समाज के प्रति कर्तव्यों को भी याद रखें। वह अपने जीवन को इतना साधे कि सारे उत्तरदायित्वों को यथासमय भलीभाँति निभा सकें।
26. **दीर्घदर्शी** : गृहस्थाचार का ठीक प्रकार से पालन करने के लिए दूरदर्शिता अत्यन्त जरूरी है। भगवान महावीर के परम भक्त राजा श्रेणिक के पुत्र और मगध के महामंत्री अभयकुमार को बहुत बुद्धिमान और दीर्घदर्शी माना जाता है। वह हर कार्य को दूरदर्शितापूर्वक बहुत सोच विचार कर करता था। आज भी जैन गृहस्थ अपनी व्यवसायिक बहियों व लेखा-पुस्तकों में लिखकर अभयकुमार जैसी बुद्धि की कामना करते हैं।
27. **विशेषज्ञ** : गृहस्थ को अपने कार्यों में निष्णात होना चाहिये। वह अपनी व्यावसायिक निपुणता से लाभ भी प्राप्त करता है और यश भी। वह जीवन और व्यापार में नित नये प्रयोग करता है। उसे व्यवसाय के अलावा धर्म-विधि, रीति-रिवाज सबमें कुशल होना चाहिये।
28. **कृतज्ञ** : कृतज्ञता बहुत बड़ा गुण है और कृतघ्नता बहुत बड़ा अवगुण। सदगृहस्थ में यह भावना गहरे तक होनी चाहिये कि वह उपकारी के उपकार को मारें। जीवन में उपकारियों के प्रति कृतज्ञ बना रहे। स्वयं किसी पर उपकार करें तो उसे गिनाये नहीं।
29. **लोकप्रिय** : एक सदगृहस्थ से यह आशा की जाती है कि वह कोई कार्य ऐसा नहीं करें जिससे उसकी अपकीर्ति हो। वह अपने कार्यों और सदुणों से सबका

प्रियपात्र-बनें और बना रहें। भगवान महावीर के प्रमुख श्रावक आनन्द के लिए कहा गया है कि उसका घर, परिवार, समाज, व्यवसाय, शासन, प्रशासन आदि सब जगहों पर समादर किया जाता था तथा उसकी राय को तवज्जो दी जाती थी।³⁵

30. **लज्जाशील** : जीवन में कौटुम्बिक व सामाजिक मान मर्यादाओं का ध्यान रखना पड़ता है। श्रावक जहाँ संकोच करना हो, कहाँ संकोच करें और गरिमा बनायें रखें। श्राविकाओं में लज्जा गुण की विशेष अपेक्षा की जाती है। वे लज्जाशीलता को लज्जित करने वाला वस्त्र-विन्यास नहीं करें। जिससे उनकी स्वयं की अस्मिता और कुल-गौरव पर आँच नहीं आए।
31. **दयावान** : दया जैनाचार का प्राण है। जैनाचार के लिए आधारभूत सम्यक्दर्शन का एक लक्षण है - अनुकम्पा। दयावान कभी अपने से कमजोर का शोषण नहीं कर सकता। वह जीव-हिंसा से भी बचकर रहता है।
32. **सौम्यता** : भगवान महावीर ने धर्म के दस लक्षणों में आर्जव (ऋजुता) और मार्दव (मृदुता) को स्थान दिया है। स्वभाव से सरल और मधुर व्यक्ति जीवन में उन्नति करते हैं। सौम्य व्यक्ति अपने व्यावसायिक और गैर-व्यावसायिक सम्बन्धों को मधुर तथा चिरस्थायी बनाते हैं।
33. **परोपकारी** : परोपकारिता में एहसान नहीं अपितु कर्तव्य भवना मुख्य होनी चाहिये। गृहस्थ यह कामना करता है कि 'बने जहाँ तक इस जीवन में औरों का उपकार करूँ।'³⁶ आगम ग्रन्थों में परोपकार को पुण्यवर्धन का हेतु बताया गया है। परोपकार का सामाजिक-आर्थिक महत्व भी कम नहीं है।
34. **षड्रिपु-विजेता** : आगमों में मानव के छः आन्तरिक शत्रु बताये गये हैं - काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य (ईर्ष्या)। एक श्रेष्ठ मानव के लिए इन सभी अन्तर्शत्रुओं पर नियन्त्रण आवश्यक है।
35. **इन्द्रिय-विजेता** : मार्गानुसारी का यह 35वाँ नियम है। जिन्होंने इन्द्रियों को पूर्ण रूप से जीत लिया, वे जिन हैं और जिन/जिनेश्वर प्रभु के बताये पथ पर चलने वाले जैन कहलाये। इसलिए इन्द्रिय विजय जैनाचार की मुख्य साधना है। जो व्यक्ति व्रतों की ओर अग्रसर होना चाहता है, उसे इन्द्रियों को काबू में रखने का अभ्यास करना पड़ेगा। यह अभ्यास आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं, सामाजिक और व्यावसायिक दृष्टि से भी महत्व रखता है। जो व्यक्ति षड्रिपुओं

और पाँच इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए सजगता पूर्वक यत्नशील है, जीवन के हर क्षेत्र में सफलता उसके चरण चूमेगी।

आचार्य हेमचन्द्र ने मार्गानुसारी के इन पैंतीस नियमों के अन्त में लिखा है कि 'गृहिधर्माय कल्पते' यानि जो इन गुणों को धारण करता है, वह सद्गृहस्थ की भूमिका पर प्रतिष्ठित होता है। मार्गानुसारी के अनेक नियमों का सम्बन्ध आर्थिक और व्यावसायिक जीवन से है। अर्थनीति में नीति की स्थापना और नीति का पालन व प्रचार मार्गानुसारी के नियमों के माध्यम से सम्भव है।

सन्दर्भ

1. भद्रबाहु (आचार्य), अंगाणं किं सारो ? - आयारो। आचारांग निर्युक्ति
2. स्थानांग 2/1
3. अभिधान राजेन्द्र कोश, खण्ड 2, पृ. 106
4. वसुनन्दी श्रावकाचार 59
5. धींग दिलीप (डॉ.) का लेख 'सप्त कुव्यसनो का परित्याग करे' दृटव्य।
6. स्थानांग सूत 4
7. सूतकृतांग 2/6/52-55
8. महाप्रज्ञ, आचार्य, श्रमण महावीर पृ.-156
9. मूलचार 353
10. विपाकसूत 1/6
11. दशवैकालिक सूत 5/2/38-40
12. अन्तकृतदशांग प्रथम अध्ययन पंचम वर्ग
13. नेमीचन्द (डॉ.) शराब : 100 तथ्य, पृ.-34
14. योगशास्त्र 3/16
15. हरिभद्रीय अष्टक 14-16
16. दि इकोनोमिक टाइम्स, नई दिल्ली दिनांक 20 जनवरी, 2005, पष्ठ-4
17. देखें राजस्थान पत्रिका 22 जनवरी, 2005 मुखपृठ
18. आवश्यकनिर्युक्ति 191-193, तिषष्टि. 1/2/881
19. उपासकदशांग चौथा व्रत
20. उत्तराध्ययन 19/28, एवं देखें सूतकृतांग 10/2 और प्रश्नव्यावरण 2/3
21. नेमीचन्द (डॉ.) धूम्रपान : 100 तथ्य।
22. योग शास्त्र 47-56

23. उत्तराध्ययन प्रथम अध्ययन
24. देखिये - ज्ञाताधर्मकथांग
25. उमुक्क बालभावे - व्याख्याप्रज्ञप्ति 11/11
26. णवंग सुत्त पडिबोहिए - ज्ञाता. 1/1
27. अलं भोगे समत्थे - व्याख्याप्रज्ञप्ति 11/11
28. अन्तगडदसाओ - सुदर्शन का उदाहरण।
29. पिट्टिमंसं न खाइज्जा - दशवैकालिक 8/84
30. योगशास्त्र 1/49
31. आंचारांग - अलं बालस्स संगेण, वैरं वड्ढइ अप्पणो।
32. कल्पसूत्र-91
33. विपाक सूत्र - सुबाहुकुमार
34. देखिये - अन्तकृतदशासूत्र में श्रीकृष्ण चरित
35. उवासगदसाओ - प्रथम अध्ययन
36. युगल किशोर 'युगवीर' - मेरी भावना।

अध्याय पंचम : अहिंसा और संयम का अर्थशास्त्र

परिच्छेद एक

सिद्धान्त व दर्शन का अर्थशास्त्र

परिच्छेद दो

अनेकान्त, कर्मवाद और पुरुषार्थ

परिच्छेद तीन

कषाय-मुक्ति और सम्पन्नता

परिच्छेद चार

आत्मवाद और अर्थशास्त्र

परिच्छेद पाँच

अहिंसा के अर्थशास्त्र के आयाम

परिच्छेद छः

संयम के अर्थशास्त्र के आयाम

सिद्धान्त व दर्शन का अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ने प्राणी जगत में मानव को 'आर्थिक-प्राणी' (Economic Animal) की संज्ञा दी है। मानव येन-केन-प्रकारेण अर्थ-प्राप्ति के यत्न करता है। इस अर्थ-प्राप्ति में वह कई बार साधन-शुद्धि जैसी अच्छी बातों को नजरअन्दाज कर देता है। ऐसे समय में अर्थशास्त्र को एक नीति और अर्थ-नीति की आवश्यकता होती है। अब तक की अर्थ-नीतियों में मानव के भौतिक कल्याण को ही प्रमुखता दी गई। उसमें नीतियाँ (Policies) तो बहुत रही, पर नैतिकता (Morality) का अभाव रहा। वैसी अर्थनीति से हिंसा-अहिंसा का विवेक गायब हो गया। अर्थ से जीवन संचालित होता है, अहिंसा से जगत् संचालित होता है।

हिंसा पर खड़ी अर्थ-व्यवस्थाएँ जब अपने पाँव पसारने लगती हैं तो संसार की अन्य व्यवस्थाएँ चरमराने लगती हैं। कोई अपने अधिकारों के लिए (कर्तव्यों के लिए नहीं) हल्ला मचाता है तो कोई छीना-झुपटी और तोड़-फोड़ को जायज ठहराता है। प्रकृति के विनाशकारी रौद्र रूप के संकेतों को भी मनुष्य या तो समझता नहीं है या समझना नहीं चाहता है। और कहीं समझ भी लेता है तो उसे शीघ्र भूलकर रोजमर्रा के अपरीक्षित और असमीक्षित जीवन जीने में लग जाता है। जीवन से सम्बन्धित रुपयों-पैसों का पाई-पाई का हिसाब वह लगाता है। परन्तु रुपयों-पैसों से सम्बन्धित जीवन का लेखा-जोखा वह नहीं कर पाता है। वह न अपनी कामनाओं को कम करता है, न परिवार को। वह विराट् सत्ता का मालिक बनकर सब पर अपनी धौंस जमाना चाहता है।

ऐसी विषम विकट स्थिति में अहिंसा और संयम जैसे मूल्य मानवता व दुनिया को बचा सकते हैं। अर्थशास्त्र जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करता है। यदि इन मूल्यों की अर्थ-नीति में प्रतिष्ठा कर दी जाय तो मानव-जाति अनेक समस्याओं से असानी से मुक्त हो सकती है। भगवान महावीर के आचार-दर्शन का अर्थशास्त्रीय अध्ययन करते हुए ऐसा लगता है जैसे अर्थ-नीति के नियमों को पढ़ रहे हो। उनके सिद्धान्त और दर्शन में भी अर्थशास्त्र के दिशा निर्देशक तत्त्वों की प्रचुरता है।

सिद्धान्त व दर्शन का अर्थशास्त्र के साथ सह-सम्बन्ध

जैन आचार अर्थशास्त्र के अधिक निकट है और जैन दर्शन विज्ञान के अधिक निकट है। दर्शन की सार्थकता उसके आचार में होती है। दर्शन आचार का अन्तःशरीर होता है। जो दर्शन किसी व्यक्ति या विषय का व्यक्तित्व या स्वरूप नहीं बदल सके, वह दर्शन ही क्या। दर्शन अनुपयोगी नहीं होता है। सिद्धान्त और दर्शन की अर्थशास्त्रीय उपयोगिता पर यहाँ चर्चा की जा रही है।

तत्त्वज्ञान

जैन दर्शन के मूलतः दो तत्त्व हैं - जीव और अजीव।¹ अर्थशास्त्र के दो तत्त्व हैं - अर्थ और मनुष्य। जीव चेतना सम्पन्न है, वह सुख-दुःख का वेदन करता है। संसार उसके सुख व दुःख की सकारात्मक और नकारात्मक तरंगों से प्रभावित होता है।² संसार उसकी नकारात्मक तरंगों से पीड़ित नहीं हो, इसके लिए अहिंसा का सिद्धान्त उपयोगी बन पड़ता है। यह सिद्धान्त आर्थिक जगत में मनुष्य को केन्द्र में रखता है तथा मनुष्येतर प्राणियों के प्रति भी करुणा का भाव रखता है। दूसरी दृष्टि से नौ तत्त्व हैं - जीव-अजीव के अलावा पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष।³ इनमें से कुछ तत्त्वों का अर्थशास्त्रीय मूल्य है।

पुण्य तत्त्व

जो शुभ, श्रेष्ठ, पुनीत व प्रशस्त है, वह पुण्य है।⁴ पुण्य जीवन में सुख पैदा करता है। पुण्य के नौ प्रकार बताये गये हैं⁵ -

1. **अन्न पुण्य** : अन्न जीवन का प्राण है। गरीब अमीर सबकी भूख वह शान्त करता है। रईस कोई सोने-चाँदी या हीरे-मोती नहीं खाते। अन्न (आहार) दिलों को जोड़ता है। समाज में समरसता पैदा करता है। लोकाचार का वह मुख्य माध्यम है। ऐसे जीवनदायी अन्न का अपमान कभी नहीं करना चाहिये। जो व्यक्ति आधा खाते और आधा फेंकते हैं, जूठन छोड़ते हैं, वे बड़ा मानवीय, राष्ट्रीय व आर्थिक अपराध करते हैं। एक तरफ भूख से लाखों लोग छटपटते हों, दूसरी ओर माल मिठाई को नालियों में फेंकने के लिए छोड़ देना कतई उचित नहीं है।
2. **पान पुण्य** : अन्न जीवनदायी है, उससे पूर्व जल की जीवनदायिता है। विज्ञान और उपभोक्तावाद के बढ़ने से जल का अथाह अपव्यय मानव करने लगा है। धरती के ऊपर और भीतर के जल भण्डार-स्थलों को मानव ने भारी क्षति

पहुँचाई है। जल के वाणिज्यिक उपयोग ने उस पर कहर बरपा दिया। अब 'पानी बचाओ' का नारा दिया जा रहा है। 'पहले सबको शुद्ध पेय जल, फिर उसका अन्य उपयोग' एवं 'सीमित जल से विकास कैसे हो?' ये सूत्र अर्थ-नीति के पान-पुण्य हैं।

3. **ल्यन पुण्य** : रहने के लिए सबको आश्रय चाहिये। हमारी अर्थव्यवस्था सबको समुचित व सुरक्षित आवास मुहैया कराने में सफल हो, ऐसी नीति बननी चाहिये। हमारे नीति-निर्माताओं को यह चिन्ता होनी चाहिये कि क्यों आज भी लाखों लोगों को खुले आकाश तले सोना पड़ता है।
4. **शयन पुण्य** : किसी को रैन बसेरा तथा शैया प्रदान करना शयन पुण्य है। कोई ऐसा विपरीत आचरण नहीं करें, जिससे किसी की नींद हराम हो जाय।
5. **वस्त्र पुण्य** : धरती पर अनेक जनों को अभाव के कारण तन को ढाँकने के लिए पूरे कपड़े नहीं मिलते हैं। हो सकता है, कोई धनाढ्य प्रचुर अन्न-वस्त्र का दान करता हो; परन्तु वह यदि अन्न का अपव्यय करता है और पहनने ओढ़ने के वस्त्रों का अनावश्यक संग्रह करता है तो वह समग्र रूप से इन चीजों का अभाव पैदा करता है अथवा इन चीजों को महंगी करता है। अपव्यय और अतिसंग्रह न प्रकृति को मंजूर है, न ही अर्थतन्त्र को। संग्रहवृत्ति पाप का कारण है और असंग्रह पुण्य का।
6. **मन पुण्य** : मन से अपने और दूसरों के हित का चिन्तन करना मन पुण्य है। दूसरों का अहित चाहकर अपना हित साधने वाला सुख व सफलता की लम्बी यात्रा नहीं कर सकता। हृदय में मंगल भावनाएँ संजोने वाला मनस्वी होता है। एक मनस्वी व्यक्ति अच्छा प्रबन्धक व सफल व्यवसायी होता है।
7. **वचन पुण्य** : वाणी की सत्ता भी बहुत विराट् होती है। उसके विवेक सम्मत उपयोग से सर्वत्र सफलता हासिल होती है। जो वाणी किसी भी प्राणी का अहित नहीं करती, वह उत्तम होती है। सम्पन्न बनने के लिए वचनों की दरिद्रता छोड़नी पड़ेगी।
8. **काया पुण्य** : स्वस्थ शरीर के सहारे जीवन निर्विघ्न आगे बढ़ता है। किसी के श्रम का शोषण नहीं करना अर्थशास्त्रीय काया-पुण्य है। एक उदाहरण लें। कोई व्यक्ति एक रोटी झूठी छोड़ता है तो वह गेहूँ बोने वाले किसान के श्रम का अपमान करता है, साथ ही वह रोटी बनाने वाली गृहिणी या रसोइये के श्रम

का भी अपमान करता है। भगवान महावीर कहते हैं कि अचित्त वस्तुओं के उपयोग में भी विवेक रखना चाहिये।

9. **नमस्कार पुण्य** : जैन धर्म का सर्वमान्य मन्त्र नमस्कार है। जीवन की सफलता और सार्थकता अहंकार को परास्त करने में है। भौतिक जीवन की सफलता भी व्यक्ति की नम्रता, भद्रता, ऋजुता, मृदुता, सरलता और सहजता पर निर्भर है। नमस्कार से तो प्रत्यक्ष पुण्य-लाभ होता है।

जैसे पैसे से पैसा बढ़ता या बढ़ाया जा सकता है, वैसे ही पुण्य से पुण्य बढ़ता या बढ़ाया जा सकता है। जैसे पैसे का दुरुपयोग पतन का कारण बनता है, वैसे ही पुण्य, यश, वर्चस्व आदि का दुरुपयोग पतन का कारण बनता है। पुण्य एक ऐसी आय है, जिस पर किसी भी युग के किसी भी राज्य या राजा ने कभी कोई कर नहीं लगाया। इसलिए इस कर-मुक्त आय का खूब अर्जन करना चाहिये? जो व्यक्ति इन नौ प्रकार से पुण्यार्जन करता है, वह 42 प्रकार से लाभ प्राप्त करता है? जिससे व्यक्ति सुख, सम्पत्ति, सौभाग्य, बल, यश, सौन्दर्य, कुलीनता, शालीनता, तेजस्विता आदि अनुकूलताएँ प्राप्त करता है।

पाप तत्त्व

यह कितने रहस्य की बात है कि शुभ और अशुभ कार्यों को आगम-ग्रन्थों में तत्त्व कहा है। सचमुच, जिन कार्यों के प्रभाव पर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता है, वस्तुतः, वे बहुत प्रभावशाली होते हैं। इसलिये उन्हें तत्त्व कहकर उनकी ओर ध्यानाकर्षित किया गया है। पाप अठारह बताये हैं? प्रथम पाँच है - हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनका वर्णन गृहस्थाचार में किया गया। अगले चार है - क्रोध, मान, माया और लोभ। इनका वर्णन कषाय-मुक्ति के अनुच्छेद में किया जायेगा।

दसवाँ है - राग और ग्यारहवाँ - द्वेष। पाप के ये भेद संकेत करते हैं कि अर्थशास्त्रीय नीतियाँ सर्वोदय करने वाली हों। किसी वर्ग और समुदाय विशेष को लाभान्वित करने वाली नीतियों से समता का सपना टूटता है। जो व्यवसायी सभी ग्राहकों के प्रति समान मूल्य और समान व्यवहार रखता है, वह अपनी साख बनाता है। जो व्यक्ति जीवन के इन कार्यों में राग-द्वेष को मन्द करने का अभ्यास बनाता है, वह विश्वसनीय बनता है और आगे की यात्रा सानन्द सम्पन्न करता है।

बारहवाँ पाप है - कलह। कलह एक ऐसा पाप-तत्व है, जो परिवार से लगाकर देश और दुनिया में तक होता है। अधिकांश पारिवारिक कलहों का मूल कारण अर्थ होता है। व्यक्ति को अर्थ के सम्बन्ध में पारदर्शी, उदार और सुस्पष्ट रहना चाहिये। राष्ट्रीय और वैश्विक कलहों के मूल में भी प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से अर्थ कारण बनता है। अपने अधिकार क्षेत्र के बाहर की सत्ता व सम्पत्ति पर हक जमाने की कोशिशें कलह पैदा करती हैं। कलह के अन्य कारणों से भी बचना चाहिये। क्यों कि कलह जीवन और जगत के अर्थ-तन्त्र को तार-तार कर देता है। इस सम्बन्ध में वैदिक ऋषियों ने कहा कि कलह करने वाला जीवन में सुख-समृद्धि, लक्ष्मी और सौभाग्य को प्राप्त नहीं कर सकता।¹⁰

तेरहवाँ पाप है - अभ्याख्यान। इसका अर्थ होता है - मिथ्या दोषारोपण। झूठे आरोप लगाना बन्द हो जाय तो अनेक झगड़े-टण्टे समाप्त हो जाय। न्यायालय पर अनावश्यक कार्य भार कम हो जाय। चौदहवाँ और पन्द्रहवें पाप हैं - पैशुन्य (चुगली) तथा परपरिवाद (पर-निन्दा)। किसी के बारे में दुर्भावना से सच्ची-झूठी शिकायतें करना चुगली है। निन्दा और चुगली व्यक्तियों और देशों के बीच वैमनस्य पैदा करती है। इन चीजों से स्वयं का, समाज और देश का विकास दुष्प्रभावित होता है।

सोलहवाँ पाप है - रति-अरति। बच्चों की टीवी के अनावश्यक कार्यक्रम प्रिय लगते हैं और अच्छी बातें अप्रिय। इससे उनकी पढ़ाई, स्वास्थ्य और कैरियर प्रभावित होता है। जहाँ तक बड़ों का सवाल है, मौज-मस्ती और सैर सपाटों में रुचि लेने वाले और अनुशासन व परिश्रम से जी चुराने वाले विपन्नता को आमन्त्रित करते हैं। हमें हमारी प्रियताओं व अप्रियताओं को अर्थशास्त्र के उपयोगिता के सिद्धान्त के सन्दर्भ में देखना चाहिये।

अन्तिम दो पाप हैं - मायामृषावाद और मिथ्यादर्शन। इन पापों से बचने के लिए व्यक्ति को छल-कपट और गलत धारणाओं से बचना चाहिये। गरीबी और अमीरी को पिछले जन्मों के पुण्य-पाप का ही परिणाम मान लेने से भारतीय समाज में अप्रिय स्थितियाँ पैदा हो गई थी। पुण्य-पाप के दर्शन को वैज्ञानिक अर्थशास्त्रीय दृष्टि से देखने पर हमें समाधान मिलता है और नव-निर्माण की दिशा भी।

आश्रव, बन्ध और संवर

अर्थशास्त्र का आश्रव है - निरंकुश ढंग से आवश्यक-अनावश्यक खर्चों का होना और होते जाना। संयमित जीवन दृष्टि ऐसे खर्चों पर विराम लगाती है। यह

की संख्या व उपयोग को सीमित करना। इसे उपकरण अवमोदरिका कहा गया है। द्वितीय, निरर्थक विचारों को कम करना। इसे भाव अवमोदरिका कहा गया है। सूत्रकृतांग में कहा गया 'अप्य भासेज्ज सुव्वए'¹⁵ साधक को कम-से-कम शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। ऊनोदरी तप व्यक्ति को मर्यादित, संयमित और योग्य बनाता है।

3. **भिक्षाचरी** : इस तप की व्यवस्था उन साधकों के लिए विशेष तौर पर की गई है, जो समाज के नैतिक आध्यात्मिक उत्थान के लिए अपना घर-बार तक छोड़ देते हैं। बड़े व महान उद्देश्य/उद्देश्यों के लिए अनुदान की आकांक्षा भिक्षाचर्या है। आगमों में इस तप के लिए बहुत अर्थपूर्ण शब्द मिलते हैं, जैसे - गोचरी¹⁶ और माधुकरी-वृत्ति।¹⁷ गोचरी का शब्दार्थ है, मूल नष्ट किये बगैर घास चरना। माधुकरी का अर्थ है, जैसे भौरा फूलों को कष्ट दिये बगैर अपनी क्षुधा शान्त कर लेता है, वैसे ही साधक को भिक्षाचरी करनी चाहिये। इनका अर्थशास्त्रीय अर्थ यह है कि ग्राहक को कष्ट दिये बगैर व्यवसाय करना और प्रजा को कष्ट दिये बगैर कर-संग्रहण करना। व्यवसायी मुनाफाखोरी नहीं करें और सरकार अनुचित करारोपण नहीं करें तथा हर प्रकार के करदाता से थोड़ा-थोड़ा कर प्राप्त करके राजकोष भरे।
4. **रस-परित्याग** : आज की भाषा में कहा जाय तो वसा-युक्त आहार पर अंकुश लगाना रस-परित्याग है। महात्मा गांधी ने जो अस्वाद-व्रत बताया, वह रस-परित्याग का ही रूप है। स्वाद के वशीभूत होकर स्वास्थ्य और बजट की अवहेलना नहीं करनी चाहिये। हृदय-रोग, मधुमेह, उच्च रक्तचाप, कैंसर आदि बीमारियों का सीधा सम्बन्ध वसा-युक्त आहार का अधिक सेवन है। उत्तराध्ययन में अधिक सरस आहार को उत्तेजना पैदा करने वाला बताया गया है।¹⁸ रस-परित्याग तप से व्यक्ति अनेक रोगों से बचा रहेगा, वह उत्तेजना का व्यवहार नहीं करेगा। इससे इन रोगों पर होने वाला व्यक्तिगत और राजकीय व्यय नहीं होगा तथा उत्तेजना जनित समस्याएँ समाप्त होगी।
5. **कायकेश** : जीवन में कष्टों को समभाव से सहन/स्वीकार करना तप है। ऐसे कायिक कष्ट झेलना कायकेश है। यदि हम गर्मी में बिना पंखा चलायें अथवा ए.सी. या कुलर की बजाय पंखे से ही काम चला सकते हैं, तो हम सहज रूप से कायकेश तप कर लेंगे। इसी तरह सर्दी में बिना हीटर या ए.सी. रह सकें तो

की संख्या व उपयोग को सीमित करना। इसे उपकरण अवमोदरिका कहा गया है। द्वितीय, निरर्थक विचारों को कम करना। इसे भाव अवमोदरिका कहा गया है। सूत्रकृतांग में कहा गया 'अप्य भासेज्ज सुव्वए'¹⁵ साधक को कम-से-कम शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। ऊनोदरी तप व्यक्ति को मर्यादित, संयमित और योग्य बनाता है।

3. **भिक्षाचरी** : इस तप की व्यवस्था उन साधकों के लिए विशेष तौर पर की गई है, जो समाज के नैतिक आध्यात्मिक उत्थान के लिए अपना घर-बार तक छोड़ देते हैं। बड़े व महान उद्देश्य/उद्देश्यों के लिए अनुदान की आकांक्षा भिक्षाचर्या है। आगमों में इस तप के लिए बहुत अर्थपूर्ण शब्द मिलते हैं, जैसे - गोचरी¹⁶ और माधुकरी-वृत्ति।¹⁷ गोचरी का शब्दार्थ है, मूल नष्ट किये बगैर घास चरना। माधुकरी का अर्थ है, जैसे भौरा फूलों को कष्ट दिये बगैर अपनी क्षुधा शान्त कर लेता है, वैसे ही साधक को भिक्षाचरी करनी चाहिये। इनका अर्थशास्त्रीय अर्थ यह है कि ग्राहक को कष्ट दिये बगैर व्यवसाय करना और प्रजा को कष्ट दिये बगैर कर-संग्रहण करना। व्यवसायी मुनाफाखोरी नहीं करें और सरकार अनुचित करारोपण नहीं करें तथा हर प्रकार के करदाता से थोड़ा-थोड़ा कर प्राप्त करके राजकोष भरे।
4. **रस-परित्याग** : आज की भाषा में कहा जाय तो वसा-युक्त आहार पर अंकुश लगाना रस-परित्याग है। महात्मा गांधी ने जो अस्वाद-व्रत बताया, वह रस-परित्याग का ही रूप है। स्वाद के वशीभूत होकर स्वास्थ्य और बजट की अवहेलना नहीं करनी चाहिये। हृदय-रोग, मधुमेह, उच्च रक्तचाप, कैंसर आदि बीमारियों का सीधा सम्बन्ध वसा-युक्त आहार का अधिक सेवन है। उत्तराध्ययन में अधिक सरस आहार को उत्तेजना पैदा करने वाला बताया गया है।¹⁸ रस-परित्याग तप से व्यक्ति अनेक रोगों से बचा रहेगा, वह उत्तेजना का व्यवहार नहीं करेगा। इससे इन रोगों पर होने वाला व्यक्तिगत और राजकीय व्यय नहीं होगा तथा उत्तेजना जनित समस्याएँ समाप्त होगी।
5. **कायक्लेश** : जीवन में कष्टों को समभाव से सहन/स्वीकार करना तप है। ऐसे कायिक कष्ट झेलना कायक्लेश है। यदि हम गर्मी में बिना पंखा चलायें अथवा ए.सी. या कुलर की बजाय पंखे से ही काम चला सकते हैं, तो हम सहज रूप से कायक्लेश तप कर लेंगे। इसी तरह सर्दी में बिना हीटर या ए.सी. रह सकें तो

यह तप हो जायेगा। इससे हमारी प्रतिरोधक शक्ति बढ़ेगी और बिजली का अनुत्पादक खर्च रुक जायेगा। यह तप व्यक्ति को कष्ट सहिष्णु बनाता है। भगवान महावीर का जीवन कष्ट-सहिष्णुता का उत्कृष्ट प्रतिमान है।

6. **प्रतिसंलीनता** : इन्द्रिय-वृत्तियों और मन की चंचलता को रोकना प्रतिसंलीनता है। जैसे बाहरी संकटों को जानकर कछुआ अपनी इन्द्रियाँ कवच के अन्दर कर लेता है, वैसे ही साधक को अपनी वृत्तियों को समेटने का अभ्यास करना चाहिये। मूलराधना में इस तप को 'विविक्त शयनासन' कहा है। जिसका अर्थ होता है - शब्द, रस, गंध और स्पर्श से चित्त का विक्षेप नहीं होना।¹⁹ 'विविक्त शयनासन' के बिना एक सैनिक अपना जीविकोपार्जन और कर्तव्यपालन कैसे करेगा ? राजकीय कर्मचारी दफ्तर में बैठा है। उसकी मेज पर फोन है। मन हुआ किसी से अनावश्यक बातें करने का। सरकारी फोन और अपने समय का दुरुपयोग जानकर वह वैसा नहीं करता है तो वह उसका प्रतिसंलीनता तप है।

7. **प्रायश्चित्त** : प्रायश्चित्त के लिए प्राकृत भाषा में 'पायच्छित्त' शब्द है। 'पाय' का अर्थ है पाप और 'च्छित्त' यानि छेदन करना। जिससे पापों का छेदन हो, वह प्रायश्चित्त है।²⁰ ग्रन्थों के अनुशीलन से इसके दो अर्थ निष्पन्न होते हैं - पश्चाताप और दण्ड। गलती मानव स्वभाव है। पश्चाताप करने वाला निष्पाप हो जाता है। दण्ड दूसरों के द्वारा दिया जाता है। व्यवसाय जगत् में अर्थ-दण्ड की चर्चा की जा चुकी है। पश्चाताप से आत्मानुशासन पैदा होता है जबकि कुशल प्रशासन के लिए दण्ड की जरूरत भी पड़ती है।

8. **विनय** : यह कितना अद्भुत है कि भगवान महावीर विनय को भी तप की संज्ञा देते हैं। संसार में जो श्रेष्ठ, शिष्ट और प्रशस्त हैं, उन सबके प्रति विनय और आदर का भाव रखना, उनके और उत्कर्ष में अपना योगदान करना विनय-तप है। इससे सांस्कृतिक वैभव और राष्ट्रीय गौरव में वृद्धि होती है। आज्ञाकारिता, अनुशासन और सद्व्यवहार को भी विनय के अन्तर्गत लिया जाता है।²¹ इन गुणों से घर, प्रतिष्ठान और प्रशासन की व्यवस्थाएँ सुचारु हो जाती हैं।

9. **वैयावृत्य** : जो सेवा के योग्य है तथा जिन्हें सेवा की आवश्यकता है उनकी सेवा करना वैयावृत्य तप है। सेवा भावना समाज को रुग्ण होने से बचाती है

और देश को स्वस्थ व समर्थ बनाती है। सेवा की शिक्षा, सेवा के संस्कार और सेवा का व्यवहार राष्ट्रीय विकास के लिए जरूरी है।

10. **स्वाध्याय** : ज्ञान की ज्योतियाँ जलाने के लिए अर्थ की आहुतियाँ देनी पड़ती है। ज्ञान-विज्ञान और शिक्षा जैसे महान उद्देश्यों के लिए किया गया व्यय लाभ ही लाभ देता है। सभ्यता, संस्कृति, भाषा, इतिहास, कला आदि चीजों को बचाने के लिए स्वाध्याय की परम्परा को आगे बढ़ाना नितान्त आवश्यक है। अनमोल विरासतों को खोकर या बेचकर किसी देश, समाज या संस्कृति को बचाना नामुमकिन है। उत्तराध्ययन में स्वाध्याय को समस्त दुःखों का विमोचक बताया गया है।²² अब तो ज्ञानाधारित समाज व ज्ञानाधारित अर्थ-तन्त्र का समय है।
11. **ध्यान** : ग्रन्थों में भगवान महावीर के लिए यह तो कहा गया कि उन्होंने अपने 4515 दिनों के दीर्घ साधना-काल में 4166 दिन निर्जल उपवास किये। परन्तु यह बात कम कही गई कि उन्होंने 4515 दिनों के दीर्घ साधना-काल में एक भी क्षण बिना ध्यान के व्यतीत नहीं किया। आगम ग्रन्थों में ध्यान के अनेक प्रकार, प्रयोग, प्रभाव और आयाम हैं। मध्यकालीन और वर्तमानकालीन अनेक जैनाचार्यों तथा मनीषियों ने ध्यान पर विपुल सामग्री प्रदान की है। डॉ. सागरमल जैन ने अष्टांग-योग को जैन-दर्शन सम्मत बताया है।²³ आज पूरी दुनिया में न सिर्फ ध्यान का जबर्दस्त प्रचार है, अपितु उसका करोड़ों का कारोबार भी है। प्रबन्ध-शिक्षा में ध्यान एक अनिवार्य प्रायोगिक अध्यास के रूप में जुड़ गया है। अनेक कम्पनियाँ और व्यावसायिक प्रतिष्ठान अपने कर्मचारियों की कार्य-क्षमता और दक्षता बढ़ाने के लिए ध्यान का सहारा लेने लगे हैं। लोक-मंगल, समता और शान्ति के लिए ध्यान का विस्तार शुभ है। परन्तु जिस प्रकार से आज ध्यान का बाजारीकरण हो गया है, वह दुर्भाग्यपूर्ण है। अच्छी अर्थ-व्यवस्था/समाज-व्यवस्था वह नहीं है, जहाँ हर चीज बिकती हो।
12. **व्युत्सर्ग** : अनावश्यक और निरर्थक छोड़ना व्युत्सर्ग है। आचार्य अकलंक ने निःसंगता, निर्भयता तथा जीवन के प्रति निरासक्ति को व्युत्सर्ग कहा है।²⁴ महान् उद्देश्यों के लिए अपने सुखों का त्याग करना भी व्युत्सर्ग है। निष्ठवान सैनिक आत्मोत्सर्ग से भय नहीं रखते हैं। त्याग के बगैर न राष्ट्र की आरधना हो सकती है, न अर्थ की। तपे-खपे बिना कुछ भी पाना सम्भव नहीं है।

सन्दर्भ

1. ठाणांग 2
2. आइंस्टीन का पीड़ा तरंगों का सिद्धान्त (ई.पी.डब्ल्यू) भी इस बात की पुष्टि करता है।
3. उत्तराध्ययन सूत्र 28/14, तत्त्वार्थ सूत्र (1/4) में सात तत्त्व बताये गये हैं। जिनमें आश्रव में पुण्य पाप का समावेश कर दिया गया है।
4. शुभः पुण्यस्य - तत्त्वार्थ सूत्र 6/3
5. ठाणांग सूत्र स्थान-9
6. सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति - सूत्रकृतांग सूत्र छठा अध्ययन।
7. धींग दिलीप (डॉ), 'बराद के बीज', क्षणिका क्रम 3
8. अमोलक ऋषि (आचार्य), जैन तत्त्व प्रकाश, पृ.-350
9. आवश्यक-सूत्र
10. ऋग्वेद 7/32/21
11. उत्तराध्ययन सूत्र 30/8, वही 30/29-36 एवं भगवती सूत्र 25/7
12. आवश्यक निर्युक्ति गाथा 240
13. कल्पसूत्र टीका
14. स्थानांग सूत्र 3/3/182
15. सूत्रकृतांग 1/8/25
16. आचारांग 2/1, उत्तराध्ययन सूत्र 30/25 व दशवैकालिक सूत्र 5वाँ पिण्डेषणा अध्ययन।
17. दशवैकालिक सूत्र, प्रथम 'द्रुमपुष्पिका' अध्ययन।
18. उत्तराध्ययन 32/10, आचारांग 2/15/396
19. मूलराधना 3-228, 229, 231 व 232
20. पावं छिन्दइ जम्हा पायच्छितं ति भण्णइ तेण - पंचाशत सटीक विवरण 16/3
21. आत्मारामजी, आचार्य - श्री उत्तराध्ययनसूत्रम् प्रथम अध्याय।

22. सञ्ज्ञाए वा निउत्तेण सव्वदुक्खविमोक्खणो - उत्तराध्ययनसूत्र 26/10
23. जैन, सागरमल (डॉ.) - जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन - पृ.-112
24. तत्वार्थ राजवर्तिका 9/26/10

परिच्छेद दो

अनेकान्त, कर्मवाद और पुरुषार्थ

सापेक्षता और अनेकान्त

बीसवीं सदी के आरम्भ में विज्ञान की गति रुक-सी गई थी। डॉ. अलबर्ट आइंस्टीन के सापेक्षता के सिद्धान्त (Theory of Relativity) ने विज्ञान को न सिर्फ गतिशील-प्रगतिशील बनाया, अपितु उसमें अनेक नये आयाम भी जोड़ दिये। सापेक्षता का सिद्धान्त जैन धर्म के अनेकान्त-दर्शन का वैज्ञानिक संस्करण है। सापेक्षता से पूर्व क्या आइंस्टीन ने अनेकान्त जैसे किसी विचार का अध्ययन किया था ? इसका उत्तर 'हाँ' में दिया जा सकता है। आइंस्टीन जैन धर्म से प्रभावित थे। 1932 में 'इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टडी' में उन्हें उनके द्वारा चाहे गये वेतन से दस गुना अधिक वेतन पर नियुक्त किया गया। इस राशि में से उन्होंने जर्मनी के एक जैन संस्थान को पाण्डुलिपियों के अनुवाद और प्रकाशन के लिए बड़ी राशि दे दी। 18 अप्रैल 1955 को प्रिंसटन अस्पताल में उन्होंने अपनी नश्वर देह त्यागने से पूर्व निकट खड़ी नर्स से अन्तिम शब्द कहे थे - 'जैन धर्म जैसा कोई विश्व धर्म नहीं है।' वे धार्मिक, शान्तिप्रिय, न्यायप्रिय और विशुद्ध शाकाहारी थे। इसलिए यह सहज रूप से कहा जा सकता है कि वे जैन धर्म को न सिर्फ जानते थे, अपितु मानते भी थे। उस समय जर्मनी में जैन धर्म सम्बन्धी शोध और चर्चाएँ विद्यमान थीं। कोई अचरज नहीं कि आइंस्टीन ने सापेक्षता के प्रतिपादन से पूर्व अनेकान्त का अध्ययन-मनन किया हो। आचार्य नानालालजी का मानना था कि अनेकान्त-दर्शन के अध्ययन के बाद ही आइंस्टीन ने सापेक्षता जैसा सिद्धान्त विश्व को दिया।

आर्थिक जगत् में अनेकान्त

अनेकान्त-सिद्धान्त के लिए विश्व भगवान महावीर का अत्यन्त ऋणी है। सापेक्षता से हुए परिवर्तन और विकास से विश्व की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाओं के प्रतिमान बदल गये। परन्तु संसार की दशा में सार्वभौम सकारात्मक परिवर्तन के लिए अर्थशास्त्र में भी एक अनेकान्तिक व्यवस्था की आवश्यकता है। अर्थशास्त्री अमर्त्यसेन की पुस्तक 'आर्थिक विषमताएँ' की प्रस्तावना में लिखा है कि - 'किसी भी मापन विधि में क्रमिकता की सम्पूर्णता अर्थात् सभी वैयक्तिक

अवस्थाओं को एक सुनिश्चित क्रम में निबद्ध कर पाने के आग्रह के कारण ही अधिकतर समस्याएँ पैदा होती हैं। सेन के अनुसार यदि अन्यान्य कसौटियों के आधार पर निर्धारित क्रमिकताओं के साझे लक्षण सूत्रों का सहारा लेकर एक समन्वित-क्रम का निरूपण अधिक उपयोगी होगा।¹² वे लिखते हैं - 'विषमता मापन के तथ्यों और आदर्शों का समन्वित चिन्तन ही हमें उचित मार्गदर्शन प्रदान कर सकता है।'¹³ 'गरीबी और अकाल' पुस्तक में उन्होंने अभाव को सापेक्ष मानते हुए उसके निराकरण के अर्थशास्त्रीय सूत्र दिये हैं।¹⁴

अर्थशास्त्र के इतिहास में देश काल के अनुसार अनेक विचार, विधियाँ और व्यवस्थाएँ आईं। अर्थशास्त्र की अनेक परिभाषाएँ दी गईं। वे इतनी हो गईं कि परिभाषाओं को लेकर वाद-विवाद चलता रहा। फिर अर्थशास्त्रियों ने कहा कि विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में केवल सहकार्यता ही नहीं, बल्कि उनका परस्पर विलीनीकरण भी होना चाहिये। आर्थिक समस्याओं को भली-भाँति समझने के लिए समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, इतिहास, कानून, आचारशास्त्र, एवं मनोविज्ञान जैसे सभी सामाजिक विज्ञानों पर होने वाले परिवर्तनों को ग्रहण करना अनिवार्य है। संसार में पूंजीवाद के विपरीत परिणाम आने लगे तो साम्यवाद भी सफल नहीं हुआ। आज भारत सहित विश्व के अनेक देशों में मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया गया है। यह बात अलग है कि विद्यमान व्यवस्था भी कितनी अमिश्रित अथवा एकांगी है।

अनेकान्त का आधार है कि वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है। यह बहुआयामिता अनेकान्त है। इसे समझने के लिए जिस शैली का प्रयोग किया जाता है वह स्याद्वाद है। स्याद्वाद की सप्तभंगियाँ बताई गई हैं।¹⁵ महात्मा गांधी ने अपनी आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' में जैन दर्शन की इस सप्तभंगी की चर्चा की है। वस्तु, स्थिति, घटना, नियम, विधि, निषेध आदि को अपने-अपने परिप्रेक्ष्य और सन्दर्भों में देखा जाना चाहिये। एक वस्तु एक व्यक्ति या समुदाय के लिए आवश्यकता है तो वही वस्तु दूसरे व्यक्ति या समुदाय के लिए विलासिता हो जाती है। बाजारवादी व्यवस्था वाले विलासिता को भी आवश्यकता के रूप में थोपने के लिए आमादा रहते हैं। उन्हें व्यष्टि और समष्टि पर पड़ने वाले तात्कालिक और दूरगामी परिणामों की तनिक चिन्ता नहीं है। स्याद्वाद का नयवाद ऐसी समस्त स्थितियों और विधि-निषेधों की विवेकसम्मत समीक्षा करता है।

नयवाद

नैगम नय के अन्तर्गत सामान्य और विशेष का संयुक्त रूप से निरूपण किया जाता है। कभी सामान्य को मुख्य माना जाता है, कभी विशेष को और कभी दोनों को मुख्य माना जाता है। भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में अधिकतर आर्थिक नीतियाँ नैगम नय के आधार पर ही तय की जाती हैं। सामान्य अथवा अभेद का ग्रहण करने वाली दृष्टि संग्रह नय है। लोकतन्त्रीय प्रणाली संग्रह नय के आधार पर संचालित होती है। इसकी तुलना समष्टि-अर्थशास्त्र के नियमों से की जा सकती है। व्यवहार नय के माध्यम से व्यष्टि-अर्थशास्त्र को समझा जा सकता है। ऋजुसूत्र नय में वर्तमान को महत्व दिया जाता है। आपदा-प्रबन्धन के तहत किसी को तत्काल राहत देने के लिए इस नय की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। समाज में शब्द और शब्दों के अर्थ समय के साथ बदल भी जाते हैं अथवा समय के अनुरूप उन्हें बदलना ठीक रहता है या ठीक नहीं रहता है। इस सबकी व्याख्या शब्द, समष्टिरूढ़ तथा एवंभूतनय करते हैं। समाज में शब्दों का सदुपयोग व दुरुपयोग तथा अर्थ का उत्कर्ष, अपकर्ष व परिवर्तन होता रहता है अथवा किया जाता है। आर्थिक-जगत् में शब्द और शब्दार्थ परिवर्तित करके उपभोक्ता और उपभोक्ता-समूह को भ्रमित करने के बहुत प्रयास हुए हैं। मसलन अण्डे को 'शाकाहारी' कह कर भाषा, संस्कृति और शाकाहारी-समुदाय के साथ बहुत बड़ा छल किया गया। शब्द एकार्थक अथवा अनेकार्थक हो सकते हैं। उनका प्रयोग निर्भ्रान्त होना चाहिये।

प्रबन्ध में अनेकान्त

कोई भी व्यक्ति या देश अपने उचित-अनुचित हितों के लिए पूर्वाग्रह रखता है। उन्हीं पूर्वाग्रहों से आर्थिक नीतियाँ बनाता और दूसरों पर भी थोपना चाहता है। अनेकान्त-दृष्टि सर्वमंगलकारी है। वह व्यक्ति या देश को पूर्वाग्रह और दुराग्रह से मुक्त होने का सन्देश देती है। अनेकान्त विविध घटकों में समन्वय, सामंजस्य और सन्तुलन स्थापित करने में अत्यन्त उपयोगी है। जैसे धनोपार्जन के साधनों में भूमि, श्रम, पूंजी, प्रबन्ध, व्यावसायिक उपकरण आदि में सर्वलाभकारी सामंजस्य स्थापित करना। प्रबन्ध के अनेक घटक होते हैं - नियोजन, नियन्त्रण, संगठन, अभिप्रेरणा आदि। इसके अलावा वित्तीय, कार्मिक, उत्पादन, विपणन आदि क्षेत्रों का अलग-अलग प्रबन्ध आवश्यक होता है। अनेकान्त इन सब में सामंजस्य की

दृष्टि प्रदान करता है। अर्थशास्त्र के अध्ययन की निगमन और आगमन प्रणाली पर अर्थशास्त्री जे.एम.केंज की टिप्पणी अनेकान्तिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है - 'वास्तविकता तो यह है कि आर्थिक विज्ञान के पूर्ण विकास के लिए दोनों विधियों का सम्मिश्रण अनिवार्य है।' अनेकान्त की महत्ता और उपयोगिता सर्वत्र समझी जाने लगी है।

वैचारिक सहिष्णुता

स्याद्वाद ने स्वतन्त्र वैचारिकता और वैचारिक स्वतन्त्रता का समादर करने और विश्व में वैचारिक सहिष्णुता को बढ़ाने में महान योगदान किया है। सूत्रकृतांग सूत्र¹⁰ में अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मतों की निन्दा को अनुचित बताते हुए कहा गया कि ऐसा करने से सत्य का निर्णय नहीं हो पाता है। मानव सभ्यता, संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान के विकास में अनेकान्त-दर्शन का अभूतपूर्व योगदान है। अनेकान्त से समाज में होने वाले विभिन्न प्रकार के झगड़ों का शमन होता है। पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को समरस बनाने में अनेकान्त की भूमिका असंदिग्ध है। विश्व राजनीति में गुट-निरपेक्ष आन्दोलन अनेकान्त की महत्ता उजागर करता है। जैन मनीषियों ने अनेकान्त पर विस्तृत चिन्तन-मनन किया है और विपुल साहित्य की रचना की है। जैसे लिखते समय कागज पर हाशिया छोड़ा जाता है, ताकि उस पर टिप्पणी लिखने की गुंजाइश रहे। उसी प्रकार अनेकान्त दृष्टि में सामने वाले व्यक्ति की अभिव्यक्ति के लिए स्थान होता है।¹¹

अनेकान्त ने धार्मिक सहिष्णुता, राजनैतिक सहिष्णुता आदि में अपना योगदान किया है। सह-अस्तित्व, समता, समन्वय, सन्तुलन और स्वतन्त्रता के विकास में अनेकान्त का अनुपम योगदान है। धार्मिक असहिष्णुता से संसार ने अनेक युद्धों को झेला। राजनैतिक असहिष्णुता से देश दुनिया में गुटबाजी और लड़ाइयाँ होती रही हैं। असहिष्णुता सामाजिक-मानवीय एकता और शान्ति में सदैव बाधक रही। इन सबका असर व्यक्ति और देश की आर्थिक-स्थिति और खुशहाली पर पड़ता है। अनेकान्त की सार्वभौम महत्ता को रेखांकित करते हुए आचार्य सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं -

जिसके बिना संसार का, लोक का व्यवहार भली-भाँति पूरा नहीं किया जा सकता है, समस्त विश्व के गुरु उस अनेकान्तवाद को नमस्कार।¹²

कर्मवाद और पुरुषार्थ

कर्मवाद जैन दर्शन का बुनियादी सिद्धान्त है। इसके अनेक भेद-प्रभेद हैं और लम्बी-चौड़ी दार्शनिक, वैज्ञानिक और अन्य व्याख्याएँ हैं। सार यह है कि अच्छे कर्मों का फल अच्छा मिलता है और बुरे कर्मों का बुरा।¹³ इसलिए मानव को सदैव अच्छे कर्म करने चाहिये। इसे आचार क्षेत्र का कार्य-कारण सिद्धान्त कह सकते हैं। अच्छे कर्म करने वाला व्यक्ति स्वयं ही अपना मित और बुरे कर्म करने पर वह स्वयं ही अपना शत्रु होता है।¹⁴ कर्मवाद का सिद्धान्त गीता के कर्मयोग से भिन्न भी है और अभिन्न भी। वह सिद्धान्त के रूप में कर्मवाद से भिन्न है। व्यवहार और निष्पत्ति की दृष्टि से उसकी भिन्नता समाप्त हो जाती है। वह मानव को निरन्तर सत्पुरुषार्थ करने की प्रबल प्रेरणा देता है। कर्मवाद का अकर्म (सांसारिक कार्यों से निवृत्ति) भी कर्म (सम्यक्त्व-पराक्रम¹⁵) की प्रबल प्रेरणा देता है। यहाँ तक निष्क्रियता को मिथ्यात्व कह कर उसे छोड़ने की सलाह दी गई है।¹⁶ जैन साधना में सम्यक्-चारित्र (आचरण/पुरुषार्थ) के बगैर अन्तिम लक्ष्य को पाना असम्भव है।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त

कर्मवाद का एक पहलू है - पुनर्जन्म का सिद्धान्त। जैसे ऋण की अदायगी पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती है, वैसे ही व्यक्ति अपने कृत कर्मों का फल जन्म-जन्मान्तर तक भोगता है।¹⁷ चार्वाक को छोड़कर सभी दर्शनों ने पूर्व-जन्म या पुनर्जन्म का किसी न किसी रूप में समर्थन किया है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त का भारतीय जन मानस पर अच्छा आर्थिक प्रभाव यह रहा कि व्यक्ति अनीति की कमाई से बचता रहा जो भले ही वर्तमान में सुख देने वाली प्रतीत हो। महाहिंसाकारी, छल-कपट और धोखे-बाजी से भरे व्यवसायों की शृंखला कर्मवादियों में नहीं बढ़ी। चार्वाक और पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करने वालों ने ऋण लेकर घी पीने की बात कही। इसका अर्थ यह है कि येन-केन-प्रकारेण धन प्राप्त करके जीवन में खूब ऐश-आराम और मौज-मस्ती करनी चाहिये। आज के भोग-उपभोग और उपभोक्तावाद में ऐसा ही 'अनार्थिक-जीवन' दिखाई पड़ता है।

दूसरा अच्छा प्रभाव यह रहा कि यह सिद्धान्त समाज-संरचना का आधार बना। आर्थिक जीवन की जमीनी सच्चाई यह है कि सब व्यक्तियों में समान योग्यताएँ कभी नहीं होती हैं। विविध योग्यता और रुचि के व्यक्तियों से समाज

बनता है और चलता है। सर्वांगीण विकास के लिए भी यह सहज रूप से आवश्यक बात है। पुरुषार्थ के बल पर सभी प्रकार की उन्नतियों के लिए सबको सदैव समान अवसर प्राप्त है। इस सिद्धान्त को समझ कर जीवन ढालने वालों ने शून्य से शिखर तक की यात्रा की है। दूसरों के विकास में बाधा बने बगैर अपना विकास कर्मवाद का मुख्य बिन्दु है। बल्कि, स्व-उत्कर्ष के साथ-साथ पर-उत्कर्ष और सर्व-उत्कर्ष इस सिद्धान्त में गर्भित है।

भाग्यवाद बनाम पुरुषार्थवाद

पुनर्जन्म के सिद्धान्त का सामाजिक जीवन पर विपरीत असर भाग्यवादिता के कारण हुआ। भाग्यवादिता से अकर्मण्यता और अकर्मण्यता से गरीबी व आर्थिक अवनति की स्थितियाँ पैदा होती गईं। जैन कर्म-सिद्धान्त में शुभाशुभ कर्मों का शुभाशुभ फल बताया गया है। यह न्यायपूर्ण भी है। परन्तु उसने भाग्यवाद का समर्थन नहीं किया। इसके समर्थन में महत्वपूर्ण बात यह है कि जैन दर्शन शुभाशुभ फल को कर्मजनित और कर्मण-वर्गणाओं की शक्ति के अनुसार मानता है।¹⁸ यह सब गणित और भौतिकी के नियमों की भाँति सम्पन्न होता है। इस कार्य में किसी ईश्वर या ईश्वरीय शक्ति के हस्तक्षेप का प्रश्न ही नहीं उठता।¹⁹ जब अपने भाग्य की बागडोर ईश्वर या किसी दैवीय शक्ति को सौंप दी जाती है, तो समाज में जड़ता स्वाभाविक है। जैन धर्म ने कर्मफल और जीवन-विकास में ईश्वरीय हस्तक्षेप का केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही प्रतिवाद नहीं किया, अपितु व्यवहार क्षेत्र में भी उससे असहमति रखी। उसकी अच्छी परिणति जैन धर्मानुयायियों की सम्पन्नता में हुई। समाज में कोरी भाग्यवादिता के खिलाफ स्वर बुलन्द हुए और यह कहा जाने लगा कि ईश्वर भी फल उसी को देता है जो पुरुषार्थ करता है। यह जैन धर्म के पुरुषार्थवाद की जीत है।

कर्मवाद पुरुषार्थवाद का ही दूसरा नाम है।²⁰ भाग्य कोई आकाश से नहीं टपकता है। जिसे आज सौभाग्य कहा जा रहा है, वह पूर्व में किये गये सत्पुरुषार्थ की निष्पत्ति है। इसलिए, सम्यक् पुरुषार्थ कभी नहीं छोड़ना चाहिये। पुरुषार्थ फलदायी होता है।²¹ जिसके पुरुषार्थ की ज्योति मन्द हो जाती है, उसके पूर्वकृत अच्छे कर्मों का फल भी मन्द हो जाता है। जो सतत् पुरुषार्थशील है, उसके बुरे कर्मों का फल मन्द हो जाता है। कर्म सिद्धान्त में बताया गया है कि अप्रमत्त साधक अपने अशुभ कर्मों के फल को उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण, उपशमन और उदीरण

के द्वारा मन्द, मन्दतर और समाप्त कर सकता है।¹²² ठीक इसी प्रकार शुभ कर्मों के फल को अधिक लाभकारी बना सकता है। यह सिद्धान्त पुरुषार्थ द्वारा भाग्य में सकारात्मक परिवर्तन की वैज्ञानिक और दार्शनिक व्याख्या करता है।

कर्मबन्ध के पाँच कारण

कर्मबन्ध के पाँच कारण बताये हैं - मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद कषाय और योग।¹²³ इनका अर्थशास्त्रीय विवेचन इस प्रकार है -

1. **मिथ्यात्व** : अयथार्थ ज्ञान और विपरीत मान्यताएँ मिथ्यात्व है। भगवान महावीर ने वैयक्तिक मिथ्यात्व के अन्तर्गत रुढ़ियों और कर्मकाण्डों को भी मिथ्यात्व कहा है। व्यावसायिक जीवन में नवोन्मेष और नवाचार इससे बाधित होते हैं। एकान्त मिथ्यात्व से जीवन की सर्वपक्षीय सोच विकसित नहीं हो पाती है।
2. **अव्रत** : प्रतिज्ञाहीन जीवन जीना। इससे नागरिक अनुशासन घटता है और आर्थिक अराजकताएँ बढ़ती हैं।
3. **प्रमाद** : आलस्य और असजगता जीवन की अवनति के प्रत्यक्ष कारण हैं। जो चौकन्ना नहीं है, वह विपन्न हो जाता है। आलसी के गुण भी दोष में परिणत हो जाते हैं।¹²⁴
4. **कषाय** : क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय हैं। कषायों से व्यक्ति में तीव्र दुर्भाव पैदा होते हैं। ऐसे दुर्भावों में किये गये दुष्कर्म व्यक्ति को दीर्घ-काल तक दुःख देते हैं। कषाय-त्याग से व्यवसाय-वृद्धि और जीवन की सम्पन्नता का सीधा रिश्ता है।
5. **योग** : जैन दर्शन में मन, वचन और शरीर को योग कहकर जीवन में इन तीनों की अपरिमित शक्तियों के पूर्ण सदुपयोग की बात कही है। गीता के कर्म, ज्ञान और भक्ति रूप त्रियोग की विधिवत् साधना के लिए जैन दर्शन के इन तीनों योगों को साधना बहुत जरूरी है।

आठ कर्म

उपर्युक्त पाँच कारणों से अनन्त प्रकार के कर्मों का बन्ध जीव करता है।¹²⁵ उनमें आठ मुख्य हैं। इन आठ कर्मों की अर्थशास्त्रीय प्रेरणाएँ इस प्रकार हैं -

1. **ज्ञानावरणीय** : ज्ञान जीवन और जगत को प्रकाशित करता है।¹²⁶ ऐसे पवित्र ज्ञान और उस ज्ञान की आराधना करने वालों की कभी अवहेलना नहीं करनी

चाहिये। ज्ञान एक ऐसा धन है जो इस जीवन में तो रहता ही है, अगले जन्म में भी साथ रहता है।²⁷

2. **दर्शनावरणीय** : इसकी तीन प्रेरणाएँ हैं - सही समझ, सम्यक्-श्रद्धा और स्वयं पर पूर्ण विश्वास। इसकी नौ उत्तर प्रकृतियों से निद्रा-त्याग यानि अल्प-निद्रा की प्रेरणा मिलती है।²⁸
3. **मोहनीय** : धनोपार्जन के लिए भी निजी सुखों का त्याग करना पड़ता है। केन्द्रीभूत अतिशय राग मोह होता है। राग के विस्तार से मोह घटता है और प्रेम व मैत्री बढ़ती है। मोहनीय कर्म परिग्रह संज्ञा को पैदा करता है। अपरिग्रह की दिशा में बढ़ने से मोह मन्द होता है अथवा मोह कर्म की मन्दता से अपरिग्रह की राह आसान हो जाती है।²⁹
4. **अन्तराय** : अन्तराय से बचने के लिए किसी के हितों में कभी बाधक नहीं बनना चाहिये। इसकी पाँच उत्तर प्रकृतियों³⁰ की प्रेरणाएँ हैं - दानादि सहयोग में बाधा नहीं डालना। लाभ, व्यवसाय, रोजगार आदि में बाधा उपस्थित नहीं करना। किसी के आहार आदि में व्यवधान नहीं डालना। किसी की खुशियों व आवश्यक चीजों की प्राप्ति में व्यवधान नहीं डालना। किसी की विशिष्ट सामर्थ्य प्रतिभा आदि के प्रकाशन में व्यवधान पैदा नहीं करना। सामाजिक व्यावसायिक जीवन में इन प्रेरणाओं का मूल्य है।
5. **वेदनीय** : इस कर्म की प्रेरणा यह है कि हम दूसरों को सुख व साता प्रदान करें। कष्ट में पड़े प्राणी को राहत पहुँचायें। ऐसा करने से संसार में सुखों की सृष्टि होती है, जो अर्थनीति का एक ध्येय है।
6. **नाम** : यह कर्म प्रेरणा देता है कि तन-सौन्दर्य के आकांक्षी मानव को मन-सौन्दर्य के प्रति भी चेष्टा रखनी चाहिये। इससे व्यक्ति का यश यहाँ-वहाँ फैलेगा। दूसरों की बाह्य आकृति, रंग-रूप के आधार पर अनुचित टिप्पणी ठीक नहीं है। रंगभेद को लेकर संसार में लड़ाइयाँ, शोषण आदि की प्रवृत्तियाँ पनपी। नाम कर्म को समझाने वाला ऐसे भेदों से दूर रहता है।
7. **गौत्र** : यह कर्म जातीय और कौटुम्बिक अहंकार तोड़ने की प्रेरणा देता है।
8. **आयुष्य** : जीवन की क्षणभंगुरता का बोधक यह कर्म शोक-मुक्त रहने की प्रेरणा देता है। इससे अप्रमत्त होकर निरन्तर सत्कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। व्यक्ति को आज के कार्य कल पर नहीं टालने चाहिये।

यह वर्णन हमें यह निष्कर्ष देता है कि भगवान महावीर का दर्शन वैयक्तिक और समष्टिगत अर्थशास्त्र को वृत्ताकार जोड़ देता है। इससे हम मानव और सृष्टि के पारस्परिक चिरसम्बन्ध की व्याख्या के साथ बेहतर समाज-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था को कई आयामों से नियमित करने में सक्षम बनते हैं। 'कर्मवाद' में कहा गया है - 'विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था कर्मवाद की सबसे अनुकूल व्यवस्था है, जहाँ कर्मवाद के सिद्धान्त की सुरक्षा होती है और कर्मवाद के द्वारा जो एक मर्म सिखाया जाता है कि बहुत परिग्रह न करें, यह सिद्धान्त भी फलित होता है। साथ ही सामाजिक विषमता का समाधान भी मिलता है।'

सन्दर्भ

1. जैन, अभयप्रकाश (डॉ.) का लेख 'आइंस्टीन : कितने ज्ञात/कितने अज्ञात' 'तीर्थंकर' दिसम्बर 2004 के अंक में पृ.-15 पर प्रकाशित।
2. बागल, भवानी शंकर प्रस्तावना 'आर्थिक विषमताएँ' - अर्थशास्त्री अमर्त्यसेन की पुस्तक।
3. सेन, अमर्त्य, 'आर्थिक विषमताएँ' पृ.-17
4. सेन, अमर्त्य, 'गरीबी और अकाल' पृ.-29
5. सेठ, एम.एल, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त पृ.-11, प्रकाशक - लक्ष्मीनारायण अग्रवाल - आगरा
6. मालवणिया, दलसुख (पं.), आगम युग का जैन दर्शन प. 112-113
7. तत्त्वार्थ भाष्य 1/35
8. वही 1/35
9. केंज, जे.एम. - 'स्कॉप एंड मेथड ऑफ पोलिटिकल इकोनोमी' पृ.-172
10. सूत्रकृतांग सूत्र 1/1/2/23
11. जैन, प्रेम सुमन (प्रो.) जैन धर्म और जीवन मूल्य, पृ. 27-28
12. सन्मति तर्क प्रकरण काण्ड 3, गाथा 69
13. औपपातिक सूत्र-56
14. उत्तराध्ययन सूत्र 20/37
15. उत्तराध्ययन सूत्र के 29वें अध्याय 'सम्यक्त्व पराक्रम' में सम्यक्-पुरुषार्थ के 73 बिन्दु दिये गये हैं।
16. अमोलक ऋषि (आचार्य), जैन तत्व प्रकाश पृ.- 478 मिथ्यात्व के 25 प्रकारों में 24वाँ 'अक्रिया मिथ्यात्व'।
17. सूत्रकृतांग सूत्र 1/2/1/4, देखें - आचारांग 12/6, भगवती 2/5,
18. भगवती सूत्र 7/10

19. न्यायदर्शन (सूत्र 4/1) व कुछ अन्य दर्शनों में कर्मफल का नियन्ता ईश्वर को बताया गया है।
20. जैन, सुदर्शनलाल (डॉ.) उत्तराध्ययन सूत्र : एक परिशीलन पृष्ठ-153
21. जैन, राजाराम (डॉ.) पाइयगज्जसंगहो (वीयोभाओ), उज्जमस्स फलं नच्चा विउसदुगनायगे। जावज्जीवं न छुडेज्जा उज्जमं फलदायगं। डॉ प्रेमसुमन की पुस्तक 'जैन धर्म और जीवन मूल्य' के पृ.-76 पर उद्धृत।
22. मालवणिया, दलसुख (पं.), आत्म-मीमांसा प.-128
23. समवायांग 5 समवाय, तत्त्वार्थ सूत्र 8/1
24. जो पुण जतनारहियो, गुणो वि दोसायते तस्स - बृहत्कल्पभाष्य 3181
25. उत्तराध्ययन सूत्र 33/2-3, आत्मसिद्धि - श्रीमद्राजचन्द्र श्लोक 102
26. णाणस्स सव्वस्स पगासणाए - उत्तराध्ययन सूत्र 32/2
27. इह भविए वि नाणे, परभविए वि नाणे, तदुभयभविए वि नाणे। - भगवती सूत्र 1/1
28. उत्तराध्ययन सूत्र 33/5-6, तत्त्वार्थ सूत्र 8/8
29. जे ममाइअ मइं जहाइ, से जइ इ ममाइअं। - आचारांग सूत्र 2/6
30. ठाणांग 2/4/105 महाप्रज्ञ (आचार्य), कर्मवाद - आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चूरू पृ.-96

कषाय-मुक्ति और सम्पन्नता

संसार और संसार की समस्याओं का मूल है कर्म और कर्म का मूल है - कषाय।¹ कषाय मानव को पतन के गर्त में गिरा देते हैं और लम्बे समय तक उसे वहीं रखते हैं। दशवैकालिक² में कहा गया है - क्रोध, मान, माया व लोभ - ये चारों कषाय जीवन में पाप और सन्ताप बढ़ाते हैं। अपना भला चाहने वालों को इनका त्याग कर देना चाहिये। क्यों कि क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय को नष्ट करता है, कपट मित्रता का नाश करता है और लोभ सबका नाश कर देता है।³ आचार्य शिवार्य ने तो यहाँ तक कहा कि घात, पित्त आदि विकारों से मानव इतना उन्मत्त (विक्षिप्त) नहीं होता जितना वह कषायों से होता है।⁴ आचार्य भद्रबाहु कहते हैं - ऋण को थोड़ा, घाव को छोटा, आग को तनिक और कषायों को अल्प नहीं मानना चाहिये, क्योंकि ये थोड़े ही बहुत हो जाते हैं।⁵ जैन परम्परा के आचार पक्ष में कषाय-त्याग का अत्यधिक महत्त्व रहा। कषाय-त्याग को मुख्य मानने से समाज में धार्मिक अन्धविश्वासों व कर्मकाण्डों पर चोट हुई। आचार्य हरिभद्र ने कहा - किसी पन्थ या वाद में मानव का कल्याण नहीं है, कल्याण तो कषायों को छोड़ने में है।⁶ इससे सामाजिक व मानवीय एकता की राह प्रशस्त हुई।

चार कषाय

1. क्रोध : प्रत्येक व्यक्ति सम्पन्नता की दिशा में आगे से आगे बढ़ना चाहता है। वह सम्पन्नता महज धन तक सीमित नहीं है। जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यक्तित्व का वैभव प्रकट होना चाहिये। ऐसे बहुआयामी वैभवशाली जीवन के लिए क्रोध का परित्याग मुख्य शर्त है। प्राचीन ग्रन्थ 'इसिभासियाइ'⁷ में कहा गया है कि - क्रोध स्वयं को जलाता है, दूसरों को जलाता है। यह धर्म, अर्थ और काम को जलाता है। तीव्र वैर कराने वाला क्रोध जीवन के पतन का कारण है। आचारांग में कहा गया है कि क्रोध आयु को नष्ट करता है।⁸ व्यक्ति स्वयं क्रोध नहीं करें, यह एक पक्ष है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि वह दूसरों के क्रोध का निमित्त भी न बने। भगवती आराधना में क्रोध की हानियाँ बताते हुए कहा गया है कि क्रोधग्रस्त मानव का वर्ण नीला पड़ जाता है, वह हतप्रभ हो जाता है तथा उसका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। व्यग्रता और बेचैनी से उसे शीतकाल में भी प्यास लगने

लग जाती है तथा पिशाच-ग्रस्त मनुष्य की तरह काँपने लगता है। क्रोध दुश्मन का उपकार करता है तथा परिवारजनों, मित्रों व अपनों के लिए समस्या का प्रत्यक्ष कारण बनता है।⁹

भगवती सूत्र में क्रोध के दस नाम बताये गये हैं¹⁰ - 1. क्रोध। 2. कोप। 3. दोष : स्वयं पर अथवा दूसरों पर दोषारोपण करना। स्वयं पर दोषारोपण करते हुए व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है। कभी-कभी दूसरों पर आरोप लगाते हुए भी व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है। आत्महत्या कषाय का परिणाम है। यह परिवार और समाज के लिए कलंक है। इससे कौटुम्बिक और सामाजिक गौरव मटियामेट हो जाता है। 4. रोष (नाराजगी)। 5. संज्वलन (ईर्ष्या करना) : ईर्ष्या से व्यापार-जगत की स्वस्थ-स्पर्धा को धक्का लगता है। 6. अक्षमा (गलती माफ नहीं करना)। 7. कलह। 8. चण्डक्य (क्रोध का वीभत्स रूप)। 9. मण्डन : किसी पर हाथ उठाना या काया से अनुचित व्यवहार करना। 10. विवाद : अण्ट-शण्ट बोलना और झगड़ा कायम रखना। अनावश्यक बहस करना।

क्रोध नहीं करने वाला - अपनी अपरिमित प्राण ऊर्जा बचा लेता है, सहिष्णु होता है, विवेकवान तथा सोच विचार पूर्वक कार्य करने वाला होता है, सबका प्रिय बन जाता है, अच्छी निर्णय क्षमता वाला और दूरदर्शी होता है तथा पारिवारिक विग्रह और क्लेश से बचा रहता है

ऐसा व्यक्ति स्वयं विकास करता है; साथ ही अपने परिवार, व्यवसाय और इनसे जुड़े लोगों के विकास का कारण बनता है। एक सफल व्यवसायी और कुशल प्रबन्धक बनने के लिए क्रोध-त्याग अत्यावश्यक है। क्रोध विपन्नता और विपत्तियों को न्यौता देता है, जबकि अक्रोध से सम्पन्नता और सम्पत्ति में अभिवृद्धि होती है।

2. मान : अमीरी जब मान पर आरूढ़ हो जाती है, तो पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, वर्गवाद आदि के दुष्परिणाम समाज को भोगने पड़ते हैं। मान के वश हो व्यक्ति वैभव का प्रदर्शन करता है। ऐसा प्रदर्शन हमारे समाज-दर्शन को विद्रूप बना देता है। धन-मद में चूर व्यक्ति अपने वैभव-प्रदर्शन के सामाजिक-आर्थिक दुष्प्रभावों की कोई चिन्ता नहीं करता है। भगवान महावीर अहंकार को अज्ञान का द्योतक मानते हैं¹¹ वे व्यक्ति के जातीय और कौटुम्बिक अहंकार को अनुचित ठहराते हैं¹² ज्ञान और सदाचरण मनुष्य की श्रेष्ठता के प्रतीक है। जो

निराभिमानी है, वह ज्ञान, यश व सम्पत्ति प्राप्त करता है और अपना प्रत्येक कार्य सिद्ध करता है।¹³

भगवती सूत्र में मान के बारह नाम बताये गये हैं¹⁴ - 1. मान। 2. मद। 3. दर्प। 4. स्तम्भ। 5. गर्व। 6. अत्युक्रोश (आत्म-प्रशंसा)। 7. परपरिवाद। 8. उत्कर्ष : अपने वैभव का प्रदर्शन। 9. अपकर्ष : किसी को उसकी योग्यता से कम आंकना। 10. उन्नत नाम : सद्गुणों व गुणियों का अनादर करना, जैसे वालों का आदर करना। 11. उन्नत : दूसरों को निम्न समझना। 12. पुर्नाम : आधा-अधूरा झुकना।

आगम-ग्रन्थों में व्यक्ति के धनाहंकार पर चोट करने वाले अनेक प्रेरक कथानक हैं। धन, सत्ता, पद आदि का अहंकार करने वाला सामान्य व्यक्तियों की योग्यता, सलाह व स्नेह से वंचित रहता है।

3. माया : विश्वसनीयता और मैत्री व्यवसाय की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है। माया यानि कपट इन मूल्यों को नष्ट कर देता है। भगवती आराधना में कहा गया है कि - एक कपट हजारों सत्त्यों को नष्ट कर डालता है।¹⁵ मिथ्या और कपटपूर्ण विज्ञापनों से मानव ने अपना उपयोग-विवेक खो दिया और समाज में वस्तुओं के उपभोग की एक अनावश्यक होड़ा-होड़ी पैदा कर दी है। वह हर चीज का उपभोग करता है या करना चाहता है; उपयोग नहीं! माया-मृषावाद से समाज में लोभ के दोष बढ़ रहे हैं।¹⁶

भगवती सूत्र के अनुसार माया के पन्द्रह नाम हैं¹⁷ - 1. माया। 2. उपधि : ठगने के लिए किसी के पास जाना। 3. निकृति : ठगने के लिए किसी को विशेष सम्मान देना। 4. वलय : भाषिक छल। 5. गहन : छलने के लिए गूढ़ आचरण करना। 6. नूम : साजिश। 7. कल्क : दूसरों को हिंसा के लिए दुष्प्रेरित करना। 8. करूप : अभद्र व्यवहार करना। 9. निहता : ठगने के लिए कार्य मन्थर गति से करना। 10. किल्बिधिक : कुचेष्टा। 11. आदरणता : अवांछनीय कार्य। 12. गूहनता : अपनी करतूतें छिपाना। 13. वंचकता। 14. प्रति-कुंचनता : किसी के सहज-सरल वचन-व्यवहार का कपट से गलत अर्थ लगाना। 15. सातियोग : अच्छी वस्तु में खराब वस्तु मिलाना।

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को कपट-जाल में फँसा कर दूसरे से लाभ प्राप्त करना चाहता है, उसे ठगना चाहता है। बाजार के इन मायाचारियों की कुचालों को

हमारे समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री जानते-देखते हुए भी नजरअन्दाज कर रहे हैं, यह दुखद आश्चर्यजनक है।

4. लोभ : लाभ अर्थशास्त्र का प्रेरक तत्त्व है। लोभ दुष्प्रेरक तत्त्व है। लाभ में साधन-शुद्धि का विवेक रखा जाता है। लोभ व्यक्ति को साधन-शुद्धि की फिक्क नहीं करने देता है। अर्थ-नीति को अनीति में बदलने में लोभ की मुख्य भूमिका है। लोभ की वजह से दुनिया भर में आर्थिक घोटाले, भ्रष्टाचार, झगड़े-टण्टे, हिंसा, युद्ध आदि होते हैं। लोभ और तृष्णा के वशीभूत इंसान ने पर्यावरण और संस्कृति को अपूरणीय नुकसान पहुँचाया है। संसार की स्थायी भलाई और विश्व-शान्ति के लिए मानव में निर्लोभता की चेतना को जागृत करना बेहद जरूरी है। लाभ से लोभ बढ़ता है।¹⁸ स्वर्ण-रजत और वस्तुओं के ढेर भी लोभी की तृष्णा को शान्त करने में असमर्थ है।¹⁹ भगवान महावीर लोभ पर अंकुश के लिए सन्तोष का सुझाव देते हैं²⁰ सन्तोष और साधन-शुद्धि के लिए वे गृहस्थ के लिए इच्छा-परिमाण व्रत का विधान करते हैं।²¹

लोभ के विभिन्न रूपों को लक्ष्य करते हुए उन्होंने लोभ के सोलह नाम बताये हैं²² - 1. लोभ (संग्रह-वृत्ति) 2. इच्छा (अभिलाषा) 3. मूर्च्छा (तीव्रतम संग्रह-वृत्ति) 4. कांक्षा (आकांक्षा) 5. गृद्धि (आसक्ति) 6. तृष्णा (लालसा) 7. मिथ्या (लोभ के लिए झूठ) 8. अभिध्या (अनिश्चय) 9. आशंसना (प्राप्ति की इच्छा) 10. प्रार्थना (याचना) 11. लालपनता (चाटुकारिता) 12. कामाशा (काम की इच्छा) 13. भोगाशा (भोग की इच्छा) 14. जीविताशा : इसका लक्षणार्थ है - मरण शय्या पर भी लोभ नहीं त्यागना 15. मरणाशा : इच्छापूर्ति नहीं होने पर मरने की इच्छा करना 16. नन्दिराग (प्राप्त में अनुराग)।

कषाय-मुक्ति से जीवन और जगत् का सर्व-मंगल जुड़ा हुआ है। कषाय-मुक्ति से विश्व में शान्ति, समृद्धि और खुशहाली का सपना साकार होगा।

लेश्या और व्यक्तित्व

मानव के व्यक्तित्व और मनोभाव को प्रकट करने के लिए जैन दर्शन में लेश्या-सिद्धान्त की बहुत चर्चा है। लेश्या के आधार पर व्यक्ति को घोर अनैतिकता के तिमिर से निकाल कर परम नैतिकता के उज्वल आलोक की ओर ले जाने का वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक उपाय बताया गया है। वस्तुतः सारी समस्याओं की जड़ व्यक्ति के संकल्प और मनोभाव हैं, जो व्यवहार में प्रकट होकर व्यक्ति का

व्यक्तित्व निर्मित करते हैं। इसी प्रकार समाधान भी उसके संकल्प और मनोभाव में छिपा है। ये संकल्प और मनोभाव शुभ और अशुभ हो सकते हैं। जिनकी तीन-तीन श्रेणियाँ हैं। इस प्रकार के मनोभावों का विश्लेषण करने वाली लेश्याएँ छः बताई गई हैं।¹³ जिनमें तीन अशुभ और तीन शुभ हैं।¹⁴

1. **कृष्ण लेश्या** (अशुभतम मनोभाव) : कृष्ण लेश्या वाला व्यक्ति क्रूरतम मनोभाव लिये जीता है। हिंसा, हत्या, खून-खच्चर और व्यभिचार में ऐसे व्यक्ति को बहुत रस आता है। क्रूरतम, नृशंस और प्रलयकारी कृत्यों से वह अपने जीवन को संचालित करता है। कृष्ण-लेश्याधारियों की वजह से संसार ने अनेक युद्ध झेले, वन, वन्य-जीव और पर्यावरण को भारी नुकसान पहुँचाने में कोई कसर बाकी नहीं रखी। ऐसे लोगों की वजह से समाज भय-मुक्त नहीं बन पाता है। हिरोशिमा और नागासाकी पर बमबारी कृष्ण लेश्या का वीभत्स उदाहरण है।
2. **नील लेश्या** (अशुभतर मनोभाव) : कृष्ण का अर्थ है - बिल्कुल काला। नीला रंग काले से कुछ ठीक होता है। पर लेश्या सिद्धान्त में इसे भी अप्रशंसित ही माना जाता है। उत्तराध्ययन सूत्र में ऐसे व्यक्ति को कपटी, निर्लज्ज, ईर्ष्यालु, असहिष्णु, असंयमी, लम्पट, रसलोलुप आदि दुर्गुणों से युक्त बताया गया है। आर्थिक जीवन में ऐसे व्यक्ति दरिद्रता का जीवन जीते हैं। वे लोगों से वैसा स्थायी व्यवहार नहीं बना सकते हैं, जिससे व्यापार और उद्योग की प्रगति हो।
3. **कापोत लेश्या** (अशुभ मनोभाव) : कृष्ण और नील लेश्या से कापोत लेश्या वाले के मनोभाव कुछ ठीक होते हैं। परन्तु इतने अच्छे नहीं होते हैं कि उन्हें प्रशस्त या कल्याणकारी माना जाय। ऐसे व्यक्ति का सारा कारोबार अपनी स्वार्थ-सिद्धि तक ही सीमित रहता है। वह अपने हितों को साधने के लिए लोगों को लड़ाने-भिड़ाने, छल-कपट करने में जरा भी संकोच नहीं करता है। सामाजिक और आर्थिक जगत में नील और कापोत लेश्या वाले लोगों की भरमार है। इसीलिए संसार इतनी त्रासदियाँ भुगत रहा है।
4. **तेजो लेश्या** (शुभ मनोभाव) : आर्थिक दृष्टि से तेजो लेश्या वाला व्यक्ति अपना और जगत् का हित सम्पादन करने वाला होता है। उत्तराध्ययन में इस लेश्या को प्रशस्त बताते हुए कहा गया है कि ऐसा व्यक्ति अच्छे आचरण वाला, नम्र, सहिष्णु, निष्कपट, संयमी और सत्पुरुषार्थी होता है।

5. **पद्म लेश्या** (शुभतर मनोभाव) : इस लेश्या में व्यक्ति पिछली लेश्या से और अधिक पवित्र हो जाता है। भगवान महावीर ने पद्म लेश्या वाले को मितभाषी, प्रशान्त और जितेन्द्रिय बताया है। इस लेश्या वाला आत्म-साधना में आगे बढ़ जाता है।
6. **शुक्ल लेश्या** (परम शुभ या शुभतम मनोभाव) : इस लेश्या वाला व्यक्ति आत्माभावों में रमण करने वाला होता है। वह अपने निमित्त से दूसरों को तनिक भी आहत नहीं करता है। सांसारिक इच्छाएँ उसके लिए कोई मायने नहीं रखती हैं।

प्रज्ञापना²⁵ के लेश्या पद में बताया गया है कि अशुभ लेश्याओं वाला मानव अल्प-ऋद्धि वाला होता है और शुभ लेश्याओं वाला व्यक्ति महा-ऋद्धि वाला होता है। यहाँ जिस ऋद्धि की चर्चा है, वह शुक्ल लेश्या की दृष्टि से आत्म-ऋद्धि है। परन्तु अन्य लेश्याओं की दृष्टि से अल्प-महाऋद्धि का सम्बन्ध बाहरी और आन्तरिक दोनों से हैं। स्पष्ट है कि अशुभ लेश्याओं वाला व्यक्ति भौतिक जीवन में भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है। अगर वह करता भी है तो उसकी सफलता में समाज का अर्थशास्त्र असफल हो जयेगा यानि अर्थशास्त्र अपने सर्वोदय के उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर पायेगा। सभी प्राणी महाऋद्धि वाले बनें, यही लेश्या-सिद्धान्त की प्रेरणा है।

सन्दर्भ

1. आवश्यक निर्युक्ति 189
2. दशवैकालिक सूत्र 8/37
3. दशवैकालिक सूत्र 8/38
4. होदि कसाउम्मत्तो, उम्मत्तो तध ण पित्तउम्मत्तो । - भगवती आराधना 1331
5. आवश्यक निर्युक्ति 120
6. न पक्ष सेवाश्रयणेन मुक्तिः, कषाय मुक्तिः किल मुक्तिरेव ।
7. इसिभासियाइ 36/13
8. आचारांग सूत्र 4/3/136
9. भगवती आराधना 1360, कोधो सत्तुगुणकरो, भ. आ.-1365
10. व्याख्याप्रज्ञप्ति 12/5/103
11. सूत्रकृतांग 1/11/2 एवं अन्नं जणं खिंसइ बालपन्ने । - वही 1/11/14
12. सूत्रकृतांग 1/13/11
13. भगवती आराधना 1379
14. व्याख्याप्रज्ञप्ति 12/43
15. भगवती आराधना 1384
16. मायामोसं वड्डई लोभदोसा - उत्तराध्ययन सूत्र 32/30
17. व्याख्याप्रज्ञप्ति 12/54
18. जहा लाहो तथा लोहो, लाहा लोहो पवड्डई । - उत्तराध्ययन सूत्र 8/17
19. उत्तराध्ययन सूत्र 9/48-49
20. दशवैकालिक 8/39 एवं उत्तराध्ययन सूत्र 29/70
21. आवश्यक सूत्र पाँचवाँ और छठवाँ व्रत
22. व्याख्याप्रज्ञप्ति 15/55

23. उत्तराध्ययन सूत्र 34/3 एवं प्रज्ञापना - द्वितीय उद्देशक 17वाँ अध्याय
24. उत्तराध्ययन सूत्र 34/21-32
25. प्रज्ञापना - द्वितीय उद्देशक 17वाँ अध्ययन।

आत्मवाद और मानववाद

आत्मा धर्म और दर्शन की आधारशिला है। द्रव्य दृष्टि से वह सबमें एक समान है और अस्तित्व की दृष्टि से स्वतन्त्र।' पण्डित सुखलालजी के अनुसार स्वतन्त्र जीववादियों में जैन-परम्परा का प्रथम स्थान है। इसके दो कारण बताये गये हैं - प्रथम, आत्मा विषयक जैन अवधारणा अत्यन्त वैज्ञानिक और बुद्धिग्राह्य है। द्वितीय, ई. पू. आठवीं सदी में हुए ऐतिहासिक तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के समय में जैन परम्परा में आत्मा विषयक अवधारणा सुस्थिर हो गई थी। ऐतिहासिक दृष्टि से आत्मा की जैसी अवधारणा आज से 3000 वर्ष पूर्व जैन परम्परा में थी, वैसी ही आज है। जबकि अन्य परम्पराओं की जीव सम्बन्धी मान्यताओं में परिवर्तन होता रहा है।^१

वस्तु-स्वातन्त्र्य

जैन दर्शन के वस्तु-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त ने मानव जाति का बहुत भला किया है। दर्शन, अध्यात्म, समाज और विज्ञान की अनेक अनसुलझी गुत्थियों को वस्तु-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त से आसानी से सुलझाया जा सका। व्यक्ति और समाज को कमजोर करने वाली धर्म-विषयक अनेक मिथ्या-धारणाएँ आत्मवाद के समक्ष अर्थहीन हो गईं। ज्ञान-विज्ञान, अहिंसा और पुरुषार्थ की अलख जगाने और जगाये रखने में आत्मवाद की बड़ी भूमिका है। जैन परम्परा के वैभव को उसके दर्शन के सन्दर्भ में भी देखा जाना चाहिये।

आत्मवाद ने उपादान और निमित्त का समाधानकारी नियम हमारे सामने रखा। फलस्वरूप व्यक्ति अपने सामने उपस्थित समस्याओं के समाधान के लिए समस्याओं की तह में जाना सीखा। समस्या के मूल में जाकर किये गये समाधान से समस्या का स्थायी हल निकलता है। आज अर्थशास्त्रियों और नीति-निर्माताओं के सामने सामाजिक विषमता, पर्यावरण प्रदूषण, बेरोजगारी, जनसंख्या-वृद्धि आदि न जाने कितनी-कितनी समस्याएँ हैं। उनके सामने आत्मा का, अहिंसा का, त्याग का कोई सुस्पष्ट दर्शन नहीं है। वे निमित्तों में ही समाधान ढूँढते रहते हैं। परिणामस्वरूप समस्याओं का स्थायी समाधान तो नहीं होता है सो ठीक; कभी-कभी एक समाधान अन्य नई समस्याओं को जन्म देने वाला सिद्ध हो जाता है।

निपट भौतिकवादी और अनात्मवादी सोच और कार्य-शैली से आज संसार एक ऐसी जगह पर आ गया लगता है, जहाँ आगे विनाश के अलावा कोई रास्ता नहीं बचा है।

अहिंसा का सिद्धान्त आत्मवाद की बुनियाद पर खड़ा है। यह बुनियाद बहुत मजबूत व बहुआयामी है। आगम ग्रन्थों में अहिंसा की जैसी मौलिक, सूक्ष्मतम व सर्वग्राही व्याख्या मिलती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। आगम ग्रन्थों में वर्णित अहिंसा सम्बन्धी सूक्ष्म विवेचन का पर्यावरण और पारिस्थितिकी की दृष्टि से बहुत महत्व है। ग्रन्थों में संसारी जीव के दो प्रकार बताये गये हैं - स्थावर और तस^१ जिन जीवों में गमनागमन की क्षमता का अभाव है, वे स्थावर जीव हैं तथा जिनमें चलने-फिरने की क्षमता है, वे तस जीव हैं।

स्थावर जीव

स्थावर जीवों के पाँच भेद हैं -

1. **पृथ्वी** : स्थूल पृथ्वी के दो प्रकार बताये गये हैं - मृदु और कठोर। मृदु पृथ्वी के सात प्रकार हैं - काली, नीली, लोहित (लाल), हारिद (पीली), श्वेत, पाण्डु और पनकमृत्तिका (नद्युप पंक, किट्ट तथा चिकनी दोमट्ट)। कठोर पृथ्वी छत्तीस प्रकार की हैं - शुद्ध पृथ्वी, शर्करा, बालुका, उपल, शिला, लवण, ऊष, अयस्, ताम्र, तपु, सीसक, रूप्य, सुवर्ण, वज्र, हरिताल, हिंगुलुक, मनःशीला, सस्यक, अंजन, प्रवालक, अभ्रक-बालुका, अभ्र-पटल, गोमेदक, रुचक, अंक, स्फटिक, मरकत (पन्ना), भुजमोचक, इन्द्रनील (नीलम), चन्दन-मणि, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्रप्रभ, वैडूर्य, जलकान्त और सूर्यकान्त^१ इन भेदों में कृषि योग्य मिट्टी से लेकर रत्न-मणि तक का उल्लेख है। पृथ्वी समस्त प्राणियों के लिए आधार है। प्रदूषण की मार पृथ्वी के नैसर्गिक वैविध्य पर पड़ी है। पृथ्वी के प्रदूषित होने से उसके आश्रित रहने वाले अनेक तस जीवों तथा स्थावर में वनस्पति आदि के जीवन पर विपरीत प्रभाव पड़ा। अनेक जीव-जन्तु और वनस्पतियाँ धरती से विलुप्त हो गई। पृथ्वीकाय के स्वरूप को जानकर इनकी विराधना से बचना चाहिये।
2. **जल** : स्थूल जल के पाँच भेद बताये गये हैं - शुद्ध उदक, ओस, हरतनु, कुहरा और हिम^१ सहज रूप से सर्व-सुलभ जल आज बिकाऊ हो गया है, उसके लिए झगड़े होते हैं। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार वर्तमान विश्व में

100 करोड़ से अधिक लोग गन्दा पानी पीने को मजबूर है।⁷ एक को शुद्ध पेय-जल उपलब्ध नहीं है, दूसरा उसकी फिजूलखर्ची कर रहा है। ये हिंसा के अर्थतन्त्र के परिणाम हैं कि पूरा पर्यावरण-तन्त्र चरमरा गया है।

3. **वनस्पति** : स्थूल वनस्पति के दो भेद - प्रत्येक शरीरी और साधारण शरीरी। प्रत्येक शरीरी के बारह प्रकार हैं - वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, तृण, लतावलय, पर्वग, कुहुण, जलज, औषधितृण और हरितकाय।⁸ साधारण वनस्पति के अन्तर्गत कन्द, मूल आदि आते हैं। वाणिज्यिक प्रहारों से वनस्पतियों के अभाव के साथ जैव विविधता का संकट गहराता जा रहा है। वनस्पति के आश्रय में भी अनेक प्रकार के तस-स्थावर जीव रहते हैं। वनस्पति के संरक्षण से अनेक जीवों का संरक्षण सम्भव है।
4. **अग्नि** : स्थूल अग्नि के भी अनेक भेद बताये गये हैं - अंगार, मुर्मुर्, शुद्ध, अग्नि, अर्चि, ज्वाला, उल्का, विद्युत् आदि।⁹ अग्नि का विनाशक प्रयोग नहीं करना चाहिये।
5. **वायु** : स्थूल वायुकायिक जीवों के छः भेद हैं - उत्कलिका, मण्डलिका, घनवात, गुंजावात, शुद्धवात और संवर्तक वात।¹⁰ वायु संरक्षण के लिए निम्न उपाय किये जाने चाहिये -
 1. नाना प्रकार की वनस्पतियों का रोपण।
 2. पर्वतों पर विस्तार युक्त विशाल पेड़ पौधों का रोपण।
 3. पठारों की सुरक्षा।
 4. वन सम्पदा की सुरक्षा।
 5. हानिकारक रासायनिक पदार्थों की समाप्ति।
 6. वाहनों व रासायनिक संयंत्रों से निकलने वाले धुएँ पर नियन्त्रण। निजी वाहनों पर लोगों की निर्भरता घटना।
 7. उद्योगों की स्थापना प्रदूषण से मुक्त हो।¹¹

स्थूल जीवों की आगम वर्णित जानकारी से यह प्रेरणा मिलती है कि पर्यावरण और प्रकृति की रक्षार्थ स्थावरकायिक जीवों की हिंसा से बचना नितान्त आवश्यक है। आचारांग सूत्र में स्थावरकायिक जीवों की रक्षा की प्रबल प्रेरणा दी गई है। स्थावर और तस सभी प्रकार के जीव परस्पर एक दूसरे के आश्रित होते हैं।

इसलिए एक के विनाश में सबका विनाश और एक के संरक्षण में सबका संरक्षण समाहित होता है। ध्वनि-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण, जल-प्रदूषण, भूमि-प्रदूषण जैसी समस्याएँ वर्तमान में हमारे सामने वीभत्स रूप में खड़ी हैं। इनके मूल में स्थावरकायिक जीवों की अन्धाधुन्ध हिंसा है। इन्हीं स्थावरकायिक जीवों के सहारे तस प्राणियों का जीवन निर्भर होता है। वायु, जल, वनस्पति आदि के प्रदूषित होने से इनके आसरे जीने वाले जीवों का जीवन संकट में पड़ गया। जल, वायु, भूमि, अन्य जीवित सूक्ष्म व स्थूल प्राणी, पेड़-पौधे और मानव का जब अन्तर्सम्बन्ध टूट जाता है तो पर्यावरण को नुकसान पहुँचता है। सूक्ष्म जीवों की रक्षा के लिए भगवान महावीर प्रत्येक कार्य-व्यापार में यतना और विवेक की हिदायत देते हैं।¹²

तस जीव

आचारांग के प्रथम अध्ययन के छोटे उद्देशक में संसार स्वरूप के विवेचन में तस जीवों का उल्लेख है। तस जीवों के चार भेद बताये हैं - द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।¹³ द्वीन्द्रिय जीवों में शरीर और रसना वाले लट, केंचुआ, कृमि, शंख आदि, त्रीन्द्रिय जीवों में शरीर, रसना और घ्राण वाले चिंटी, मकोड़े, दीमक, झिंगुर, आदि, चतुरिन्द्रिय में काया, जिह्वा, घ्राण और चक्षु वाले तितली, मक्खी, भ्रमर, बिच्छू आदि अनेक जीव आते हैं। उपरोक्त चार और पाँचवीं श्रवणेन्द्रिय वाले पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं।

पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं - सम्मूर्च्छिम और गर्भज। आगमों में सम्मूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति जिस प्रकार से बताई गई है, उसकी तुलना वर्तमान में क्लोनिंग से की जा सकती है। जिसके औचित्य-अनौचित्य पर चर्चा हो रही है। तिर्यच पंचेन्द्रिय के तीन प्रकार हैं - जलचर, स्थलचर और खेचर। जलचर के अन्तर्गत मत्स्य, कच्छप, ग्राह, मगर, शंशुमार आदि आते हैं।¹⁴ स्थलचर की दो मुख्य जातियाँ हैं - चतुष्पद और परिसर्प।¹⁵ चतुष्पद के चार प्रकार हैं - एक खुर वाले, जैसे अश्व आदि, दो खुर वाले, जैसे बैल आदि, गोल पैर वाले, जैसे हाथी आदि और नख-सहित पैर वाले, जैसे शेर आदि।¹⁶ परिसर्प की मुख्यतः दो जातियाँ बताई गई हैं - भुजपरिसर्प। जो भुजाओं के बल पर रेंगते हैं, वे प्राणी भुजपरिसर्प हैं, जैसे गोह आदि। दूसरी जाति उरःपरिसर्प की है। इसके अन्तर्गत पेट के बल रेंगने वाले सर्प आदि आते हैं। खेचर की चार जातियाँ बताई गई हैं - चर्म पक्षी, रोम पक्षी, समुद्र पक्षी और वितत पक्षी।¹⁷

हिंसा की महामारी से इन जीवों की अनेक जातियाँ-प्रजातियाँ धरती पर से समाप्त हो गईं और अनेक समाप्ति के कगार पर हैं। आगम ग्रन्थों में सभी प्रकार के जीवों को बचाने के लिए अनेक स्थलों पर प्रेरणाएँ दी गई हैं। उपासकदशांग में श्रावक को अभय प्रदायक कहा गया है। पर्यावरण और पारिस्थितिकी सन्तुलन के लिए सभी प्रकार के जीवों का धरती पर होना आवश्यक है। समूचा अर्थ-तन्त्र प्रकृति-तन्त्र पर निर्भर है। अर्थतन्त्र की स्थायी सुरक्षा के लिए प्रकृति-तन्त्र की सुरक्षा अत्यावश्यक है।

मानववाद और अर्थशास्त्र

विश्व के अधिकतर धर्म-दर्शन मानववाद पर खड़े हैं। जैन धर्म आत्मवादी धर्म है। जहाँ आत्मवाद है, वहाँ मानववाद सहज रूप से उसके सम्पूर्ण गहरे अर्थों में विद्यमान है। मानव का अर्थ करते हुए कहा गया है कि जो मन के द्वारा हेय-उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व, धर्म-अधर्म और हित-अहित का विचार करने में सक्षम, कार्य में निपुण और मन से उत्कृष्ट होते हैं, वे मानव कहलाते हैं।¹⁸ जैन दर्शन का मानववाद, आत्मवाद की मजबूत बुनियाद पर खड़ा है। इस आधार पर पश्चिमी मानववाद निराधार है। इस मानववाद पर चोट करती लेखक की कविता है -

अपनी बचकानी हरकतों के क्रम में

कुछ आदमियों ने बचाई थी

थोड़ी-सी संवेदना

सिर्फ आदमी के लिए!

तब से बची-खुची आदमियत ने भी दम तोड़ दिया।

अब बची है

संवेदना से शून्य जिन्दा लाशों की भीड़!¹⁹

मनुष्य पर संकटों की एक वजह यह है कि वह मनुष्येत्तर प्राणियों के प्रति संवेदनशील नहीं रहा। आचारांग निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु कहते हैं - एक्का मणुस्स-जाई!²⁰ सम्पूर्ण मानव-जाति एक है। भगवान महावीर जाति, वर्ण, वर्ग आदि आधारों पर मानव-मानव में भेद नहीं करते हैं। उन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज में व्याप्त मानवता को अपमानित करने वाले भेदों को अस्वीकार कर दिया। धर्म साधना का उपदेश सभी के लिए समान है। जो उपदेश धनवान या उच्च समझे

जाने वाले वर्ग के लिए हैं, वही उपदेश निर्धन और निम्न समझे जाने वाले वर्ग के लिए है।¹¹ मानव-जाति के इतिहास में मानव और मानवता को सर्वोच्च श्रेणी पर प्रतिष्ठित करने वालों में तीर्थंकर पार्श्वनाथ और महावीर अग्रणी हैं।

समाज का एक वर्ग जब एक ओर देवों की पूजा-अर्चना में ही धर्म मानने लग गया और दूसरी ओर वह देवताओं को खुश करने के लिए पशु-पक्षियों की बलि, यहाँ तक मनुष्यों की बलि तक करने लग गया। ऐसे विकट हालात में जब मनुष्य और मनुष्यता को दोनों सिरों से खारिज किया जा रहा था, भगवान महावीर ने मनुष्यता की वह अलख जगाई, जिसकी रोशनी में समूची मानवता नहा उठी। उन्होंने मनुष्य को देवताओं से भी ज्यादा सामर्थ्यवान बताया और कहा - जो मनुष्य अहिंसा, संयम और तप की उत्कृष्ट आराधना करता है, देवगण भी उसे नमन करते हैं।¹² देवता स्वयं मानव जीवन की आकांक्षा रखते हैं।¹³ मानव जीवन को अत्यन्त दुर्लभ बताते हुए उसे मूल-धन कहा है।¹⁴ एक तरफ अहिंसा के अनुपालन से मनुष्येत्तर प्राणियों के प्रति भी संवेदना, दूसरी तरफ देवता से भी मानव की श्रेष्ठता; महावीर ने मनुष्यता को दोनों सिरों से पुनर्स्थापित किया और मानवता की महिमा में अनेक उजले अध्याय जोड़ दिये।

भगवान महावीर ने मनुष्य के सामाजिक वर्गीकरण को कर्माधारित माना, न कि जन्माधारित। उन्होंने कहा - मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है।¹⁵ जाति की कुछ भी विशेषता नहीं दिखाई देती है। चाण्डाल पुत्र हरिकेशी मुनि को देखो, जिनकी महाप्रभावशाली ऋद्धि है।¹⁶

वर्णाधारित जातीय अहंकार टूटने से तत्कालीन व्यवसाय और वाणिज्य पर अनुकूल असर पड़ा था। भगवान महावीर ने कर्म और व्यवसाय को छोटा या बड़ा नहीं माना, अपितु हिंसक अथवा अहिंसक माना। हिंसा और अहिंसा के आधार पर ही मानव की श्रेष्ठता और हीनता बताई गई। छोटे से छोटा काम भी, यदि वह अहिंसक है तो ग्राह्य है।¹⁷ इससे सामाजिक समरसता व मानवीय एकता की राह प्रशस्त होती है। छोटे-छोटे लघु, गृह और कुटीर उद्योग-धन्धों को संरक्षण मिलता है एवं उनके करने वालों का आत्म-सम्मान कायम रहता है। जिनकी अर्थव्यवस्था में बहुत बड़ी भूमिका होती है। वाणिज्य और व्यवसाय के विकास में पुरतैनी काम-धन्धों का महत्व रहा तो योग्यता के अनुसार व्यवसाय परिवर्तन का भी महत्व रहा। मानववाद ने समाज में मानवता की प्रतिष्ठा की और व्यवसाय में योग्यता की।

वर्तमान में प्रचलित जातीय और लैंगिक आधार पर आरक्षण की व्यवस्था राजनीतिक है। वह व्यक्ति की अर्हताओं को जात-पाँत के चश्मे से देखती है। जिसे सामाजिक और मानवीय दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता है। योग्य और योग्यताओं की अवहेलना से व्यवस्थाएँ टूटती हैं और विकास अवरुद्ध होता है। किसी भी सभ्यता और संस्कृति के विकास पर आर्थिक नीतियों का दूरगामी प्रभाव होता है। जो दृष्टिहीन हैं, उन्हें दृष्टि की, चक्षु की आवश्यकता है; दर्पण की नहीं। आरक्षण की राजनीति दृष्टिहीन को दृष्टि की बजाय, दर्पण बाँटती है। आवश्यकता है शिक्षा, साधना और समता के द्वारा जागृति की। समाज में जो व्यक्ति आर्थिक या किसी अन्य दृष्टि से कमजोर या वंचित हैं, उनकी शिक्षा और स्वास्थ्य पर राज्य की ओर से विशेष ध्यान दिया जाय, उन्हें योग्यता अर्जित करने के सारे उपादान अल्प-शुल्क या बिना शुल्क पर मुहैया कराये जाय। व्यक्ति की योग्यता और गुणवत्ता बढ़ेगी तो सकारात्मक तरीके से समाधान होगा। आज देश को राजनीतिक समाजवाद नहीं, अपितु आध्यात्मिक और मानवीय समाजवाद की आवश्यकता है।

मानव द्वारा मानव पर होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध माहौल बनाने में मानववाद की अहम् भूमिका रही। मनुष्य के श्रम का शोषण नहीं हो, उसकी निजता और स्वतन्त्रता पर कुठारघात नहीं हो, इसके स्वर आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीर के उपदेशों में गूँज रहे थे और आज भी गूँज रहे हैं। किसी भी प्राणी, जीव-जन्तु, पशु-पक्षी या मनुष्य की सत्ता और उनके प्राणों की सत्ता का किसी भी रूप में हनन करना अस्तित्व की सहज नैसर्गिक शर्तों के विपरीत आचरण करना है। और सिर्फ हनन ही नहीं, किसी पर अनुचित शासन करना, किसी को पराधीन बनाना, किसी को परिताप देना, उपद्रव करना भी हिंसा के रूप हैं।²⁸ राजनीतिक और आर्थिक उपनिवेश दूसरों की स्वाधीनता, सह-अस्तित्व, अहिंसा और समता को नकारते हैं।

तीर्थंकर महावीर ने अहिंसा को प्राणातिपात (पाणाइवार्यं)²⁹ कहा। प्राण दस बताये। जिनमें पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास और आयु को परिगणित किया जाता है। इन दस में से प्राणी के एक भी प्राण को किसी भी रूप में आहत करना प्राणातिपात है। प्राणातिपात-निषेध में मानव और प्राणियों का सहज अभ्युदय, समता और शान्ति के सूत्र छिपे हैं। जीव को 'सत्व' कहना भी महत्वपूर्ण है। सत्व में सार, सत्य और सत्ता के गहन अर्थ प्रतिध्वनित हो रहे हैं। सत्ता के मूल में अहिंसा है। वह अस्तित्व की शर्त है।

सन्दर्भ

1. समवायांग 1/1, स्थानांग 1/1
2. शास्त्री, देवेन्द्र मुनि : जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण पृ.-87
3. उत्तराध्ययन 36/68
4. उत्तराध्ययन (36/70) में अग्नि और वायु को अपेक्षा से गतिशील माना है तथा स्थावर में पृथ्वी, जल और वनस्पति को लिया गया है।
5. उत्तराध्ययन 36/73-76, प्रज्ञापना (1/24) में पृथ्वीकाय के 40 भेद बताये गये हैं। मूलचार में पृथ्वी के 36 भेद और तिलोयपण्णत्ति में 16 भेद बताये हैं।
6. उत्तराध्ययन 36/86, मूलचार (गाथा 210) में 8 भेद बताये गये हैं।
7. नफा-नुकसान, जयपुर 9-10 फरवरी, 2005
8. उत्तराध्ययन 36/95-96, प्रज्ञापना (1/38-54) में वनस्पति के 12 वर्ग किये गये हैं।
9. उत्तराध्ययन 36/101-109, मूलचार (गाथा 211) में अग्नि के 6 भेद बताये गये हैं।
10. उत्तराध्ययन 36/118
11. भुवनेश मुनि (डॉ.) 'जैन आगमों के आचार दर्शन और पर्यावरण संरक्षण का मूल्यांकन', पृ.-190
12. दशवैकालिक सूत्र 4/62
13. बेइंदिया तेइंदिया, चउरो पंचिंदिया चेव। - उत्तराध्ययन 36/126
14. उत्तराध्ययन 36/172-173
15. उत्तराध्ययन 36/180
16. उत्तराध्ययन 36/181-182
17. उत्तराध्ययन 36/188

18. पंचसंग्रह (गाथा 62) एवं देखें गोम्मटसार जीवकाण्ड (गाथा 149) तथा धवला 13/5
19. धींग, दिलीप 'शाकाहार-क्रान्ति' (मासिक), इन्दौर मार्च 1995 के अंक में प्रकाशित कविता।
20. आचारांग निर्युक्ति 19
21. आचारांग 1/2/6/101
22. दशवैकालिक सूत्र। प्रथम अध्ययन, प्रथम गाथा।
23. तओ ठणइं देवे पिहेज्जा माणुस्सं भवं। - स्थानांग 3/3/52
24. दुल्लहे खलु माणुसे भवे। - उत्तराध्ययन सूत्र 10/4
25. उत्तराध्ययन सूत्र 25/33
26. उत्तराध्ययन सूत्र 12/37
27. प्रज्ञापना सूत्र 1.105 मधुकर मुनि सम्पादित प.-107
28. आचारांग सूत्र 1/4/2
29. उपासकदशांग 1/13 और आवश्यक सूत्र में प्रथम अणुव्रत।

अहिंसा के अर्थशास्त्र के आयाम

अहिंसा की आधारशिला

अहिंसा का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना मानव जाति का। इतिहास के क्षितिज के पार भी अहिंसा का वैभव बिखरा पड़ा है। प्राग्-आर्य सभ्यता तो अहिंसा, सत्य और त्याग पर ही आधारित थी। यहाँ तक उस संस्कृति में पले-पूसे लोग अपने सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक हितों के संरक्षण के लिए भी युद्ध करना पसन्द नहीं करते थे। अहिंसा उनके जीवन व्यवहार का प्रमुख अंग थी। भौतिक विकास की दिशा में भी वे लोग प्रगति के शिखर पर थे। उनके आवास, ग्राम, नगर आदि बहुत सुव्यवस्थित थे। हाथी-घोड़ों की सवारी के अलावा उनके पास गमनागमन के यान भी थे। इतिहास के सिंहावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों के आगमन से पूर्व अहिंसा धर्म इस देश में व्यापक था और राज-परिवारों द्वारा भी वह समादृत था। सम्भव तो यह भी है कि वह बहुत सारे भागों में राज-धर्म भी था। निःसन्देह, अहिंसा अर्थशास्त्र सहित सारी व्यवस्थाओं की धुरी थी।

प्राचीनतम ग्रन्थ आचारंग सूत्र में अहिंसा को शाश्वत और नित्य बताया गया है।^१ आगम ग्रन्थों में अहिंसा की अनेक परिभाषाएँ और व्याख्याएँ मिलती हैं। दशवैकालिक सूत्र में प्राणी-मात्र के प्रति संयम को अहिंसा कहा गया है।^२ यह भयभीत प्राणियों के लिए शरणभूत, पक्षियों के लिए आकाश में मुक्त-विहार के समान, प्यासों के लिए जल के समान, भूखों के लिए भोजन के समान, समुद्र के बीच डूबते हुआ के लिए जहाज के समान, पशुओं के लिए आश्रय-स्थान के समान, रोगियों के लिए औषधि के समान और भयानक जंगल में सहयोगियों के समान है। इतना ही नहीं, यह अहिंसा अत्यन्त विशिष्ट है। यह तस और स्थावर सभी प्राणियों का कुशल-मंगल करने वाली है।^३ आचार्य शिवार्य कहते हैं कि अहिंसा सब आश्रमों का हृदय है तथा सभी शास्त्रों का गर्भ (उत्पत्ति स्थान) है।^४ यहाँ आश्रम शब्द बड़ा अर्थपूर्ण है। इसके अन्तर्गत वाणिज्य और उद्योग सहित श्रमाधारित व श्रम को प्रतिष्ठित करने वाले सभी निकायों को समाविष्ट किया जा सकता है। सभी प्रकार के उपक्रमों में पराक्रम (श्रम) और पराक्रम के साथ

अहिंसा का विवेक, आश्रम से प्रतिध्वनित होता है। शिवाय अहिंसा को सभी शास्त्रों का उत्पत्ति-स्थान भी मानते हैं, निश्चित ही उसमें अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र भी समाविष्ट है।

आगमकारों ने प्रश्नव्याकरण सूत्र^६ में अहिंसा के साठ नाम देकर उसकी व्यापकता और महिमा को कई गुना बढ़ा दिया। अहिंसा का प्रत्येक नाम (रूप) जीव, जीवन और जगत् के मंगल का हेतु है। कुछ नाम अर्थशास्त्रीय दृष्टि से काफी मूल्यवान हैं। जैसे - व्यवसाय (44वाँ नाम), समृद्धि (19वाँ नाम), ऋद्धि, वृद्धि, विश्वास, शान्ति (विश्व-शान्ति), तृप्ति, बुद्धि, धृति, पुष्टि, उत्सव, अप्रमाद आदि। अहिंसा हमारे आसपास सदैव विद्यमान रहती है। आवश्यकता है उसके एहसास और समादर की। अहिंसा का जितना एहसास और समादर किया जायेगा, उसका विकास होगा। अहिंसा का विकास व्यवस्थाओं के विकास से जुड़ा है। अहिंसा के अर्थशास्त्र में संयम और किफायत का शीर्षस्थ स्थान है। जबकि हिंसा की जमीन पर खड़े अर्थशास्त्र में तृष्णा, संग्रह और असंयम को भरपूर छूट है।

शाकाहार और अर्थतन्त्र

शाकाहार मानव सभ्यता और संस्कृति का अरुणोदय है तो अर्थशास्त्र का उषा-काल है। ऋषभदेव ने जनता को कृषि सम्बन्धी ज्ञान देकर शाकाहारिता को व्यवस्थित रूप से स्थापित किया। 22वें तीर्थंकर भगवान नेमीनाथ, जिन्हें कुछ विद्वानों द्वारा ऐतिहासिक तीर्थंकर माना जाने लगा है^७, अपने विवाह के अवसर पर समस्त प्रजाजनों के समक्ष पशु-वध और मांसाहार का विरोध करते हैं और विद्रोह-स्वरूप वे बिना विवाह किये लौट जाते हैं।^८ 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ कर्मकाण्डी हिंसा को नाजायज ठहरा कर अहिंसा व समतामय समाज की स्थापना करते हैं। 24वें तीर्थंकर भगवान महावीर मांसाहार और पशु-वध को नरक का कारण बताते हैं।^९ सचमुच, मांसाहार और पशु-वध की वजह से धरती पर नारकीय स्थितियाँ बढ़ती जा रही हैं। आगम सूत्रों से प्रवर्तित और समर्थित शाकाहार के कितने अर्थशास्त्रीय आयाम हमारे समक्ष हैं, उनकी चर्चा हम यहाँ कर रहे हैं।

अनेक वैज्ञानिक शोधों और प्रयोगों से अब यह दिन की रोशनी की तरह स्पष्ट हो गया है कि मनुष्य मूलतः शाकाहारी प्राणी है। जॉन हॉपकिन्स विश्वविद्यालय के नृत्तत्वशास्त्री डॉ. आलन वाकर का कथन है कि मानव के पूर्वज मांसभक्षी नहीं थे। वे सर्वभक्षी भी नहीं थे। वे फलाहारी/शाकाहारी थे। उन्होंने मनुष्य की दन्त-

रचना का 1 करोड़ 20 लाख वर्षों के काल-पटल पर विस्तृत व गहन अन्वेषण किया और निष्कर्ष दिया कि मानव 12 लाख वर्ष ईसा पूर्व तक फलाहारी था। करीब 12 हजार वर्ष पहले नव-पाषाण युग की क्रान्ति ने उसे गाँव, खेत, बीज, हल, खलिहान, खाद आदि से परिचित कराया तदनुसार वह सुविकसित शाकाहारी बना।¹⁰

जल-बचत और शाकाहार

आज शाकाहार न सिर्फ मात्र आहार, अपितु एक सम्पूर्ण सुविकसित जीवन शैली बन चुका है। शाकाहार मितव्यय-का-अर्थशास्त्र है। संसार में जल-संकट का सबसे बड़ा कारण मांसाहार है। एक पौण्ड (एक पौण्ड = 0.453592 किलोग्राम) मांसाहार के उत्पादन में औसतन 2500 गैलन (एक गैलन = 3.788 लीटर) पानी लगता है। इतने जल से एक पूरे परिवार का महिने भर का काम चल जाता है। जबकि एक पौण्ड गेहूँ के उत्पादन में सिर्फ 25 गैलन पानी लगता है। अमेरिका में एक मांसाहारी के दिनभर के आहार-उत्पादन में 4000 गैलन से अधिक जल लगता है; एक अण्डाहारी व्यक्ति के आहार पर 1200 गैलन; और एक शुद्ध शाकाहारी के आहार पर सिर्फ 300 गैलन जल खर्च होता है। यह हैरानी की बात है कि जितने जल से एक शाकाहारी पूरे वर्ष काम चला लेता है, मांसाहारी उस जल का उपभोग केवल एक महिने में कर लेता है।¹¹

कृषि और मांस-उत्पादन में लगने वाले जल की तुलना भी चौंकाने वाली है। एक पौण्ड गेहूँ के उत्पादन में जितना जल लगता है, उससे 100 गुना अधिक जल एक पौण्ड मांस के उत्पादन में लगता है। मांस के उत्पादन में जितना पानी लगता है, धान्य (चावल) के उत्पादन उसका 10वाँ भाग ही लगता है।¹¹ पानी हर प्रकार के शाकाहार में मांसाहार की तुलना में कई गुना कम लगता है। इस सम्बन्ध में अमेरिका के केलीफोर्निया उत्पादन संस्थान के आँकड़ें प्रस्तुत किये जा रहे हैं:-

एक किलो उत्पादन	प्रतिलीटर जल-खपत
टमाटर	00090
आलू	00092
गेहूँ	00100
गाजर	00125

सेव	00190
सन्तरा	00240
अंगूर	00280
दूध	00520
अण्डे	02000
चूजे	03200
सुअर-मांस	04800
पशु-मांस	10000

कल्लखाने भी अनाप-शनाप जल-खपत के अड्डे हैं। देश में अधिकृत कल्लखानों की संख्या 4000 हैं और अनाधिकृत करीब दो लाख! भारत सरकार द्वारा प्रकाशित वार्षिक सन्दर्भ पुस्तक 'भारत-1995' में 'कार्टमेन' के अध्यक्ष प्रो. एन.एस.रामास्वामी के अनुसार मुम्बई स्थित देवनार कल्लखाना प्रतिवर्ष 44,58,000 करोड़ लीटर पेयजल का उपभोग करता है।¹³ इससे कल्लखानों में होने वाली जल-खपत का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। कल्लखानों को बन्द, कम या नियन्त्रित करके धरती पर अपरिमित पेयजल की बचत की जा सकती है।

शाकाहार : कम जमीन पर अधिक उत्पादन

अमेरिका के कृषि-विज्ञानी सी. डब्ल्यू. फॉर्वर्ड ने शाकाहार व मांसाहार के उत्पादन में लगने वाली जमीन के जो आँकड़ें¹⁴ दिये हैं, वे भी अर्थशास्त्रीय दृष्टि से अवलोकनीय हैं।

जमीन एक एकड़	वज़न पौण्ड में
गोमांस	182.25
बकरे का गोशत	228.00
गेहूँ	1680.00
जौ	1800.00
फलियाँ	1800.00
जई	2300.00
मक्का	3120.00
चावल	4565.00
आलू	20160.00

जितनी जमीन पर उत्पादित चावल से 75 आदमियों का पेट भरना संभव है, उतनी जमीन पर उत्पादित गोमांस से सिर्फ एक आदमी का पेट भर पाता है।

शाकाहार यानि अन्न-बचत

यह तथ्य भी बहुत कम लोग जानते हैं कि मांस-उत्पादन अन्न-उत्पादन की तुलना में अत्यन्त महंगा है। इस सम्बन्ध में यहाँ आँकड़ें दिये जा रहे हैं।¹⁵

एक पौण्ड मांस-उत्पादन पर अनाज की खपत निम्नानुसार है -

मांस	पौण्ड
गोमांस	16
शूकर-मांस	06
टर्की	04
चूजे	03
अण्डे	03

डॉ. नेमीचन्द बताते हैं कि एक पौण्ड मांस पैदा करने के लिए 26 पौण्ड अनाज खर्च होता है। इस प्रकार एक मांसाहारी की खुराक बचाकर कम-से-कम 20 शाकाहारियों का पेट आसानी से भरा जा सकता है। यदि सिर्फ अमेरिका अपने मांसाहार में 10 प्रतिशत की कमी कर ले तो छः करोड़ लोगों का पेट आसानी से भरा जा सकता है। मेनका गांधी का कहना है यदि भारत मांस की खपत 20 प्रतिशत घटा दे, तो 6 करोड़ टन अनाज बचेगा, जो 30 करोड़ लोगों का पेट भरने के लिए पर्याप्त होगा। दुनिया के अर्थशास्त्री यह स्वीकारने लगे हैं कि संसाधनों की बचत और धरती की खुशहाली के लिए शाकाहार वरदान साबित हो सकता है। शाकाहार के प्रसार से आर्थिक और पर्यावरणीय क्षति को रोका जा सकता है। अर्थशास्त्री डॉ. भरत झुनझुनवाला के अनुसार अमरीका सौ एकड़ भूमि में मक्का उगाता है और उसे गाय को खिलाता है। फिर गाय को मारकर उसके मांस को दस मनुष्यों को खिलाता है। हम उसी सौ एकड़ भूमि में चावल, गेहूँ आदि उगाते हैं तथा सौ मनुष्यों का पेट भरते हैं। भूसा गाय को खिलाया जाता है और उसके दूध को मनुष्य पीते हैं। विश्व के समक्ष विकल्प यह है कि वह दस मांसभक्षी मनुष्यों को पालें या सौ शाकाहारियों को। बेशक, सौ शाकाहारी ही उत्तम होंगे। आर्थिक उत्पादन भी सौ मनुष्यों से अधिक हो सकेगा, चूँकि दो सौ हाथों से उत्पादन हो सकेगा।¹⁶ जानवरों से हासिल प्रोटीन वाला खाना (मांस, मछली, अण्डे आदि)

कार्बोहाइड्रेट वाले खाने (अनाज, सब्जियाँ आदि) से सिद्धान्ततः सात गुना महंगा होता है। क्यों कि एक किलो प्रोटीन प्राप्त करने के लिए जानवर को सात किलो अनाज खिलाना पड़ता है। मांसाहारी भोजन के पीछे प्राकृतिक संसाधनों के बहुत अधिक खर्च के कारण गरीब वर्गों के लिए मूल खाद्यान्न की कमी आती है। क्यों कि मांसाहारी प्रोटीन के लिए जानवरों को यही मूल खाद्यान्न दिये जाते हैं। साथ ही खेती की जमीन के बदले चरागाह छोड़ना होता है।¹⁷ पर्यावरण-प्रदूषण, भुखमरी और खाद्यान्न की कमी का एक प्रमुख कारण मांसाहार है।

कत्लखाने और अर्थतन्त्र

अहिंसा की नींव पर खड़े अर्थतन्त्र के कम-से-कम सात आधारभूत तत्त्व हैं - 1. जीवन के प्रति सम्मान, 2. शोषण-मुक्त जीवन शैली, 3. सह-अस्तित्व में घनीभूत आस्था, 4. परस्पर सहयोग का संकल्प, 5. व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में सादगी का अनुसरण, 6. अपव्यय पर अंकुश, और 7. गुणवत्ता पर सावधान नजर।¹⁸ आगमों के पृष्ठ-पृष्ठ पर इन मूल्यों का जीवन्त निरूपण हुआ है। आचारांग¹⁹ में कहा गया - सभी प्राणियों को अपना जीवन प्यारा है तथा सभी प्राणी जीना चाहते हैं। सुख सबको अनुकूल लगता है और दुख प्रतिकूल। जीवन सबको प्रिय है और वध अप्रिय; इसलिए कभी किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये। जीवन के प्रति सम्मान की भावना को गहराई प्रदान करते हुए कहा गया है कि - जीव-वध अपना ही वध है और जीव-दया अपनी ही दया है।²⁰

जहाँ जीव-वध का निषेध है, वहाँ जीवन के प्रति सम्मान के साथ-साथ सह-अस्तित्वपूर्ण, शोषण-मुक्त, संयमित व श्रेष्ठ व्यवस्था आकार लेती है। आगम-साहित्य में उन सब काम-धन्धों का स्पष्ट निषेध है, जो पशु-पक्षियों के वध से जुड़े हैं। पशु-पक्षियों का कत्ल देश के अर्थतन्त्र का कत्ल है। कत्लखानों ने सामाजिकता, मानवीयता, संस्कृति और पर्यावरण को करारी शिकस्त दी है। भारत के केरल राज्य में सर्वाधिक कत्लखाने हैं, आत्म-हत्या की दर भी सर्वाधिक केरल में ही है। मशीनीकरण के कारण कत्लखानों ने अत्यन्त भयानक, रौद्र और महाहिंसा के अड्डों का रूप ले लिया है। जिस पावन धरा पर जहाँ एक ओर पशु-पक्षियों को परिवार के सदस्यों की तरह पाला-पोसा जाता था, वहीं अब इन मूक भोले निरीह प्राणियों के साथ बेजान/निर्जीव वस्तु की तरह सलूक किया जाने लगा है। तात्कालिक

लोभ-लालच में किये जाने वाले खूनी धन्धों से अर्थ के साथ जुड़ने वाले नीति, व्यवस्था और शास्त्र जैसे शब्द लज्जित हो गये। अर्थतन्त्र मानव, मानवता और दुनिया के लिए अनर्थ का तन्त्र हो गया।

बताया जा चुका है कि तीर्थंकर महावीर के प्रमुख उपासकों के पास प्रचुर पशुधन था। पशुधन गाँव को आत्म-निर्भर और गरीब को अमीर बनाकर अर्थव्यवस्था को सदियों से गति देता रहा है। एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत के पशुधन का बाजार-मूल्य 40000 हजार करोड़ रुपये हैं। ये पशु वर्ष में 4 करोड़ टन दूध देते हैं तथा इनसे एक अरब टन गोबर मिलता है। देश में 19 करोड़ 40 लाख गाय-बैल और 7 करोड़ भैंसें हैं, जो 4 करोड़ अश्व-शक्ति (हॉर्स-पावर) के बराबर ऊर्जा उत्पन्न करते हैं। यह ऊर्जा परिवहन में काम आती है। देश में जितनी ऊर्जा प्रयुक्त है, उसकी दो तिहाई ऊर्जा पशु-जनित है। हिसाब लगाया गया है कि यदि हम कृषि क्षेत्र से पशु-बल को हटाना चाहें तो भारत को पेट्रोल पर प्रतिवर्ष करीब 32 हजार करोड़ रुपये अतिरिक्त खर्च करने पड़ेंगे। मांस के लिए पशुओं को कत्लखानों के हवाले करना न तो अहिंसा के अर्थशास्त्र की परिधि के अन्तर्गत है और न ही किसी भी प्रकार के नीतिशास्त्र के अनुरूप यह कृत्य है।

मुम्बई स्थित देवनार कत्लखाना एशिया का सबसे बड़ा कत्लखाना माना जाता है। उसमें प्रतिवर्ष करीब 1 लाख 20 हजार बैल, 80 हजार भैंसें तथा 25 लाख भेड़-बकरियों का वध किया जाता है। करीब डेढ़ हजार कर्मचारी इस बर्बर काम को अंजाम देते हैं। बताया जाता है कि इससे 4 करोड़ रुपयों की आमदनी होती है। इसके विपरीत करीब 200 करोड़ रुपयों की सम्पत्ति नष्ट होती है और गाँवों में लगभग 1 लाख लोग हर साल बेरोजगार हो जाते हैं।¹ भारतीय भेड़ों को यदि मांस के लिए मारने की बजाय, उनकी ठीक तरह से देख-भाल की जाय तो उनसे प्रतिवर्ष 450 करोड़ रुपये मूल्य का खाद, 40 करोड़ रुपये का ऊन और 500 करोड़ रुपये मूल्य का दूध प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु मांस की खातिर उन्हें मार कर 27 करोड़ रुपये मूल्य का ऊन विदेशों से मंगवाते हैं और हजारों बुनकरों की रोजी-रोटी छीनते हैं।² एक अनुमान के अनुसार हमारा पशुधन हमें प्रतिवर्ष 34000 करोड़ रुपये का आर्थिक लाभ देता है, जिसमें 6000 करोड़ रुपये का दूध, 5000 करोड़ रुपये की भारवाहन शक्ति, 3000 करोड़ की खाद और 20000 करोड़ की गैस सम्मिलित है।³ यह तथ्य है कि बेतहाशा बढ़ते वाहनों की संख्या से आर्थिक और पर्यावरण की भारी क्षति हो रही है। पर्यावरणविद् पशु-वाहनों की वकालत करने लगे हैं।

कल्लखाने और पर्यावरण

पशु-पक्षियों के कल्ल के साथ-साथ सृष्टि में बहुत सारी चीजें कल्ल हो कर खतम हो जाती हैं। बहुत सारी चीजों का स्वरूप नकारात्मक हो जाता है। इसलिए भगवान महावीर द्वारा प्राणी-वध को चण्ड, रौद्र, क्षुद्र, अनार्य, करुणारहित, नृशंस और महाभयंकर कहना सौ टका सही है।¹⁴ सम्पूर्ण मानव जाति को वे परम पावन और प्रेरक सन्देश देते हैं - जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।¹⁵ प्रकृति और पर्यावरण के विनाश में हिंसा और असंयम की मुख्य भूमिका है। मांसाहार और कल्लखानों ने तो विश्व-पर्यावरण पर गजब ढाया है।

हमारे देश की टिकाऊ कृषि प्रणाली का रहस्य यही है कि इसमें खेती और पशुपालन को एक दूसरे से जोड़कर रखा गया है। जैव पदार्थों को एक ऐसे रूप में बदलने में, जिसका इस्तेमाल पौधे आसानी से कर लें, पशुओं की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। स्वतन्त्र भारत के प्रथम कृषि मन्त्री के. एम. मुंशी के अनुसार 'मवेशी प्रकृति के सबसे बड़े भूमि उपचारक हैं। वे मिट्टी को उर्वर बनाने वाले अभिकर्ता हैं। वे गोबर के रूप में वह जैव सामग्री उपलब्ध कराते हैं, जो तनिक-से परिष्कार के बाद बहुमूल्य पोषक तत्व में तब्दील हो जाती है। भारत में परम्परा, धार्मिक भावना और आर्थिक जरूरतों ने मिलकर मवेशियों की इतनी बड़ी आबादी खड़ी की है कि वह जीवन-चक्र को हमेशा गतिशील बनाये रखने में सक्षम है, बशर्ते हम इस तथ्य को जान पाएँ।'¹⁶ कल्लखाने भूमि के उपजाऊपन को नष्ट करते हैं। मौत की इस अर्थव्यवस्था ने जैव विविधता संरक्षण को भी भारी क्षति पहुँचाई है। भारत की 30 प्रतिशत स्तनपायी पशु-प्रजातियाँ विलुप्त हो चुकी हैं। कल्लखानों से निकलने वाला मलवा भी पर्यावरण को दूषित करता है। वह अस्वच्छता बढ़ाता है। कोई भी व्यक्ति शाकाहारी हुए बिना पर्यावरण रक्षक नहीं हो सकता, जो जमीन, हवा, पानी और गरीब की रोजी-रोटी बचाने की कोशिश कर सके। शाकाहारी बनने का अर्थ सभी के लिए पर्याप्त व सस्ता भोजन, ज्यादा जंगल, स्थायी बारिश, बेहतर भू-जल स्तर, स्वच्छ नदियाँ आदि होगा।¹⁷

कल्लखाने और भूकम्प

यह आगमिक तथ्य है कि जहाँ तीर्थंकर होते हैं अथवा विचरण करते हैं, वहाँ कोई उपद्रव नहीं होता है। यदि कहीं कोई उपद्रव होता है-तो वह शान्त/समाप्त

हो जाता है।¹⁷ तीर्थंकर अहिंसा-साधना और आध्यात्मिक-ऊर्जा के सघन पुंज होते हैं। करुणा उनके अणु-अणु में होती है। इसीलिये वे सबके कल्याण के लिए उपदेश प्रदान करते हैं।¹⁸ तीर्थंकर के पंच कल्याणकों के समय लोक (सृष्टि) सकारात्मक तरंगों से रोमांचित हो जाता है। फलस्वरूप, नरक में प्रतिपल दारुण कष्ट झेल रहे जीव भी क्षण भर के लिए सुखानुभूति करते हैं।¹⁹

जिस प्रकार करुणा की तरंगों का असर अच्छा होता है, उसी प्रकार कराह, चीख और पीड़ा से उपजी तरंगों का असर भी होता है और वह बुरा होता है। कल्लखाने सघन और मारक पीड़ा-तरंगों उत्सर्जित करते हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक डॉ. मदन मोहन बजाज ने अपने शोध-पत्र में इन तरंगों का वैज्ञानिक अध्ययन करके यह सिद्ध किया है कि भूकम्प, सुनामी और अन्य प्रकार की आपदाओं की प्रमुख वजह हिंसा, हत्या और कल्लखाने हैं।²⁰ भौतिकी का क्रिया-प्रतिक्रिया सिद्धान्त भी इस बात को सिद्ध करता है। प्राणियों के वध से उत्पन्न ये तरंगें निरन्तर संघनित होती रहती हैं। जब इन तरंगों की ऊर्जा विस्फोटक बिन्दु पर पहुँच जाती है, तब धरती काँपती है, जिसे भूकम्प कहा जाता है। भूकम्प और महामारियों से जन-धन की बेहिसाब बर्बादी होती है। जो लोग सतही बातें करते हैं, उन्हें अहिंसा के अर्थशास्त्र के दर्शन को समझना चाहिये।

मांस-निर्यात और अर्थतन्त्र

यान्त्रिक बूचड़खानों ने अर्थतन्त्र को तार-तार करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। हिंसा के व्यापारियों ने खूनी-डॉलर प्राप्त करने के लिए मांस के निर्यात का लम्बा-चौड़ा कारोबार फैला दिया। जिस देश ने दुनिया को अहिंसा, सत्य और शान्ति जैसे मूल्य निर्यात किये हो, यह कितना दुर्भाग्यपूर्ण है कि वह अब अव्वल मांस-निर्यातक बनना चाह रहा है। मांस निर्यात की कुनीति से देश की अर्थव्यवस्था का मेरूदण्ड ही हिल गया है। खेती-बाड़ी पर निर्भर देश की दो तिहाई आबादी से उसका एकमात्र सहायक पशुधन छीना जा रहा है तथा उसे कल्ल कर विदेशों में भेजा जा रहा है। पशुधन की निरन्तर होती कमी से या तो बेरोजगारी बढ़ी है या लोगों के रोजगार के साधन वक्र और नकारात्मक ढंग से बदल गये हैं अथवा बदल देने पड़े हैं।

एक ओर देश में 32 करोड़ की आबादी भूख और कुपोषण की शिकार हो, दूसरी ओर निर्यात के लिए पशुओं का अन्धा-धुन्ध कल्ल देश के साथ क्रूर

आर्थिक खिलवाड़ है। यान्त्रिक बूचड़खानों से प्राप्त चमड़ा, हड्डी आदि वस्तुएँ बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ खरीदती है। जबकि स्वाभाविक मौत से मरने वाले पशु की खाल, सींग, खुर आदि देश के गाँवों-कस्बों के लाखों लघु-कुटीर उद्योगों के आधार हैं। कत्लखानों की वजह से जनसंख्या और पशुसंख्या के अनुपात में भारी अन्तर पैदा हुआ है। इस अन्तर से अर्थव्यवस्था कई जटिल समस्याओं से घिर गई है।

जो लोग गौ-संरक्षण के लिए कार्य कर रहे हैं, उन्हें गाय-बैल के साथ-साथ अन्य पशु-पक्षियों के संरक्षण पर भी ध्यान देना चाहिये। उन्हें बूचड़खानों से प्राप्त पदार्थों के उत्पादों का भी त्याग करना चाहिये। महात्मा गांधी ने उनकी आत्मकथा में 'गौ-माता' शब्द के साथ 'भैंस-माता' और 'बकरी-माता' शब्द भी प्रयोग किये।¹ यह शब्द-प्रयोग क्रान्तिकारी और समाधानकारी है। गाय के दूध और दुग्ध-उत्पादों का आर्थिक महत्व है तो भैंस, बकरी, ऊँटनी आदि के दूध का भी महत्व है। जिस प्रकार गाय के दूध, गोबर, मूत्र आदि पर अनुसंधान किये जा रहे हैं, उसी प्रकार भैंस, भेड़, बकरी आदि पर भी अनुसंधान किये जाय तो उपयोगी नतीजे मिल सकते हैं। गाय के साथ-साथ अन्य पशु-पक्षियों के संरक्षण से कृषि, ग्राम-तन्त्र और ग्रामाधारित अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाया जा सकेगा। जिसकी आज आवश्यकता है।

मांसाहार से देश को जो नुकसान हुआ, उससे अधिक बूचड़खानों से हुआ। उससे अधिक यान्त्रिक बूचड़खानों से और उससे भी अधिक नुकसान मांस-निर्यात से हुआ। मांस-निर्यात के चौकाने वाले आंकड़े यहाँ-दिये जा रहे हैं² :-

वर्ष	मांस-निर्यात (करोड़ रु. में)	चर्म-निर्यात (करोड़ रु. में)
1951	शून्य	शून्य
1961	1	28
1971	3	80
1981	56	390
1991	140	2600
1992	231	3128
1994	615	4000
1996	832	5117

ये आँकड़ें साफ-साफ बयाँ करते हैं कि हम हिंसक-अर्थतन्त्र के जिस रास्ते पर चल रहे हैं, वहाँ मानवता, पर्यावरण और व्यापार-वाणिज्य सब कुछ तहस-नहस हो रहा है। उन्नतियों के बावजूद मानव अवनतियों की ओर बढ़ रहा है। पशु-पक्षियों की तरह मानवीय मूल्यों की अनेक 'प्रजातियाँ' (विशिष्टताएँ) भी लुप्त हो गईं प्रतीत होती हैं।

सन्दर्भ

1. नगराज, मुनि 'अहिंसा पर्यवेक्षण' प्रथम अध्याय। देखें - 'एशेंट इण्डिया' - मजूमदार, राय चौधरी और के.के. दत्ता तथा 'दि रिलिजन ऑफ अहिंसा' - प्रो. ए. चक्रवर्ती।
2. आचारांग सूत्र 1.4.1
3. अहिंसा निउणा दिट्ठो सव्व भूएसु संजमो - दशवैकालिक सूत्र 6/9
4. प्रश्नव्याकरण सूत्र 2/1/21-22
5. भगवती आराधना 790
6. प्रश्नव्याकरण सूत्र 1/21
7. नगराज, मुनि 'अहिंसा पर्यवेक्षण' प. - 11 एवं देखें - 'दि रिलिजन ऑफ अहिंसा' - प्रो. ए. चक्रवर्ती प. - 14
8. उत्तराध्ययन 22वाँ अध्ययन
9. स्थानांग सूत्र 4
10. जैन, नेमीचन्द्र (डॉ.) अहिंसा का अर्थशास्त्र पृ.-5
11. 'शाकाहार क्रान्ति' (मासिक) जनवरी 2001
12. अ.भा. मांस निर्यात निरोध परिषद्, इन्दौर द्वारा प्रकाशित पुस्तिका "महाप्रलय निश्चित" के पृ.-7 पर उद्धृत।
13. 'शाकाहार क्रान्ति', इन्दौर, जनवरी 2001
14. जैन, नेमीचन्द्र (डॉ.) 'शाकाहार : 100 तथ्य' 99वाँ तथ्य।
15. 'शाकाहार क्रान्ति' जनवरी 2001 के अंक के आवरण पृ.-3 प्रकाशित।
16. जैन, नेमीचन्द्र (डॉ.) 'शाकाहार मानव सभ्यता की सुबह' पृ. 80-81. प्रो. सागरमल ने 'अहिंसा की प्रासंगिकता' पुस्तक के अन्तिम अध्याय में शाकाहार के अर्थशास्त्र पर विमर्श किया है। अर्थशास्त्री डॉ. भरत झुनझुनवाला ने राजस्थान पत्रिका में प्रकाशित अपने आलेख 'पर्यावरण की समस्या का मूल कारण' में यह विचार प्रकट किया।

17. हक, मोहम्मद जियाउल (वरिष्ठ पत्रकार) का लेख 'हरित क्रान्ति से जीन क्रान्ति तक' प्रकाशित 'राजस्थान पत्रिका' 28-1-2005 पृष्ठ-8
18. जैन, नेमीचन्द (डॉ.) अहिंसा का अर्थशास्त्र प.-14
19. आचारांग सूत्र 1/2/3
20. समणसुत्तं 151
21. जैन, नेमीचन्द (डॉ.) 'कल्लखाने : 100 तथ्य' तथ्य 28-29
22. वही, तथ्य 97
23. अणुव्रत (पाक्षिक), नई दिल्ली, अप्रैल-2002, अहिंसा विशेषांक, प.-113
24. पाणवहो चण्डो, रुदो, खुदो, अणारियो, निग्घणो, निसंसो, महब्भयो - प्रश्नव्यकरण 1/1
25. आचारांग सूत्र 1/5/5
26. शिवा वन्दना (डॉ.) का लेख 'पशुओं का अन्धाधुन्ध कल्ल क्यों?' मेरठ से प्रकाशित 'पर्यावरण मित्र' पुस्तक में पृ.-8 पर प्रकाशित।
27. गांधी मेनका का लेख 'शाकाहार बचाता है पर्यावरण को', राजस्थान पत्रिका 3-5-06
28. समवायांग व कल्पसूत्र में तीर्थंकर चरित एवं आचारांग 1/4/1/127।
29. कल्पसूत्र में तीर्थंकर चरित।
30. शाकाहार क्रान्ति नवम्बर 2004 पृ.-7
31. गांधी, मोहनदास करमचंद (महात्मा), आत्मकथा, चौथे भाग का 8वाँ अध्याय, पृ.-235
32. विशेष जानकारी के लिए देखें ठाणे (महाराष्ट्र) से प्रकाशित 'शाश्वत धर्म' (मासिक) का मांस निर्यात विरोध विशेषांक अगस्त 1999

परिच्छेद छः

संयम के अर्थशास्त्र के आयाम

आर्थिक संयम

गृहस्थाचार के अन्तर्गत और अन्यत्र हमने अहिंसा और संयम के विभिन्न आयामों की चर्चा की। अहिंसा और संयम सहवर्ती गुण हैं। इन्हें अर्थशास्त्र के नियामक तत्व कहा जा सकता है। भगवान महावीर कहते हैं व्यक्ति वध और बन्धन द्वारा दूसरों का दमन करता है। इससे तो अच्छा है, वह संयम और तप के द्वारा स्वयं का ही दमन करें।' संयम का अर्थशास्त्र मूलतः व्यष्टिगत नियमों और हितों की व्याख्या करता है, जिनके विवेकसम्मत अनुपालन से समष्टिगत अर्थशास्त्र के उद्देश्यों को आधारभूत तरीकों से पूरा किया जा सकता है। संयम अपव्यय के सारे द्वारों को रोक देता है। वह जीवन के समस्त व्यवहारों में विवेक और अनुशासन पैदा करता है।

एक व्यक्ति की मामूली आय है, परन्तु उसकी जीवन शैली संयमित है। वह पैसे का अपव्यय नहीं करता है। मौज-शौक और व्यसनो से दूर रहता है। धीरे-धीरे वह सम्पन्नता की ओर बढ़ता चला जाता है। वह आर्थिक दृष्टि से तो सम्पन्न बनता ही है, वैचारिक व नैतिक दृष्टि से भी वह सम्पन्न बनता है। जबकि एक अन्य व्यक्ति जिसकी आय काफी ठीक है। परन्तु वह व्यसनी और विलासी है। वह अर्जन करते हुए भी विपन्न बना रहता है। उसकी निर्धनता उसे अन्य कई सुख और मान-सम्मान से वंचित कर देती है। जैन धर्मानुयायियों की सम्पन्नता की एक वजह उनकी संयमित, अनुशासित और व्यसन-मुक्त जीवन शैली का होना है।

ढाई हजार साल पहले भगवान महावीर ने संयम का एक प्रायोगिक अभियान शुरू किया था। जिस समय आबादी आज जितनी नहीं थी, उस समय पाँच लाख व्यक्तियों का समाज बनाया था। पाँच लाख लोग उस समय की दृष्टि से कम नहीं होते हैं। वे लोग संयम, सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करते थे। जन सामान्य से लेकर लिच्छवी गणतन्त्र के अध्यक्ष महाराजा चेटक और प्रख्यात गाथापति आनन्द जैसे वर्चस्वी व्यक्ति भी उस व्रती समाज से जुड़े हुए थे।

सूक्तकृतांग³ में कहा गया - जो अपने पर अनुशासन नहीं रख सकता, वह औरों पर अनुशासन कैसे कर सकता है ? शासन और प्रशासन के संचालन में अहिंसा और संयम पर आधारित नियमों से एक विश्वस्त व्यवस्था की स्थापना सम्भव है। संयम जीवन में मर्यादाओं की रेखाएँ खींचता है।

संयम के प्रकार

आगम ग्रन्थों में संयम के अनेक प्रकार बताये गये हैं। स्थानांग सूत्र में उसके चार प्रकार बताये गये हैं - मन, वचन, शरीर और उपकरणों का संयम।⁴ आवश्यक सूत्र में संयम के सत्रह भेद बताये गये हैं।⁵ इन भेदों में उपरोक्त चार के अतिरिक्त - पाँच प्रकार के स्थावर कायिक जीवों का संयम, चार प्रकार के तस जीवों का संयम, प्रेक्षा संयम, उपेक्षा संयम, प्रमार्जन संयम और परिठावणिया संयम हैं। सत्रह प्रकार का संयम दूसरी तरह से भी गिना जाता है, जिसमें पाँच आश्रवों का त्याग, पाँच इन्द्रियों का दमन, चार कषायों का त्याग और त्रियोगों को वश में करना सम्मिलित है। संयम के अधिकांश भेदों का अन्यत्र विमर्श हुआ है। कुछ बिन्दु यहाँ विमर्शनीय है।

अजीव काय संयम : जीव-संयम से अहिंसा की प्रत्यक्ष आराधना जुड़ी है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि भगवान महावीर की अहिंसा अनन्त आयामी है। उन्होंने निर्जीव वस्तुओं के संयम की बात कह कर, सचमुच, अहिंसा को गहराइयाँ प्रदान कीं। जो वस्तुएँ, उपकरण आदि हमारे आसपास, इर्द-गिर्द हैं, उनकी उपस्थिति और अवस्थिति किसी व्यवस्था के क्रम में हैं। उनकी स्वाभाविक अवस्थिति भंग करना अथवा इन चीजों का किसी तरह दुरुपयोग करना हिंसा है।

हमारे काम में आने वाली वस्तुओं के निर्माण में स्थावर-कायिक जीवों की अनिवार्य हिंसा प्रत्यक्ष रूप से जुड़ी होती है और अप्रत्यक्ष रूप से तस जीवों की हिंसा भी जुड़ी होती है। वस्तुओं के दुरुपयोग का अर्थ है सकल राष्ट्रीय उत्पाद की इकाई का दुरुपयोग तथा दुरुपयोग के फलस्वरूप ऐसी वस्तु के पुनर्निर्माण पर प्रकृति का अधिक दोहन।

उपभोक्ता के व्यवहार का आर्थिक गतिविधियों के अनेक घटकों पर तथा पर्यावरण पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। असंयम प्रदूषण का कारण बनता है। प्रदूषण पदार्थ के प्राकृतिक संघटक को क्षतिग्रस्त या नष्ट करता है। यह खाद्य-शृंखला, कार्बन, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन और हाइड्रोजन (सी.एन.ओ.एच.) के

परिपथ में हस्तक्षेप करता है और इस प्रकार पौधों तथा पशु जीवन को क्षतिकारित करता है। यह जीवित रहने वालों का जीवित रहना कठिन और दुष्कर बना देता है। प्रदूषण से न सिर्फ जीवित रहने वालों को अपितु सम्पत्ति और भवन को भी दुष्प्रभावित करता है। जीव-मण्डल और पारिस्थितिकी में असन्तुलन तथा ग्रीन हाउस गैस प्रभाव को बढ़ाने में हिंसा और असंयम मुख्य रूप से जिम्मेदार हैं।

मौजूदा दौर में उपभोक्ता का व्यवहार काफी असंयमित, खर्चीला और अपव्ययकारी हो गया है। 'प्रयोग करो और फेंको' (Use & Throw) की बाजार की नीति (Policy) वह बिना सोचे-समझे जहाँ-तहाँ अपना रहा है। उपभोक्ता का असंयमित व्यवहार प्रकृति और समाज दोनों के असन्तुलन का जिम्मेदार है। अजीवकाय संयम व्यक्तिगत और सार्वजनिक सम्पत्ति के दुरुपयोग पर स्वैच्छिक अंकुश का सूत्र है। वह हर प्रकार की वस्तु के विवेकसम्मत उपयोग की प्रेरणा देता है।

प्रेक्षा संयम : हर प्रकार की वस्तु को भली प्रकार से देख-भाल कर उपयोग में लेना चाहिये। व्यापार में वस्तुओं के ऋय और विपणन पर भी यह बात लागू होती है। **उपेक्षा संयम :** जो बातें, घटनाएँ जीवन के प्रपंच को बढ़ाती हैं और गुणवत्ता घटाती हैं, उन्हें नजरअन्दाज करना उपेक्षा संयम है। **प्रमार्जन संयम** जीवन का हर काम यतना से करने का बोध कराता है।

परिठावणिया-संयम : देह की अशुचिताओं को इस प्रकार और ऐसे स्थान पर विसर्जित करना, जिससे अहिंसा और स्वच्छता को नुकसान नहीं हो। आर्थिक जगत् में औद्योगिक कचरा फेंकने की बड़ी समस्या है। उसे हर कहीं फेंक देने से स्थल, जल और वायु का पर्यावरण संदूषित होता है। नगरीय व्यवस्था में भी अपशिष्ट को उचित स्थान पर विसर्जित करना चाहिये।

जनसंख्या-सिद्धान्त और ब्रह्मचर्य

संयम का एक अर्थ होता है - आत्म-संयम यानि ब्रह्मचर्य। भगवान महावीर ने ढाई हजार वर्ष पूर्व ब्रह्मचर्य को मानव और मानव-समाज की बुनियाद के रूप में कई उपयोगी आयामों के साथ स्थापित किया। उन्होंने ब्रह्मचर्य को सभी व्रतों में श्रेष्ठ, उत्तम और बहुफल देने वाला बताया। अर्थशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाय तो जिस जनसंख्या के सिद्धान्त को अर्थशास्त्री माल्थस ने अठारहवीं शताब्दी के अन्त (1798) में प्रतिपादित किया था, आगम ग्रन्थों में उसका निरूपण उससे

तेबीस शताब्दियों पूर्व ही हो चुका था। जैन सूत्रों में ब्रह्मचर्य को नीरस और संन्यासियों का व्रत ही नहीं, अपितु उसे जीवन्त और प्रत्येक सदाचारी मानव के लिए आवश्यक व्रत बताया गया है। कथानुयोग की अनेक कथाओं और गृहस्थाचार के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जैन गृहस्थों ने गृहस्थ जीवन में भी नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य का अनुपालन करके परिवार और समाज में अनुकूल वातावरण का निर्माण किया। इस व्रत ने जनसंख्या-नियन्त्रण के अलावा समाज में सदाचार की स्थापना तथा योग्य, स्वस्थ व समर्थ नागरिकों के निर्माण में महान योगदान किया है। नारी-स्वतन्त्रता और स्त्री-पुरुष समानता जैसे मुद्दों के सम्बन्ध में ब्रह्मचर्य एक केन्द्रीय भूमिका निर्वहन करने वाला निरापद नियम है। जैन धर्मावलम्बी आत्म-संयम अपनाने में अव्वल है। भारत की जनसंख्या के 1991 तथा 2001 के आँकड़ों के अनुसार जैन समाज की जनसंख्या व जनसंख्या वृद्धि दर अन्य धर्मावलम्बियों की तुलना में कम है। जबकि साक्षरता का प्रतिशत सर्वाधिक है। यही नहीं, स्त्री-पुरुष का अनुपात भी अनुकूलता के दूसरे क्रम पर है।⁷ गरीबी-अमीरी और शिक्षा-अशिक्षा से जनसंख्या का सीधा सम्बन्ध है।

अर्थशास्त्री माल्थस ने अपने जनसंख्या के सिद्धान्त में बताया कि जनसंख्या ज्यामितीय गति (1, 2, 4, 8, 16, 32) से बढ़ती है, जबकि खाद्यान्न वृद्धि अंकगणितीय गति (1, 2, 3, 4, 5, 6) से होती है। फलस्वरूप जनसंख्या और खाद्य-पूर्ति में असन्तुलन पैदा हो जाता है। इस असन्तुलन के निवारण का उपाय है - लोग आत्म-संयम और ब्रह्मचर्य को जीवन का अंग बनायें। यदि जनता आत्म-संयम की राह नहीं चुनती है तो प्राकृतिक आपदाओं से आबादी नियन्त्रण होता है। माल्थस ने चेतावनी देते हुए कहा था - लोग अपने कामोन्माद को यथासम्भव नियन्त्रण में रखें। यदि वे कामोन्माद को इस ढंग से तुष्ट करते हैं कि जिससे अन्त में अनिवार्य रूप से वेदना होती है तो उपर्युक्त नियम की सुस्पष्ट अवज्ञा ही होगी।⁸

माल्थस के बाद नव-माल्थसवादियों ने आबादी नियन्त्रण के लिए कृत्रिम उपायों की वकालत कर डाली। अर्थशास्त्र में जनसंख्या के और सिद्धान्त आये, जिनमें इष्टतम जनसंख्या का सिद्धान्त, जीव-विज्ञानीय सिद्धान्त और जनांकिकीय संक्रमण का सिद्धान्त मुख्य हैं। इन सभी सिद्धान्तों में जनसंख्या और अर्थव्यवस्था को लेकर विस्तृत विवेचन हुआ। यह आश्चर्यजनक है कि माल्थस के बाद सबने आत्म-संयम को उपेक्षित कर दिया। परिणाम स्वरूप जनसंख्या में कमी के साथ-साथ जीवन की गुणवत्ता में भी कमी होने लगी।

असंयम और जनसंख्या के अन्तर्सम्बन्ध को अलग अर्थ देते हुए 'वाइल्ड अर्थ' पत्रिका में एल्बर्ट बार्टलेट बताते हैं कि जनसंख्या की समस्या अमरीका में है। वहाँ एक नागरिक बढ़ता है तो वह विकासशील देशों की तुलना में तीस गुना अधिक प्रकृति का दोहन करता है। विश्व के सभी देशों से अमरीका में जन्म दर न्यूनतम होने के बावजूद पर्यावरण-संरक्षण की दृष्टि से अमरीका में आबादी नियन्त्रण पहले होना चाहिये।⁹ पर्यावरण और आर्थिक विकास का सम्बन्ध जनसंख्या में ही नहीं, संयम की संस्कृति में भी है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि मनुष्य भोगवादी संस्कृति में उलझे रहता है तो जनसंख्या-नियन्त्रण के सुपरिणाम प्राप्त नहीं होंगे।

असंयम के परिणाम

आज दुनिया में सेक्स ने बहुत ही घिनौने व्यापार का रूप ले लिया है। 26 दिसम्बर, 2004 को दक्षिणी भारत सहित एशिया के अनेक देशों में समुद्री भूकम्प 'सुनामी' ने मानव जाति पर अभूतपूर्व कहर ढाया। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक करीब डेढ़ लाख लोगों की इस त्रासदी में जान गई। लाखों लोग बेघर हो गये। सम्पत्ति के नुकसान का तो कोई हिसाब ही नहीं। जयपुर से प्रकाशित होने वाले एक आर्थिक अखबार 'नफा-नुकसान' ने इस त्रासदी के लिए देह-व्यापार के निमित्त हो रहे मर्यादाओं के उल्लंघन को सीधे तौर पर जिम्मेदार ठहराया है। इस भूकम्प का केन्द्र थाइलैण्ड रहा, जिसे दुनिया की 'सेक्स-राजधानी' माना जाता है। देह-व्यापार के आँखें उधाड़ने वाले वीभत्स आँकड़े प्रस्तुत करते हुए अखबार लिखता है कि प्रकृति की विनाश लीला से बचने के लिए मर्यादा का पालन सबसे अहम् है। हम ग्लोबलाइजेशन के जिस युग में जी रहे हैं, उस युग में मर्यादा बहुत पीछे छूट चुकी है और हम मर्यादा से दूर भागते हुए हर पल विनाश लीला को आमंत्रित कर रहे हैं।¹⁰

आत्म-संयम की उपेक्षा के परिणामस्वरूप अर्थशास्त्र नीतिशास्त्र की खुल्लमखुल्ला अवहेलना करने लगा। पर्यटन व्यवसाय में स्वच्छन्द यौनाचार, फिल्म-उद्योग में भद्दे तरीकों से देह-प्रदर्शन और कॉर्पोरेट जगत में विज्ञापनों में नारी-देह को वस्तु की तरह प्रदर्शित करने से मानवीयता और समाजिकता के अनेक गौरवशाली प्रतिमान ताश-पत्तों के महल की भाँति गिर रहे हैं। इससे परिवार टूट रहे हैं, समाज बिखर रहा है और अर्थशास्त्र अपने पुनीत लक्ष्यों से भटकता जा रहा है।

अर्थशास्त्री डॉ. मार्शल ने उत्पादक-श्रम की अपनी अवधारणा से वैश्यावृत्ति या देह-व्यापार को बाहर निकाल दिया था। प्रो. सैलिंगमैन ने भी कहा था कि सच्ची आर्थिक-क्रिया परिणामतः सादाचारिक होनी चाहिये।¹¹

ब्रह्मचर्य व्रत के खण्डन से अर्थात् वैवाहिक सीमा के उल्लंघन से सारा संसार एड्स नामक जानलेवा महामारी से जूझ रहा है। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार संसार में प्रतिदिन करीब 6000 लोग एड्स से जान गँवा देते हैं और करीब 8200 लोग इस जानलेवा रोग से संक्रमित हो जाते हैं।¹² इसके अलावा कृत्रिम उपायों से आबादी-नियन्त्रण के अन्तर्गत मानव-स्वास्थ्य (विशेषतः स्त्री-स्वास्थ्य) के साथ खिलवाड़ हो रहा है। कमजोर स्वास्थ्य की वजह से विश्व में प्रति मिनट एक महिला प्रसव के दौरान मर जाती है।¹³ इन बीमारियों से बचने और बचाने के लिए अपार धन खर्च किया जा रहा है। एड्स और अन्य रोगों से बचने का सर्वाधिक निरपेक्ष उपाय आत्म-संयम है। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के महानायक महात्मा गांधी भी जनसंख्या-नियन्त्रण के लिए आत्म-संयम के अभ्यास और विकास की सलाह देते हैं। वस्तुतः आत्म-संयम से जनसंख्या पर ही नियन्त्रण नहीं होता, अपितु अनेक प्रकार की समस्याओं पर भी नियन्त्रण होता है। सच है - 'अणेगा गुणा अहीणा भवति एकंमि बंभचरे' - एक ब्रह्मचर्य की साधना से अनेक गुणों का संचार होता है।¹⁴

संयम के संकल्प, अभ्यास और विकास के लिए जैन आगम ग्रन्थ प्रत्याख्यान का विधान करते हैं।¹⁵ प्रत्याख्यान का अर्थ है - प्रतिज्ञा। व्यक्ति एकाएक त्याग व संयम के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता है तथा सबकी क्षमता व रुचि भी समान नहीं होती है। वस्तुओं की मात्रा तथा उनका उपयोग करने की अवधि की मर्यादा करना एक विवेकशील और दृढ़ मनोबल वाले व्यक्ति का काम है। आर्थिक जगत् में व्यक्ति यदि प्रामाणिकता का संकल्प करता है, विलासिता-रहित और सादगी का संकल्प करता है, तो वैसा संकल्प व्यक्ति और देश दोनों के लिए लाभदायक है। इस प्रकार संयम, आत्म-संयम और मर्यादा से आर्थिक व्यवस्थाएँ मजबूत होती हैं।

सन्दर्भ

1. उत्तराध्ययन सूत्र 1/16
2. महाप्रज्ञ, आचार्य, महावीर का अर्थशास्त्र पृ.-24-25
3. अप्पणो य परं नालं कुतो अन्नाणुसासिडं - सूत्रकृतांग सूत्र 1/1/2/17
4. स्थानांग सूत्र 4/2
5. अमोलक ऋषि, आचार्य, 'जैन तत्त्व प्रकाश' पृ.-253 तथा 'आवश्यक सूत्र की पाँचवीं वन्दना।
6. सूत्रकृतांग 6/23
7. देखें जनगणना आयोग द्वारा प्रकाशित आँकड़ें तथा दैनिक भास्कर 20 सितम्बर, 2004
8. माल्थस, टी.आर. 'एन एसे ऑन दि प्रिंसिपल ऑफ पोपुलेशन' प्रस्तावना।
9. झुनझुनवाला, भरत (अर्थशास्त्री), राजस्थान पत्रिका (अगस्त, 2002) में प्रकाशित लेख 'पर्यावरण की समस्या का मूल कारण', सम्पादकीय पृष्ठ।
10. नफा-नुकसान, (जयपुर) 31 दिसम्बर-04 से 2 जनवरी-2005 तक का अंक पृ.-2
11. महाप्रज्ञ, आचार्य 'महावीर का अर्थशास्त्र' पृ.-110
12. नफा-नुकसान, जयपुर (आर्थिक अखबार) 9-10 फरवरी, 2005, पृ.-8
13. वही, पृ.-8
14. प्रश्नव्याकरण 2/4
15. आवश्यक सूत्र में छठवाँ आवश्यक।

अध्याय षष्ठम् : आगमिक और आधुनिक अर्थशास्त्र

परिच्छेद एक

भ. महावीर का अर्थशास्त्रीय व्यक्तित्व

परिच्छेद दो

अपरिग्रह का अर्थशास्त्र

परिच्छेद तीन

मध्ययुगीन अर्थव्यवस्थाएँ

परिच्छेद चार

आधुनिक अर्थव्यवस्थाएँ

परिच्छेद पाँच

तुलनात्मक विचार

परिच्छेद एक

भ. महावीर का अर्थशास्त्रीय व्यक्तित्व

आगमों में वर्णित जीवन-दर्शन ढाई हजार वर्ष प्राचीन है। उसमें व्यक्ति और समाज का अर्थशास्त्र भी है। आगमों में जिन जीवन-मूल्यों की स्थापना और प्रतिष्ठा हैं, वे तत्कालीन समय से सन्दर्भित होने के बावजूद तैकालिक हैं। इसलिए आगम-साहित्य आज भी संसार को उसी तरह प्रकाशित करता है, जैसे सूर्य।

आगम-युग का अर्थतन्त्र और आगमिक अर्थतन्त्र दो चीजें हैं। आगम-युग में सभी प्रकार के लोग थे। इसलिए समाज में सभी प्रकार का व्यवहार प्रचलित था। तीर्थंकर महावीर के जन्म के समय समाज की दशा बहुत अच्छी नहीं थी। तेबीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अन्तिम प्रतिनिधि श्रमण केशी कुमार ने इस स्थिति को देखकर कहा था कि चारों ओर अंधकार ही अंधकार है, भोली भाली जनता अंधकार में भटक रही है। इस काल निशा का अन्त कब होगा और कौन-सा सूर्य क्षितिज पर प्रकाश रश्मियाँ बिखेरता हुआ संसार को आलोकित करेगा? उनकी चिन्ता को दूर करते हुए इन्द्रभूति गौतम ने कहा था कि चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर समाधान-के-सूरज हैं।'

वर्धमान

भगवान महावीर अहिंसा के सूर्य और सर्व-समृद्धि के अलोक-पुंज थे। जैसे सूर्योदय से पूर्व ही उजाला होने लग जाता है, वैसे ही उनके गर्भ में आते ही नव-परिवर्तन और पुनर्जागरण के संकेत मिलने लग गये थे। सबसे पहले तो उनके गर्भ में आते ही सम्पूर्ण राज्य में धन-धान्य की अभिवृद्धि होने लगी थी।¹ फलस्वरूप उनका नाम वर्धमान रखा गया, जो ऋद्धि, सिद्धि, वृद्धि और समृद्धि का सूचक है।

कौटुम्बिक प्रेम

दूसरी घटना भी उनके गर्भ-काल की है। उन्होंने गर्भवास में विचार किया कि उनके हिलने-डुलने से माँ त्रिशला को कष्ट होता है, सो उन्हें वैसा नहीं करना चाहिये। उन्होंने हिलना-डुलना बन्द कर दिया। परिणाम स्वरूप त्रिशला चिन्तित हो गई। वर्धमान ने विचार किया कि उन्होंने तो माँ के सुख के लिए हिलना-डुलना बन्द किया था, परन्तु इससे तो माता-पिता और अन्य सभी की चिन्ता बढ़ गई है।

ऐसा जानकर उन्होंने पूर्ववत् पुनः हलन-चलन शुरू कर दी। इससे सबके चेहरे खिल उठे।^१ इस घटना पर वर्धमान संकल्प करते हैं कि माता-पिता के जीवित रहते वे प्रव्रज्या अंगीकार नहीं करेंगे।^२ उनका यह संकल्प आज भी उन सबको प्रेरणाएँ देता है जो अपने माता-पिता और बड़े-बुजुर्गों की अवहेलना करते हैं। तीर्थंकर महावीर ने न सिर्फ अपने संकल्प को निष्ठा से निभाया, बल्कि उसे और आगे बढ़ाया। माता-पिता के स्वर्गवास के बाद जब उन्होंने अपने अग्रज नन्दीवर्धन से दीक्षा की अनुमति चाही तो नन्दीवर्धन ने उन्हें कुछ समय और रुक जाने के लिए कहा। वर्धमान ने बड़े भाई की भावना का सम्मान करके भ्रातृत्व का परिचय भी दिया।^३

माता-पिता और बड़े-बुजुर्गों की उपेक्षा तथा भाइयों के आपसी मनमुटव से अनेक कुटुम्ब टूट-बिखर जाते हैं और ऐसे कुटुम्ब के सदस्य जीवन के सच्चे सुख से वंचित होकर आत्म-वंचना में जीते हैं। वे जाने-अनजाने समृद्धि की सुखमय राह छोड़ देते हैं। बड़े-बुजुर्गों के अनादर से पारिवारिक-सामाजिक कष्ट बढ़ते हैं और अन्ततः उसका विपरीत असर आर्थिक-उन्नति पर भी होता है। भ. महावीर का जीवन प्रेम का अमर सन्देश देता है।

संयमित जीवन

भगवान महावीर के माता-पिता भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रावक-श्राविका थे। इसलिए उनके परिवार में अहिंसा, संयम और तप की आराधना होती थी। दीक्षा से पूर्व गृहवास में महावीर का जीवन भी व्रत, नियम, संयम और सादगी से अनुप्राणित था। वे अचित्त जल और अचित्त आहार ग्रहण करते थे। रात्रिभोजन नहीं करते थे। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि व्रतों का सहज और सूक्ष्म रूप से पालन करते थे।^४ आचारांग में कहा गया कि गृहस्थ जीवन के अन्तिम दो वर्षों में भगवान महावीर सचित्त जल नहीं पीते थे।^५ उनका सारा व्यवहार क्रोधादि कषायों से रहित था। उनकी जीवन शैली में भोगवाद का अभाव था। अर्थशास्त्रीय दृष्टि से संयमित जीवन का बहुत मूल्य है।

स्वावलम्बन की शिक्षा

वर्धमान के वर्षादान और वस्त्रदान की चर्चा पहले की जा चुकी है। साधना-काल में उनकी क्रान्तधर्मिता नये-नये रूपों में प्रकट होने लगी। प्रथम उपसर्ग के बाद देवराज इन्द्र भगवान से कहता है कि साधना-काल में आने वाले

कष्टों के निवारणार्थ वह उनकी सेवा में रहना चाहता है। भगवान समाधान करते हुए कहते हैं कि परावलम्बी होकर लक्ष्य प्राप्ति सम्भव नहीं है।^९ आचारंग सूत्र में भगवान महावीर के लिए कहा गया है कि वे कष्टों से बचने के लिए किसी की शरण में नहीं जाते थे - *गच्छइ णायपुत्ते असरणाए*।^९ उनका मत था कि दूसरों की शरण में रहकर अपने आप को नहीं पाया जा सकता। जीवन के समरंगण में आगे बढ़ने वालों के लिए स्वावलम्बन मुख्य शर्त है। बेरोजगारी घटने और उद्यमिता बढ़ाने के लिए स्वावलम्बन और आत्म-निर्भरता स्वर्ण-सूत्र है।

आजीविका को चोट नहीं पहुँचाना

विहार करते हुए भगवान मोराक सन्निवेश पहुँचे। उनकी उत्कृष्ट साधना और अपूर्व तेजस्विता के समक्ष जनता श्रद्धाभिभूत थी। लोग आते और भगवान को वन्दना कर लौट जाते। इस सन्निवेश में अच्छन्दक जाति के ज्योतिषी रहते थे। ज्योतिष के आधार पर उनकी जीविका चलती थी। भगवान के सहज रूप से बढ़ते प्रभाव से अच्छन्दकों का प्रभाव क्षीण होने के साथ ही उनकी जीविका पर भी इसका विपरीत असर हुआ। इस पर अच्छन्दक ज्योतिषियों ने भगवान से निवेदन किया - 'भगवन्! आपका व्यक्तित्व अपूर्व है, आप अन्यत्र पधारें, क्यों कि आपके यहाँ बिरजने से हमारी जीविका नहीं चलती है।' भगवान महावीर बिना विलम्ब किये वहाँ से विहार करके आगे बढ़ जाते हैं।^{१०} भगवान की अहिंसा और करुणा इतनी गहरी थी कि किसी की आजीविका में तनिक व्यवधान भी उनके लिए असम्भव था। यह घटना व्यक्ति को कई प्रेरणाएँ देती हैं। आर्थिक जगत में गला-काट अस्वस्थ स्पर्धा से बचना, किसी की आजीविका में बाधक नहीं बनना और किसी की आजीविका व रोजगार में सहयोग करना। बढ़ते आर्थिक उपनिवेशवाद को रोकने के लिए भी यह घटना अत्यन्त प्रेरक है।

नारी उद्धार

चन्दनबाला का उद्धार भगवान महावीर के साधना-काल की सुप्रसिद्ध घटना है। राजघराने और अनेक सम्पन्न श्रेष्ठी देखते रह गये और तीर्थंकर महावीर एक दुखियारी के द्वार पर पहुँच जाते हैं। छःमासी उपवास के पारणे में अत्यन्त मामूली चीज उड़द के बाकुले ग्रहण करके उन्होंने सबको अचम्भित कर दिया। तत्कालीन साम्राज्यवादी लिप्सा के परिणाम स्वरूप राजकुमारी चन्दनबाला का दासी की तरह विक्रय हुआ था।^{११} यह घटना 1. साम्राज्यवाद, 2. दास-दासी प्रथा,

3. स्त्री-पुरुष असमानता और 4. सामाजिक असमानता पर करारी चोट करती है। चारों ही बिन्दु अर्थशास्त्र में सदैव विमर्शनीय रहे हैं।

समता का साम्राज्य

कैवल्य प्राप्ति के साथ ही भ. महावीर का तीर्थकरत्व प्रकट हो गया। समवसरण में उनकी देशनाएँ सुनने के लिए मानव ही नहीं, देवगण और पशु-पक्षी भी उपस्थित होते थे। समवसरण समता और समानता, प्रकृति और पर्यावरण, अभय और मैत्री के जीवन्त रूप होते थे। कैवल्य प्राप्ति के दूसरे ही दिन उन्होंने द्रव्य-यज्ञ और कर्मकाण्ड की विषमतामूलक व्यवस्था को अपने समता के विराट् साम्राज्य में बुलाकर उसे भी समवसरण के परम समतामय वातावरण में समाहित कर लिया था।¹² उन्होंने समाज में उपेक्षित वर्गों के व्यक्तियों को भी अपने धर्म-संघ में दीक्षित किया और परमेष्ठी पद पर आरूढ़ किया। गृहस्थ-धर्म में भी सभी वर्णों, वर्गों, गोत्रों और जातियों के व्यक्तियों को समान स्थान मिला। उनके संघ में अभिवादन का आधार चरित (दीक्षा-पर्याय) है; उग्र, जाति या सांसारिक पद नहीं। तत्कालीन समाज में ये घटनाएँ क्रान्तिकारी थीं।

जनभाषा का प्रयोग

उस समय कुछ लोगों द्वारा किसी भाषा विशेष को महत्व देकर कुछ लोगों का अनावश्यक शोषण किया जा रहा था। इस कारण से समाज का एक भाग शास्त्र-ज्ञान और अध्ययन से वंचित था। महिलाओं को भी आगे बढ़ने की स्वतन्त्रता नहीं थी। तत्कालीन जन-बोली/जन-भाषा प्राकृत में भगवान महावीर ने उपदेश देकर जन-जन में ज्ञान-विज्ञान और सदाचार की नव-चेतना जगाई। उन्होंने जनता के सांस्कृतिक उत्थान के लिए प्राकृत भाषा का उपयोग अपने उपदेशों में किया।¹³ पिछली सदी से देश में भाषा एक बहुत बड़ा मुद्दा रहा है। भाषा के साथ धर्म, संस्कृति, परम्परा, व्यवसाय, रोजगार जैसी अनेक बातें जुड़ी हैं। जन भाषा के प्रयोग के माध्यम से भगवान महावीर लोक-संस्कृति को प्रतिष्ठित करते हैं साथ ही लोक में संस्कृति व संस्कारों की सरिता भी प्रवाहित करते हैं। जनभाषा के माध्यम से उन्होंने ऐसी जनता को शिक्षित, समझदार, योग्य व समर्थ बनाया, जिसे आम तौर पर नासमझ, अशिक्षित और मूढ़ समझा जाता था। आमजन का आत्म-सम्मान भी प्राकृत की प्रतिष्ठा से बढ़ गया था। मानवीय एकता, सामाजिक समता और सर्वांगीण उन्नति की दिशा में उनकी भाषा क्रान्ति का ऐतिहासिक योगदान है।

सन्दर्भ

1. उत्तराध्ययन सूत्र 23/75-76, सूत्रकृतांग में (1/6/6) कहा गया कि भगवान महावीर सूर्य की तरह अंधकार को प्रकाश में बदल देते थे - वइरोयणिंदे व तमं पगासे।
2. गुणचन्द्र, महावीर चरियं, पत्र 114, कल्पसूत्र 85
3. कल्पसूत्र 87-88
4. कल्पसूत्र 91 एवं विशेषावश्यक भाष्य 1838
5. देवेन्द्र मुनि, आचार्य, भगवान महावीर एक अनुशीलन, पृ.-266
6. वही, पृ.-266
7. अविसाहिए दुवे वासे सीतोदं अभोच्चा णिक्खन्ते - आचारांग 9/1/11
8. महावीर चरियं 882, त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित 10/3/29-31
9. आयारो, 9/1/10
10. आवश्यक मलयगिरी वृत्ति। महावीर चरियं 5/158, त्रिषष्टिशलाका पुरुष 10/3/218
11. आवश्यक चूर्णि 317-319, महावीर चरियं 2/24/6
12. आचारांग 2, कल्पसूत्र 116
13. जैन, प्रेम सुमन (डॉ.) का लेख 'प्राकृत भाषा एवं साहित्य'।

अपरिग्रह का अर्थशास्त्र

आगमिक अर्थतन्त्र की मजबूती का मुख्य आधार अच्छा पर्यावरण और विपुल प्राकृतिक सम्पदा है। भगवान महावीर के सिद्धान्त उस तन्त्र को अधिक मजबूत तथा दीर्घजीवी बना देते हैं। जीवन और जगत् की सारी व्यवस्थाओं के सम्यक् संचालन के लिए आगम आधारित त्रिपदी प्रसिद्ध है - 1. आचार में अहिंसा, 2. विचारों में अनेकान्त और 3. व्यवहार में अपरिग्रह। अहिंसा और अनेकान्त पर पिछले अध्यायों में विचार किया था। यहाँ अपरिग्रह पर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया जायेगा।

अर्थशास्त्र का मूल व्रत

अपरिग्रह आगमिक अर्थशास्त्र का केन्द्रीय सिद्धान्त है। अहिंसा की साधना के बगैर अपरिग्रह की साधना नहीं हो सकती और अपरिग्रह के बगैर अहिंसा के पथ पर चलना भी अत्यन्त दुष्कर है। अपरिग्रह अहिंसा का सामाजिक और आर्थिक पक्ष है। परिग्रह के कारण से ही व्यक्ति हिंसा करता है, चोरी, असत्य आचरण और अनाचार का सेवन करता है।^१ इसलिए भगवान महावीर कहते हैं - अधिक मिलने पर भी संग्रह-वृत्ति का भाव नहीं रखना चाहिये तथा परिग्रह-वृत्ति से अपने को दूर रखना चाहिये।^२ जो संग्रह-वृत्ति में ही दिन-रात व्यस्त रहते हैं, वे संसार में अपने प्रति वैर बढ़ाते हैं।^३ सचमुच! संसार में परिग्रह के समान प्राणियों के लिए दूसरा कोई जाल व बन्धन नहीं है।^४ अर्थ, अनेक अनर्थों व समस्याओं को पैदा करता है।^५

प्रश्न उठता है कि क्या सचमुच परिग्रह इतना खरनाक है? आगमकार इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि *मुच्छा परिग्रहो वृत्तो* - वस्तुओं के प्रति ममत्व, मूर्च्छा और आसक्ति ही परिग्रह है।^६ मूर्च्छा का अर्थ है - जागरूकता का अभाव। मूर्च्छा में व्यक्ति हित-अहित और अच्छे-बुरे का भेद नहीं कर पाता है। इसलिए भगवान महावीर ममत्व-विसर्जन और निरासक्ति पर बहुत जोर देते हैं। जैन परम्परा ऐसे साधकों और महर्षियों की परम्परा है, जिन्होंने ममत्व और राग का विसर्जन कर दिया और वे वीतराग कहलाये। राग परिग्रह का मूल है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि स्वयं की पकड़ होने पर 'पर' की पकड़ स्वतः छूट जाती है, यह स्थिति अपरिग्रह की है।^७

संसार के अधिकांश झगड़ों अपराधों के मूल में परिग्रह की चेतना काम करती है। परिग्रह होता है तो समस्याएँ पैदा होती हैं और परिग्रह नहीं होता है तो समस्याएँ पैदा होती हैं। वस्तुतः समस्याओं का मूल मूर्च्छा का भाव है। एक गरीब व्यक्ति अपनी छोटी-सी कुटिया में सुख की नींद सो सकता है और एक अमीर व्यक्ति उसकी अट्टालिका में भी चैन से नहीं जी पाता है। वस्तुओं के बढ़ जाने से गुणात्मक रूप से सुख नहीं बढ़ता है। उत्तराध्ययन में भगवान महावीर कहते हैं - *वित्तेण ताण न लभे पमत्ते। इमम्मि लोए अदुवा परत्थ।* धन व्यक्ति की रक्षा नहीं कर सकता, न ही उसे वह स्थायी सुख व तृप्ति देता है। इसलिए परिग्रह कितना ही क्यों न बढ़ जाय, उससे व्यक्ति दुख से मुक्त नहीं हो सकता।⁹ आधुनिक अर्थशास्त्र के सारे मापदण्ड धन-सम्पत्ति और बाहरी सुख-सुविधाओं पर आधारित हैं। इन मापदण्डों के आधार पर वह व्यक्ति में अनावश्यक व्यग्रता और विद्रोह पैदा करता है। इससे समाज में अवांछित होड़ा-होड़ी और संघर्ष का जन्म होता है।

अपरिग्रह : जैन परम्परा की देन

भगवान महावीर ने जितना जोर अहिंसा पर दिया, सम्भवतः उससे अधिक ही अपरिग्रह पर दिया। भगवान पार्श्वनाथ के समय जैन परम्परा में चातुर्याम की व्यवस्था थी। डॉ. दयानन्द भार्गव कहते हैं कि जैन परम्परा में पाँचवें व्रत के रूप में अपरिग्रह भगवान महावीर की देन है और भारतीय परम्परा में अपरिग्रह की अवधारणा जैन परम्परा की देन है।¹⁰ अपरिग्रह के विकास के लिए जैन परम्परा में बहुविध विधान किये गये हैं। परिग्रह के परिसीमन के लिए अस्तेय, इच्छा-परिमाण व्रत, लोभ-विसर्जन, त्याग, सन्तोष, दान, अनासक्ति आदि अनेक उपाय बताये गये हैं। जैन परम्परा में परिग्रह-अपरिग्रह पर बहुत सूक्ष्मता से विचार किया गया। इसका भारतीय जन-जीवन, समाज और अर्थव्यवस्था पर हर युग में व्यापक असर हुआ। महात्मा गांधी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त अपरिग्रह-व्रत का ही रूप है।

अस्तेय और अपरिग्रह

जैसा कि बताया गया परिग्रह आसक्ति का रूप है। आसक्ति तीन रूपों में प्रकट होती है - अपहरण (शोषण), संग्रह और भोग।¹¹ अपहरण और शोषण का उपचार अस्तेय व्रत में बताया गया है। परधन की इच्छा, परधन हरण, मूर्च्छा, तृष्णा, गृद्धि, असंयम, कांक्षा, हस्त-लघुता, स्तेनक, कूटतोल माप और बिना दी हुई वस्तु लेना - ये सब चोरी के ही रूप हैं।¹² अस्तेय व्रत की सूक्ष्मता का बोध कराते हुए

भगवान महावीर कहते हैं - कोई वस्तु सचेतन हो या अचेतन, कम कीमत की हो या अधिक कीमत की, उसे उसके मालिक या धारक की आज्ञा के बगैर नहीं लेना चाहिये।¹³ महात्मा गांधी कहते हैं कि अपरिग्रह को अस्तेय व्रत से सम्बन्धित समझना चाहिये। वास्तव में चुराया हुआ न होने के बावजूद अनावश्यक संग्रह चोरी जैसा माल हो जाता है। किसी चीज का बिना आवश्यकता के संग्रह करना, चोरी-तुल्य माना जाएगा। सत्यशोधक अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता।¹⁴

कर्मठता और अस्तेय

खान-पान में सम्बन्ध में भी व्यक्ति अस्तेय व्रत का उल्लंघन करता है। जिस चीज की उसे जरूरत नहीं है, फिर भी उसे वह खाता है। वह अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाचढ़ा कर बताता है और अनजाने में चोर बन जाता है। अस्तेय व्रती को अपनी आवश्यकताएँ निरन्तर घटाते रहना चाहिये। संसार की अधिकतर दरिद्रता अस्तेय व्रत के भंग से हुई है।¹⁵ बिना परिश्रम किये अर्थप्राप्ति की आशा और किसी तरह अर्थप्राप्ति करना अस्तेय व्रत के अनुरूप नहीं है। दुनिया की कई विषमताएँ और समस्याएँ शरीर-श्रम नहीं करने से पैदा हुई हैं। इसलिए अस्तेय व्रत शरीर-परिश्रम द्वारा सम्पत्ति-निर्माण पर जोर देता है।¹⁶ यह व्रत सम्पन्न घरानों के व्यक्तियों को भी अच्छे कार्यों में निष्काम भाव से सक्रिय रहने की प्रेरणा देता है। जहाँ श्रम है, वहाँ सम्मान भी है और आत्म-सम्मान भी है।

अप्रमाद और अस्तेय

कितने ही आजीविका के साधन ऐसे हैं जिनमें शारीरिक श्रम अपेक्षाकृत कम होता है। उसमें बौद्धिक और मानसिक श्रम करना पड़ता है। बुद्धि पर अपनी जीविका चलाने वाले बुद्धिजीवियों को भी शारीरिक श्रम का महत्व समझना चाहिये। अस्तेय व्रत निष्ठापूर्वक कर्तव्यपालन पर जोर देता है। कामचोरी की वजह से अनेक कामकाज लम्बित पड़े रहते हैं। सरकारी क्षेत्र से अकर्मण्यता की शिकायतें ज्यादा मिलती हैं। अस्तेय व्रत की भावनाएँ भर कर सरकारी कार्य-प्रणाली को चुस्त-दुरुस्त किया जा सकता है। अकर्मण्यता पाप है, अपराध है। भगवान महावीर अपने शिष्य गौतम को बार-बार कहते हैं कि क्षणमात्र का प्रमाद भी नहीं करना चाहिये।¹⁷ जो व्यक्ति प्रमत्त और आराम-पसन्द होता है, वह स्वयं को और दूसरों को कष्ट देने वाला होता है।¹⁸ उसे चहुँ ओर से भय रहता है।¹⁹ इसलिए जीवन पथ पर आगे बढ़ने वाले धैर्यवान व्यक्तियों को आलस्य और

गफलत में अपना समय नहीं गँवाना चाहिये ।^{१०} आचारंग सूत्र उद्घोषणा करता है - उठो, जागो, प्रमाद मत करो ।^{११} आगम की इन प्रेरक उद्घोषणाओं को समझने वाला सहज ही अस्तेय और अपरिग्रह की आराधना करता है ।

अस्तेय और प्रामाणिकता

किसी भी रूप में चौर्य-कर्म अनार्य-कर्म है । वह अपकीर्ति को बढ़ाता है । चोरी करने से गुण छिप जाते हैं, विद्या निकम्मी हो जाती है और व्यक्ति का विश्वास व यश क्षीण हो जाता है ।^{१२} अचौर्य व्रत की तीन प्रेरणाएँ हैं - आर्थिक पारदर्शिता, सच्चरित्रता और जीवन के हर व्यवहार में प्रामाणिकता । अचौर्य व्रत का बाहरी जीवन व्यवहार से घनिष्ठ सम्बन्ध है । वह व्यक्ति को परिश्रमी, प्रामाणिक और ईमानदार बनाता है । देश की अर्थव्यवस्था के कुशल संचालन और विकास के लिए अस्तेय व्रत अत्यन्त उपयोगी है । वह भ्रष्टाचार को मिटाने का कारगर माध्यम है । 'काले धन' की समस्या का निराकरण अस्तेय करता है । बड़े-बड़े आर्थिक घोटाले, कर-चोरी, रिश्वतखोरी, तस्करी आदि स्तेय के ही रूप हैं । इसलिए जो व्यक्ति सावधानी पूर्वक अस्तेय व्रत की आराधना करता है, अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह का पालन भी उसके लिए आसान हो जाता है ।

प्रामाणिकता के सुपरिणाम

प्रामाणिकता का अर्थ है अपने प्रति ईमानदार और दूसरों के प्रति भी ईमानदार । प्रामाणिक होने के लिए अपनी मर्यादा करना आवश्यक है । सत्य पालन का अर्थ यह नहीं कि गोपनीयता को उजागर किया जाय । इसका आशय है कि व्यक्ति अपने व्यापार में लाभ-प्रतिशत की मर्यादा करें । मिलावटखोरी नहीं करें । व्यापारिक सीमा के बाहर की वस्तुओं का अनावश्यक संग्रह नहीं करें । इन बातों का ध्यान रखकर व्यापार करने वाले देश के व्यापार को प्रामाणिक बनाते हैं और आवश्यकता व सामर्थ्य के अनुरूप समृद्ध भी । अस्तेय व्रत का पालन करने से दुकान/दफ्तर और मन्दिर में अन्तर नहीं रहता है । व्यापार और धर्म एक दूसरे के पूरक हो जाते हैं ।^{१३} प्रामाणिक व्यक्ति अपने व्यापार को चिर-स्थायी बनाता है । उसके व्यापारिक उत्पादों की हर जगह मांग होती है । उसका व्यापार धर्म-साधना और देश-सेवा का ही एक रूप होता है ।

परिग्रह के भेद-प्रभेद

आगम साहित्य में संग्रह को प्राणी मात्र की संज्ञा बताई गई है । इस वृत्ति को एकाएक तोड़ना कठिन होता है । भगवान महावीर सद्गृहस्थ के लिए नित्य

अपरिग्रह की भावना के स्मरण का विधान करते हैं। श्रावक नित्य यह मनोरथ (सदिच्छा) करें कि वह दिन धन्य होगा जिस दिन वह परिग्रह से निवृत्त होकर अपरिग्रह के जीवन की ओर बढ़ेगा।²⁴ उन्होंने दो प्रकार के परिग्रह बताये - अन्तरंग और बाहरी।²⁵ अन्तरंग या आभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार के होते हैं - बाहरी परिग्रह दस प्रकार का बताया गया है। उन्हें गृहस्थाचार के चौथे व्रत में बताये भेदों के अनुसार ही समझना चाहिये।

परिग्रह के तीस नाम

परिग्रह के इन भेदों से स्पष्ट होता है कि जो व्यक्ति भीतर से रिक्त होता है, वह बाहर से उस रिक्तता को भरने का प्रयास करता है। किन्तु उसका वह प्रयास मात्र आत्म-वंचना ही सिद्ध होता है। यहाँ तक भीतरी तौर पर परिग्रही का बाहरी त्याग भी व्यर्थ ही होता है।²⁶ स्पष्ट है कि अपरिग्रह का व्रत व्यक्ति के आत्म-वैभव, भाव-सम्पदा और वैचारिक-सम्पदा को बढ़ाता है। वह व्यक्ति को आत्म-विश्वास से भर देता है। वह धन के पीछे नहीं दौड़ता, अपितु उसके पुरुषार्थी व्यक्तित्व के कारण धन उसका अनुसरण करता है। दूसरी ओर परिग्रह व्यक्ति को अन्तरंग रूप से दरिद्र बना देता है। 'हाय धन, हाय धन' की वृत्ति मन की रुग्णता की सूचक है। परिग्रह अनेक रूपी होता है। प्रश्नव्यकरण सूत्र में उसके तीस नाम बताये गये हैं - परिग्रह, संचय, चय, उवचय, विधान, संभार, संकर, आदर, पिण्ड, द्रव्यसार, महेच्छा, प्रतिबन्ध, लोभात्मा, महर्द्धि, उपकरण, संरक्षण, भार, सम्पादोत्पादक, कलिकरण्ड, प्रविस्तर, अनर्थ, अनर्थक, संस्तव, अगुप्ति, आयास, अविवेक, अमुक्ति, तृष्णा, आसक्ति और असन्तोष। इन नामों से पता चलता है कि परिग्रह कितना बहुरूपिया है। वह मानव को सुख से जीने नहीं देता है। होना यह चाहिये कि जो अधिक सद्गुणी हो, वह समाज में अधिक शक्तिशाली हो। किन्तु जहाँ धन-लिप्सा अनियन्त्रित छोड़ दी जाती है, वहाँ धन/परिग्रह शक्ति व सम्मान का मापदण्ड बन जाता है। इसी मापदण्ड से विषमता बढ़ती है।²⁸

अपरिग्रह और इच्छा-परिमाण

गृहस्थाचार में हमने पाँचवें व्रत अपरिग्रह के बाद छठवें दिशा-परिमाण और सातवें उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत पर चर्चा की। छठवें और सातवें व्रत का सम्बन्ध इच्छा-परिमाण से है, जिससे पाँचवें व्रत की आराधना अधिक गहरे अर्थों में होती है। भगवान महावीर कहते हैं कि इच्छा आकाश के समान असीम है,

इसलिए इच्छा-परिमाण करने वाला धर्म से, नीति से धनोपार्जन करता है। इच्छा-परिमाण का निष्कर्ष निम्न सात बिन्दुओं में प्रस्तुत किया जा सकता है²⁹ -

1. न गरीबी, न विलासिता का जीवन।
2. धन साधन है, साध्य नहीं। धन मनुष्य के लिए है, मनुष्य धन के लिए नहीं।
3. आवश्यकता की सन्तुष्टि के लिए धनोपार्जन, किन्तु दूसरों को हानि पहुँचाकर अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि न हो, इसका जागरूक प्रयत्न।
4. आवश्यकताओं, सुख-सुविधाओं और उनकी सन्तुष्टि के साधनभूत धन संग्रह की सीमा का निर्धारण।
5. धन के प्रति उपयोगिता के दृष्टिकोण का निर्माण कर संगृहीत धन में अनासक्ति का विकास।
6. धन के सन्तुष्टि गुण को स्वीकार करते हुए आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से उसकी असारता का चिन्तन।
7. विसर्जन की क्षमता का विकास।

इच्छा-परिमाण के अन्तर्गत क्षेत्र की मर्यादा भी की जाती है। जिसका व्यापारिक, राजनीतिक और सामरिक दृष्टि से बहुत महत्व है। इच्छाएँ वस्तु और क्षेत्र तक ही सीमित नहीं होती; अपितु पद, प्रतिष्ठा, सत्ता आदि के रूप में भी होती हैं। वस्तु सम्बन्धी इच्छाएँ फिर भी व्यक्ति पूरी कर लेता है, परन्तु पद और प्रतिष्ठा की इच्छाओं का कोई पार नहीं है। समाज और देश का बेहिसाब धन पद और प्रतिष्ठा के लिए खर्च कर दिया जाता है। इच्छाओं का परिसीमन सभी सन्दर्भों में होना चाहिये।

अपरिग्रह और विकास

अपरिग्रह और सन्तोष का अर्थ यह कतई नहीं है कि व्यक्ति अपने जीवन में आलस्य को प्रोत्साहित करें। अपरिग्रह निरन्तर उद्यमशील रहने की प्रेरणा देता है। वह उत्पादन और अर्जन को बाधित नहीं करता है। वह सम-वितरण और अनासक्ति पर जोर देता है। अपरिग्रही अपने लिए ही नहीं, दूसरों के लिए भी जीता है। अपरिग्रह व्रत की चार शर्तें हैं³⁰ - स्वावलम्बन, श्रमशीलता, अहिंसा और निपुणता (कार्य-कुशलता)। राष्ट्र के विकास में चारों शर्तें सहयोगी बनती हैं। एक तरफ अनाज के भण्डार भरे हो और दूसरी ओर बड़ी संख्या में लोग भूख और कुपोषण से मर जाय। ऐसा एक तरफा विकास के कारण होता है। ऐसे विकास में मानव-

श्रम और प्राकृतिक संसाधनों का भारी दुरुपयोग होता है। एक तरफ गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, दूसरी तरफ खुले आकाश तले सोते लोग! अपरिग्रह सामाजिक समता, आर्थिक समता और राष्ट्रीय विकास का मूल हेतु है। वह मानव के भीतर-बाहर की दरिद्रता मिटाता है और समाज की दरिद्रता का निवारण भी करता है। इस प्रकार भगवान महावीर के अपरिग्रहवादी चिन्तन की पाँच फलश्रुतियाँ हैं³¹ - इच्छाओं का नियमन, समाजोपयोगी साधनों के स्वामित्व का विसर्जन, शोषण-मुक्त समाज की स्थापना, निष्काम बुद्धि से अपने साधनों का जनहित में संविभाग और आध्यात्मिक-शुद्धि।

अहिंसा से अपरिग्रह तक

जैसे अहिंसा की साधना के लिए अन्य व्रतों का अनुपालन आवश्यक है, वैसे ही अपरिग्रह के अनुपालन के लिए अन्य व्रतों का अनुपालन आवश्यक है। प्रथम व्रत अहिंसा की पूर्णता पंचम व्रत अपरिग्रह में होती है। इन पाँच व्रतों के समुचित पालन के लिए आगम साहित्य में और भी विधि-विधान, त्याग-तप और व्रत-नियम बताये हैं। तीर्थंकर महावीर का आचार दर्शन बहुजनहिताय और बहुजनसुखाय तक ही सीमित नहीं है, वह सर्वजनहिताय और सर्वजनसुखाय से भी आगे बढ़ता है - सर्वजीवहिताय और सर्वजीवसुखाय तक। उनके आचार दर्शन पर आधारित अर्थ-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था संसार की सारी अव्यवस्थाओं को समाप्त करने में पूर्ण सक्षम है।

व्यक्तित्व-रूपान्तरण से व्यवस्था-परिवर्तन

प्रचुर प्राकृतिक संसाधनों के बीच भी आर्थिक दृष्टि से जिस समय समाज दिशाहीन हो पड़ा था; उस समय भगवान महावीर ने व्रतों की व्यवस्था देकर मानव को परिश्रम, स्वाभिमान, ईमानदारी, त्याग और प्रामाणिकता से जीने की कला सिखाई। जो व्यवस्थाएँ भारी-भरकम शासकीय और प्रशासकीय खर्च और ढेर सारे राजकीय कर्मचारियों द्वारा ठीक नहीं हो पा रही थी, भगवान महावीर की व्रत-व्यवस्था से उनमें आमूल-चूल परिवर्तन होने लगे थे। वस्तुतः जिन व्यक्तियों और राजसत्ताओं ने व्यवस्थाओं का जिम्मा ले रखा था, उनका व्यक्तित्व भी निष्पक्ष, निभ्रान्त, निष्कपट और प्रामाणिक नहीं था। भगवान महावीर ने व्यक्तित्व-रूपान्तरण के माध्यम से व्यवस्था-परिवर्तन का ऐतिहासिक कार्य किया। जिसका प्रभाव उनके अपने समय में हुआ, बाद में हुआ, आज भी है और युग-युगान्तर तक देश-देशान्तर में होता रहेगा।

सन्दर्भ

1. जैन, सागरमल (डॉ.) - जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग 2 पृ. 114
2. भाव पाहुड 132, समणसुत्तं गाथा 140
3. आचारांग सूत्र 1/2/5
4. परिग्गहनविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढई - सूत्रकृतांग 1/2/3
5. प्रश्नव्याकरण 1/5
6. अत्थो मूलं अणत्थाणं - मरणसमाधि 603
7. दशवैकालिक सूत्र 6/21, तत्त्वार्थ सूत्र 7/17, समणसुत्तं 142
8. समयसार 207
9. उत्तराध्ययन 5/4, सूयगहो 1, 1/1/2, समणसुत्तं 141
10. भार्गव, दयानन्द (डॉ.) 'अपरिग्रह की आधुनिक सन्दर्भ में प्रासंगिकता' प.-2. सामान्य तौर पर यह माना जाता है कि भगवान महावीर ने पार्श्वनाथ के चातुर्याम में ब्रह्मचर्य जोड़ा।
11. जैन, सागरमल (डॉ.) - जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन - पृ.-235
12. प्रश्नव्यकरण सूत्र 1/3/10
13. दशवैकालिक सूत्र 6/14
14. गांधी, महात्मा, 'अपरिग्रह विचार' जिनवाणी अपरिग्रह विशेषांक पृ.-123
15. गांधी, महात्मा 'मंगल प्रभात' पुस्तक से।
16. संत विनोबा, 'सर्वोदय' दिसम्बर - 1952
17. उत्तराध्ययन सूत्र 10वाँ अध्ययन
18. आचारांग 1/1/4/35
19. आचारांग 1/3/4

20. धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए । - आचारांग 1/2/1/10
21. आचारांग 1/5/2
22. प्रश्नव्यकरण 1/3 एवं ज्ञानार्णव 128
23. जैन, प्रेम सुमन (डॉ.) 'अपरिग्रह : व्यक्ति और समाज के सन्दर्भ में'
जिनवाणी अपरिग्रह विशेषांक पृ.-255
24. कयाणं अहं अप्प वा बहुं वा परिग्गहं परिच्चइस्सामि । स्थानांग सूत्र 3 व 4
25. भगवती आराधना 1118-1119
26. भगवती आराधना 1168
27. 'जिनवाणी' अपरिग्रह विशेषांक पृ.-113 पर उद्धृत।
28. नानेश, आचार्य 'समता दर्शन और व्यवहार' पृ.- 14
29. महाप्रज्ञ, आचार्य -महावीर का अर्थशास्त्र' पृ.- 110-111
30. अमर मुनि, उपाध्याय 'अपरिग्रह दर्शन' पृ.-175
31. भार्गव, दयानन्द (डॉ.) 'अपरिग्रह की आधुनिक सन्दर्भ में प्रासंगिकता'
पृ.-15

मध्ययुगीन अर्थव्यवस्था

ईसा पूर्व 599 में वर्धमान महावीर का जन्म हुआ। 569 ई. पू. में वे साधना के कठिनतम पथ पर अग्रसर हुए थे। दीक्षा के साढ़े बारह वर्ष पश्चात् 557 ई. पू. में उन्हें कैवल्य की प्राप्ति हुई। ज्ञान प्राप्ति के बाद से उनके निर्वाण समय 527 ई. पू. तक जैन धर्म के 24वें तीर्थंकर महावीर ने 29 वर्ष, 3 माह और 24 दिन तक निरन्तर विहार किया और देशनाएँ प्रदान कीं। ' इस अवधि में उनके द्वारा प्रदत्त देशनाओं ने जन-जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन ला दिया। उनके जीवन, धर्म, दर्शन और सिद्धान्तों में आत्म-कल्याण से विश्व-कल्याण और स्व-कल्याण से सर्व-कल्याण तक का सटीक मार्गदर्शन प्राप्त होता है। उनके सिद्धान्तों का तैकालिक महत्व है।

मौर्य साम्राज्य पर प्रभाव

उनके बाद का हर युग, काल और काल-खण्ड उनके जीवन और सिद्धान्तों से प्रेरणा लेता रहा। हर समय के समाज, लोक-जीवन, राज्य और अन्य सभी व्यवस्थाओं पर उनका प्रभाव रहा। समय-समय की आर्थिक व्यवस्थाओं पर भी उनका प्रभाव रहा। भगवान महावीर के निर्वाण के 160 वर्ष पश्चात् (ई.पू. 367) मगध में चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में बारह वर्ष तक भयंकर दुष्काल पड़ा था। कृषि चौपट हो जाने से लोग मरने लगे और पलायन करने लगे थे। उस समय भगवान महावीर के अनुयायियों ने मानव, मानवता और प्राणी मात्र की रक्षार्थ सहयोग और दानशीलता का परिचय दिया। उन्होंने मौर्य साम्राज्य के अकाल-प्रबन्धन में भी सहयोग किया। सम्राट् चन्द्रगुप्त ने जैन मुनि बनने के बाद दक्षिण भारत में प्राकृत को साहित्यिक पद पर प्रतिष्ठित करने में पूर्ण सहयोग प्रदान किया। नेमी चन्द्र शास्त्री ने तीन दृष्टियों से चन्द्रगुप्त का महत्व बताया है -

1. आदर्श और अनुकरणीय शासन प्रबन्ध,
2. प्रजा में सच्चाई और धार्मिक भावों की उन्नति की और
3. कुशल राज्य संचालन के बाद श्रमण जीवन अंगीकार करना और वर्षों तक जैन संघ का नेतृत्व करना।

भारतीय इतिहास में मौर्यकालीन सभ्यता, संस्कृति, अर्थ-व्यवस्था, शासन-व्यवस्था, कृषि, व्यापार, वाणिज्य, शिल्प, उद्योग आदि को काफी उन्नत अवस्था में बताया गया है।¹

चाणक्य पर प्रभाव

कौटिलीय अर्थशास्त्र भारतीय संस्कृति का बहुमूल्य दस्तावेज है। उसकी रचना नीतिकार चाणक्य ने की। चाणक्य सम्राट चन्द्रगुप्त के शिष्य थे और चन्द्रगुप्त भगवान महावीर के शिष्य। मौर्य साम्राज्य में चन्द्रगुप्त ने कुछ नई व्यवस्थाएँ दी थीं। महामात्य चाणक्य उन व्यवस्थाओं के सूत्रधार थे।² चाणक्य ने अपने नीति-ग्रन्थों में धर्म और अर्थ दोनों को महत्व दिया। अर्थ की महत्ता उजागर करने वाले उनके कुछ नीति वाक्य दृष्टव्य हैं :-

1. सुख का मूल धर्म है। धर्म का मूल अर्थ है। अर्थ का मूल है राज्य और राज्य का मूल इन्द्रिय-जय है। इन्द्रियजय का मूल विनय और विनय का मूल सेवा है।³
2. जब मनुष्य पर विपत्ति पड़ती है तब उसका बचाव धन से हो सकता है। इसलिए धन को बचाना उचित है।
3. चतुर मनुष्य को चाहिये कि जहाँ उसको जीविका नहीं हो; साहूकार, ज्ञानी, राजा, वैद्य और नदी नहीं हो, वहाँ कदापि न बसे।
4. जो संकट पड़ने पर सहायता करता है, दुर्भिक्ष के समय धन-धान्य से मदद करता है, उसे ही मित्र या भाई-बन्धु कह सकते हैं।
5. अच्छा भोजन, धन-दौलत, यश और दानशीलता - ये कठिन तपस्या के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं।
6. वैश्यों का बल धन है।
7. जो उद्योगी पुरुष है, उनसे दरिद्रता दूर रहती है।
8. व्यापारियों के लिए कौनसी चीज दूर है? अर्थात् वे जहाँ अवसर हो, वहाँ धन कमाने के लिए चले जाते हैं।
9. 'मेरी आमदनी और खर्च क्या है?' इसका विचार करना चाहिये।
10. आलस्य से विद्या का नाश होता है, पराये हाथ में जाने से धन का नाश होता है।
11. धन से धर्म की रक्षा होती है। दान से दरिद्रता का नाश होता है। दान धर्म है और कोष के अनुसार दान करना चाहिये।

चन्द्रगुप्त मौर्य⁷ और चाणक्य पूर्ण शाकाहारी थे। अहिंसा, जीव-दया, सत्य, श्रम, सन्तोष, कर्मवाद आदि जीवन मूल्य उनके ग्रन्थों में प्रकट होते हैं। जैसे :-

12. जिस धर्म में दया नहीं हो, उसे छोड़ देना चाहिये।
13. काम के समान रोग नहीं, क्रोध के समान आग नहीं और ज्ञान से बढ़कर सुख नहीं है।
14. जिसके परिवार में प्रेम हो और धन में सन्तोष हो, उसके इस दुनिया में ही स्वर्ग है।
15. जीव स्वयं ही अच्छे-बुरे कर्म करता है और स्वयं ही भोगता है। स्वयं ही संसार में भ्रमता है और स्वयं ही संसार के बन्धन से छूटता और मोक्ष पा जाता है।
16. सत्य के समान तप नहीं है। सन्तोष के समान सुख नहीं है। तृष्णा के समान रोग नहीं है और दया से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।
17. जो मांस खाते और शराब पीते हैं, उन पुरुष रूपी पशुओं से पृथ्वी दुख पाती है।
18. जो मांस खाते हैं, उनमें दया नहीं होती। लोभी में सत्य नहीं होता। पराई स्त्रियों में आसक्त रहने वालों में पवित्रता नहीं होती।
19. जुए के व्यसन से सब कार्य बिगड़ जाते हैं। शिकार से धर्म और अर्थ दोनों का नाश होता है।

चाणक्य ने विशाल साम्राज्य का संगठन और संचालन किया, परन्तु उनकी निजी सम्पदा स्वल्प थी। चाणक्य के जीवन और नीति में जगह-जगह महावीर के स्वयं की गूंज सुनाई पड़ती है। मध्ययुगीन भारतीय जन-जीवन तथा समाज-व्यवस्था पर ई.पू. दूसरी सदी के मौर्य शासन, कौटिलीय अर्थशास्त्र और चाणक्य-नीति का भी प्रभाव रहा। ई.पू. 152 में स्वर्गवासी होने वाले जैन धर्मानुयायी सम्राट् खारवेल ने भी प्रजा-हित, लोक-कल्याण, कला, शिल्प तथा राज्य में आधारभूत सुविधाओं के विकास में ऐतिहासिक योगदान किया।⁸ इसी काल-खण्ड में अहिंसक समाज-व्यवस्था को आगे बढ़ाने में सम्राट् अशोक और सम्प्रति ने अप्रतिम योगदान किया। अनेक विद्वानों और विचारकों का मत है कि स्वयं ईसा भारत आये थे और वर्षों तक यहाँ रहे थे। उस समय सम्पूर्ण भारतवर्ष में भगवान महावीर और बुद्ध के उपदेशों का भारी प्रचार-प्रसार था। ईसा के जीवन पर श्रमण परम्परा के इन दो तेजस्वी नक्षत्रों भगवान महावीर और बुद्ध का गहरा प्रभाव पड़ा था।⁹

विहंगावलोकन

मौर्य साम्राज्य की समाप्ति के बाद ई. पू. 184 में शुंगवशी पुष्यमित ने मगध की बागडोर सम्भाली। तदनन्तर जैन धर्म का केन्द्र मगध से मथुरा की ओर स्थानान्तरित हो गया। वहाँ आगमोद्धार के लिए मथुरा-वाचना हुई थी। इस बीच बारह वर्ष लम्बा भयंकर अकाल पड़ा। उससे श्रुत-सम्पदा की अपार हानि हुई। राज्यों की अर्थव्यवस्थाएँ चरमरा गईं। जनता एक स्थान से दूसरे स्थान पर बस गई। वर्तमान में जो अर्धमागधी आगम साहित्य है, वह वीर निर्वाण संवत् 980 में वल्लभी में आचार्य देवर्धिक्षमाश्रमण के नेतृत्व में हुए मुनि सम्मेलन की फलश्रुति है। आगम साहित्य में भगवान महावीर की वाणी का संकलन है। इन आगमों में ईसा पूर्व छठी शताब्दी से लेकर पाँचवीं शताब्दी तक के जन-जीवन और व्यवस्थाओं के निदर्शन प्राप्त होते हैं। डॉ. जगदीश चन्द्र जैन आगमों पर व्याख्या साहित्य और शौरसेनी आगम साहित्य का रचना-काल ईस्वी सन् की पहली-दूसरी शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक मानते हैं।¹⁰ ईस्वी सन् की चौथी शताब्दी से 17वीं शताब्दी तक कथा साहित्य सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना हुई। 11वीं 12वीं शताब्दी का काल तो विशेष रूप से इस साहित्य की उन्नति का काल रहा। इसमें अर्थशास्त्र, राजनीति, कामशास्त्र, निमित्तशास्त्र, अंगविद्या, रत्नपरीक्षा, संगीतशास्त्र, आदि पर भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये।¹¹ इस काल-खण्ड के हर विषय के साहित्य में अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह और संयम जैसे मूल्य विद्यमान हैं। इसलिए उस साहित्य का वैसा सुप्रभाव तत्कालीन समाज और संस्कृति पर भी पड़ा। तत्कालीन भारतीय समाज और संस्कृति के अगणित आयामों की जानकारी इस साहित्य में भरी पड़ी है।

ईस्वी सन् की दूसरी से पाँचवीं-छठी शताब्दी तक गंग वंश के राजाओं का शासन रहा, जो जैन धर्म के प्रति आस्थावान थे। वे अपनी व्यवस्थाओं से तत्कालीन समय के अन्य राज्यों की व्यवस्थाओं को भी प्रभावित कर रहे थे। जैन साधु-साध्वी अपने उपदेशों से जन-सामान्य और विशिष्ट जनों का मार्गदर्शन कर रहे थे। गंग वंश के दो राजकुमारों को उपदेश देते हुए जैनाचार्य सिंहनन्दि कहते हैं - 'यदि तुम अपने वचन पूरे नहीं करोगे, अहिंसा-धर्म की मदद नहीं करोगे, स्त्रियों अपहरण करोगे, मद्य-मांस का सेवन करोगे, कुसंगति करोगे, आवश्यक होने पर भी धन-धान्य आदि से दूसरों का सहयोग नहीं करोगे और समर-भूमि में पीठ दिखाओगे तो तुम्हारा वंश नष्ट हो जायेगा।'¹² इस पूरे काल-खण्ड में समष्टिगत

अर्थव्यवस्थाएँ राजाओं के अधीन रही तथा व्यष्टिगत अर्थव्यवस्था धार्मिक जीवन-शैली और सांस्कृतिक रीति-रिवाजों से संचालित रही। ईस्वी सन् 401-410 में चीनी यात्री फाह्यान ने 'विनयपिटक' की प्रामाणित प्रति प्राप्त करने के उद्देश्य से उत्तर भारत की तीर्थयात्रा की। उसने अपने यात्रा विवरण में लिखा कि सम्पूर्ण देश में कोई किसी प्राणी की हत्या नहीं करता। कोई शराब नहीं पीता और न कोई प्याज-लहसून खाता है। इससे प्रकट होता है कि लोगों की जीवन-शैली पर जैनाचार का प्रभाव था।¹³ उनका जीवन अहिंसा, संयम और शाकाहार से अनुप्राणित था। फाह्यान के विवरण से यह भी स्पष्ट होता है कि भारत के लिए वह समृद्धि का युग था। भारत का विदेशी व्यापार भी बहुत बढ़ा-चढ़ा था और लेन-देन में स्वर्ण-सिक्कों का प्रयोग होता था।¹⁴

वसुदेवहिण्डी में आर्थिक व्यवस्था

साहित्य अपने समय और समाज का दर्पण होता है। वसुदेवहिण्डी (चौथी-पाँचवीं सदी) भी तत्कालीन समय का बोध करती है। इस कालजयी ग्रन्थ के प्रथम खण्ड की रचना आचार्य संघदासगणि ने और मध्यमखण्ड नामक दूसरे खण्ड की रचना धर्मसेनगणि ने की।

राजा और राजनीति : भगवान महावीर के समय जिस गणतन्त्र की व्यवस्था की सूचना मिलती है, वह अर्द्ध-जनतन्त्रात्मक व्यवस्था जैसी मालूम पड़ती है। वसुदेवहिण्डी में राजतन्त्रीय व्यवस्था की सूचना मिलती है। जिसमें उत्तराधिकार आनुवंशिक होता था। राजा अपने राजधर्म का निष्ठापूर्वक पालन करें, इसके लिए उसमें पृथ्वी पालन में समर्थ, प्रजा हितैषी, प्रजा पालक, विनीत, विलक्षण, धीर, त्यागी, मिलनसार, सत्य-प्रतिज्ञ, इन्द्रिय-विजयी, उग्र दण्डनीति से युक्त, न्यायी का संरक्षण व दुष्टों का निग्रह करने वाला होना चाहिये। दूसरे खण्ड में राजा को पशु-पक्षियों से शिक्षा लेने की विलक्षण प्रेरणाएँ हैं।¹⁵

पशुओं के पालन-पोषण पर राज्य की ओर से भी व्यवस्थाएँ की जाती थीं। गौशालाएँ और अभयारण्य बनाये जाते थे। उनकी देखरेख के लिए राज्य कर्मचारियों की नियुक्ति होती थी। राजा अपने राज्य में अमारि की घोषणा करवाते थे। नियमों का उल्लंघन करने वाला दण्ड का भागी होता था।¹⁶ प्रजा राजकीय कार्यों में सहयोग करती थी। राजा व प्रजा में परस्पर सहयोग की भावना रहती थी।

आर्थिक जीवन : वसुदेवहिण्डी में वर्णित आर्थिक जीवन के निम्न बिन्दु द्रष्टव्य हैं -

1. प्रचुर प्राकृतिक संसाधन थे।
2. खेती-बाड़ी मुख्यतः वर्षा पर निर्भर थी।
3. सभी प्रकार के शिल्प व उद्योगों का सन्तोषप्रद विकास था।
4. वस्त्र, काष्ठ, स्थापत्य, धातु आदि सभी प्रकार के उद्योग उन्नति पर थे।
5. श्रम-विभाजन का उल्लेख मिलता है।
6. धातुओं और औषधियों के संयोग से रासायनिक प्रक्रिया द्वारा स्वर्ण बनाया जाता था।
7. विद्याधरों के विमान हुआ करते थे।
8. देशी, अन्तर्देशीय और विदेशी व्यापार भी प्रगति पर था। उस समय भारतीय व्यापारी लंका, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, ब्रह्मा, बैबीलोन और यूनान तक जाते थे।¹⁷

वाणिज्यिक गतिविधियों का संचालन मुख्यतः वैश्य वर्ग के हाथों में था। प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता, भौगोलिक अनुकूलता, उर्वर भूमि, लोगों की सूझ-बूझ, कठोर दण्ड-नीति और प्रशासनिक सुव्यवस्था से देश धन-धान्य से समृद्ध हो गया था। प्रजा खुशहाल व सुखी थी तथा देश में शान्ति का वातावरण था।¹⁸ उस समय के जैन साहित्य में अत्थसत्थ के नामोल्लेखपूर्वक प्राकृत की गाथाएँ उद्धृत मिलती हैं। चाणक्य के नाम से भी कुछ वाक्य उद्धृत हैं। इससे जान पड़ता है कि प्राकृत में अर्थशास्त्र के नाम का कोई ग्रन्थ अवश्य रहा होगा। अहिंसा समाज-रचना में आचार्य हरिभद्रसूरि का ऐतिहासिक अवदान है। उन्होंने धूर्ताख्यान में खण्डपाणा को अर्थशास्त्र का निर्माता (अत्थसत्थणिम्माया) बताया है। पादलिप्त की तरंगवती के आधार पर लिखी गई नेमिचन्द्र गणि की तरंगलोला में अत्थसत्थ की अनेक गाथाएँ उद्धृत हैं।¹⁹

कुवलयमालाकहा में आर्थिक व्यवस्था

आचार्य उद्योतन सूरि ने ई. सन् 779 में कुवलयमालाकहा की रचना पूर्ण की। डॉ. प्रेम सुमन ने 'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन' में तत्कालीन समय के सामाजिक-आर्थिक²⁰ व भौगोलिक²¹ स्थितियों पर प्रकाश डाला है। कुवलयमालाकहा में धनोपार्जन के निन्दित और अनिन्दित साधनों का स्पष्ट भेद किया गया है। निन्दित साधनों के अन्तर्गत जुआ खेलना, सेंध लगाना, लूटना, उगना

जैसे सभी बुरे कार्य सम्मिलित थे। इन कार्यों के अतिरिक्त जीव-जन्तुओं को बेचकर धन कमाने की भी निन्दा की गई है। कुवलयमालाकहा में कहा गया है कि ऐसा धन्धा करने वाला मरकर दासत्व को प्राप्त होता है²² ग्रन्थ में निम्न अनिन्दित साधन बताये गये हैं²³ -

1. देशान्तर गमन (दिसी गमण) : देशी, विदेशी व अन्तर्देशीय व्यापार।
2. साझेदारी का व्यवसाय (मित करण)
3. राजकीय सेवा (णरवर सेवा)
4. नाप-तौल में कुशलता (कुसलत्तणं च माणप्पमाणेसु)
5. धातुवाद (धाउव्वाओ) : स्वर्णसिद्धि भी इसमें सम्मिलित थी।
6. मन्त्रसाधना (मन्तं)
7. देव-आराधना (देवयाराहणं)
8. कृषि (केसिं)
9. सागर सन्तरण (सायर-तरणं)
10. रोहण पर्वत का खनन (रोहणम्मि खणणं)
11. वाणिज्य (वणिज्जं)
12. नौकरी आदि विविध प्रकार के उत्तम कार्य (णाणाविहं कम्मं)
13. विभिन्न प्रकार की विद्याएँ और शिल्प (वज्जा सिप्पाइं णेय रूवाइं)
14. खान्यवाद।

धनोपार्जन के इन साधनों में मन्त्र-साधना, देव-आराधना और खान्यवाद विशिष्ट हैं।

खनन और स्फोट-कर्म

इसमें धातुवाद और उत्खनन दो ऐसे अनिन्दित साधन बताये गये हैं, जो गृहस्थाचार के पन्द्रह वर्जित कर्मादानों में स्फोट-कर्म (फोड़ी-कम्मे) के अन्तर्गत परिगणित किये जाते हैं। स्फोट-कर्म के अन्तर्गत आचार्य अभयदेव से लेकर वर्तमान के कई आचार्यों और विद्वानों ने खनन-कर्म को गिना है। आवासीय और व्यावसायिक भवन-निर्माण के अलावा मन्दिर-निर्माण, मूर्ति-निर्माण और धर्म-स्थलों के निर्माण में भी नींव से शिखर तक इन खनिज उत्पादों का भरपूर उपयोग

होता है। खनन व्यवसायियों का समाज में भारी मान-सम्मान और प्रतिष्ठा है। वे राज-कोष भी भरते हैं और धार्मिक संस्थाओं के कोष भी। जैनाचार्य उद्योतन सूरि खनन और धातुवाद की चर्चा स्फोट-कर्म के अन्तर्गत नहीं कर रहे हैं। स्फोट-कर्म के बारे में सुस्पष्ट दृष्टिकोण की आवश्यकता है। जिसकी चर्चा गृहस्थाचार में की गई है।²⁴

कुवलयमालाकहा में आर्थिक विकास की जानकारी देने वाले कुछ महत्वपूर्ण तथ्य निम्न है -

1. एशिया के विभिन्न देशों के साथ व्यापारिक और आर्थिक सम्बन्ध थे।
2. बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्र, ग्राम, नगर, मण्डियाँ आदि विकसित थे।
3. जन्मगत वर्ण-व्यवस्था विद्यमान होने के बावजूद जैन परम्परा कर्मगत विभाजन के पक्ष में थी।
4. अधिकांशतः व्यवसाय पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ता था। इससे कुशलता स्थापित होती थी और रोजगार की समस्या नहीं होती थी।
5. वस्तुओं के 49 प्रकार बताये गये।²⁵ इससे वस्तु व्यवसाय की उन्नति का पता चलता है।
6. छियालीस प्रकार के अलंकार और आभूषण बताये गये।²⁶ स्पष्ट है कि बहुमूल्य धातु और रत्न व्यवसाय भी विकसित अवस्था में था।
7. उन्चालीस प्रकार के शस्त्रास्त्रों के उल्लेख²⁷ से शस्त्रास्त्र-निर्माण और व्यापार के साथ-साथ सैन्य-सुरक्षा की व्यवस्थाओं की जानकारी मिलती है।

कुवलयमालाकहा से स्पष्ट होता है कि आठवीं सदी में व्यापार और वाणिज्य उन्नति की अवस्था में था। नौवीं शताब्दी में आचार्य जिनसेन रचित ग्रन्थ आदिपुराण में तत्कालीन भारतीय समाज और संस्कृति का सजीव चित्रण हुआ है। षट् कर्मों का निरूपण और कुलकर व्यवस्था का विवरण आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है।

आगम और आगमोत्तर युग

आगम युग में प्राप्त आर्थिक जीवन से भी अधिक स्पष्ट वर्णन आगमोत्तर काल में दिखाई पड़ने के तीन कारण हैं। प्रथम, आगमों का उद्देश्य आर्थिक व्यवस्थाओं का निरूपण नहीं रहा। द्वितीय कारण है काल और अकाल के प्रभाव

से विपुल श्रुत-सम्पदा का नष्ट हो जाना। तृतीय कारण को हम ऐसे समझें - भौतिकी का सामान्य नियम है कि दूर की वस्तु छोटी और अस्पष्ट दिखाई देती है। जैसे सैकड़ों यान्तियों को ले जाने वाला विमान हमें आकाश में चिड़िया जैसा नजर आता है। अपनी पृथ्वी से भी कई गुना बड़े ग्रह और तारे हमें अन्तरिक्ष में बिन्दु जैसे दिखाई पड़ते हैं। भौतिक दूरी की तरह समय की दूरी का भी प्रभाव पड़ता है। आगम के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि आगम-युग का आर्थिक जीवन भी कई तरह से दूसरे काल-खण्डों की तुलना में मौलिक व समृद्ध था। भगवान महावीर के संघ में 1400 साध्वियों के मोक्ष-गमन के अलावा 700 केवल ज्ञानी, 500 मनःपर्यव ज्ञानी, 1300 अवधि ज्ञानी और 900 वैक्रिय लब्धिधारी श्रमण थे।²⁸ आज के समय में ये अति-विशिष्ट सिद्धियाँ, लब्धियाँ और उपलब्धियाँ अनुपलब्ध हैं, विलुप्त हैं। ऐसी विशिष्ट आध्यात्मिक ऊँचाइयों के लिए पर्याप्त शारीरिक बल/सामर्थ्य आवश्यक माना गया है। जिसकी प्राप्ति के लिए भौतिक/बाह्य अनुकूलताएँ भी आवश्यक हैं।

सोमदेव सूरि का चिन्तन

मध्य-युग की शासन प्रणाली की बागडोर क्षत्रिय वर्ग के हाथों में थी तो प्रशासनिक व्यवस्थाओं की देखभाल मुख्यतः वैश्य वर्ग कर रहा था। चारों ही वर्णों के व्यक्ति जैन परम्परा से जुड़े थे। इसलिए जैन धर्म और आचार का समाज पर व्यापक प्रभाव था। परन्तु व्यापार वाणिज्य से जुड़े वैश्य वर्ग में जैन धर्म का अपेक्षाकृत अधिक विस्तार हो रहा था। कुशल राजकीय, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं के लिए समर्थ, बुद्धिमान और न्यायप्रिय राजा का होना आवश्यक था। जैन विचारक आचार्य सोमदेवसूरि (ग्यारहवीं शती) के विचार नैतिक, राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक आचार-संहिता प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि राजा को शस्त्र और शास्त्र दोनों में प्रवीण होना आवश्यक है। उन्होंने राज्य का मूल क्रम (शासन व प्रशासन की क्रमबद्ध निष्पक्ष व्यवस्था) और विक्रम (पराक्रम/पुरुषार्थ/शौर्य) को बताया है।²⁹ राज्य और व्यापार के संचालन में अध्यात्म की भूमिका रेखांकित करते हुए सोमदेव कहते हैं राजा को काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष; इन छः अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है।³⁰ यही अपेक्षा प्रजा से भी वे करते हैं। जैसे वर्तमान में शासन व्यवस्था में विभिन्न मन्त्रालय आवश्यक हैं, उनका निर्देश सोमदेव भी देते हैं तथा सम्बन्धित विभाग को संभालने वाले की योग्यता का वर्णन भी करते हैं। नागरिकों की समृद्धि पर ही राज्य की समृद्धि निर्भर है। इसलिए व्यापार-वाणिज्य की उन्नति में राज्य को पूरा

सहयोग करना चाहिये। सोमदेव कहते हैं - राजा को अपने यहाँ के माल को बाहर जाने से रोकने अथवा भेजने के लिए तथा अपने यहाँ बाहर के माल को आने या न आने देने के लिए विवेकसम्मत करारोपण और कर-मुक्ति की व्यवस्था करनी चाहिये।¹ सोमदेवसूरि कहते हैं फसल की कटाई के समय (लवणकाल) में गाँव में सेना के प्रवेश पर प्रतिबन्ध होना चाहिये।² सोमदेव के विचार नीति और अर्थनीति, धर्म और धन तथा चारों पुरुषार्थों के सन्तुलन और समन्वय पर बल देते हैं। नीतिवाक्यामृत के दूसरे अर्थसमुद्देशः के 11 वाक्यों में सोमदेवसूरि अर्थ की महत्ता, मर्यादा और सीमा के बारे में सारागर्भित विचार प्रकट करते हैं। उनका नीतिवाक्यामृत कौटिलीय अर्थशास्त्र की कोटि का ग्रन्थ माना जाता है। अर्थशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय राज्य तथा उसके अन्तर्गत निवास करने वाली जनता का कल्याण है। राज्य की वृद्धि और संरक्षण तथा उसमें निवास करने वालों की सुरक्षा तथा कल्याण किस प्रकार से हो सकता है, इन उपायों का वर्णन अर्थशास्त्र में किया जाता है। अर्थशास्त्र का एक उद्देश्य राजा का पथ प्रदर्शन करना और शासन की, प्रजा की समस्याओं का समाधान करना है। नीतिवाक्यामृत में राजा, राज्य, मन्त्रीपरिषद्, न्याय-व्यवस्था, दण्ड-नीति, दुर्गा, कोष, सेना, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि पर नीतिपूर्ण तरीकों से विमर्श किया गया है।³ नीतिवाक्यामृत के द्वारा सोमदेव न सिर्फ तत्कालीन समय और समाज का, अपितु युगों तक जमाने का मार्गदर्शन करते हैं।

निरस्त्रीकरण का प्रथम सन्देश

दसवीं शताब्दी में तत्कालीन भारतीय जन-जीवन को प्रभावित करने वालों में चामुण्डराय का नाम भी उल्लेखनीय है। उनकी नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती से मित्रता थी। नेमीचन्द्र ने चामुण्डराय के निमित्त से गोम्मतसार की रचना की थी। श्रमणबेलगोला में भगवान बाहुबलि की 56 फीट ऊँची विश्व-विख्यात मूर्ति की स्थापना चामुण्डराय के द्वारा की गई थी। बाहुबलि प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र थे। चक्रवर्ती सम्राट भरत, जिनके नाम से हमारे देश का नाम भारत हुआ, ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र और बाहुबलि के अग्रज थे। दोनों भाइयों में मामूली बात को लेकर झगड़ा हो गया। बात युद्ध तक पहुँच गई। असंख्य वर्षों पूर्व हुए उस युद्ध में बाहुबली ने शस्त्रास्त्र के प्रयोग की स्पष्ट मनाही करके संसार को पहली बार निःशस्त्रीकरण का सन्देश दिया।⁴ चामुण्डराय द्वारा संस्थापित भगवान बाहुबलि की भव्य विशाल प्रतिमा आज भी सर्वनाशी परमाणु आयुधों से भरे विश्व को निरस्त्रीकरण का मंगल-सन्देश दे रही है।

हेमचन्द्राचार्य और कुमारपाल (12वीं शती)

आख्यान मणिकोष के प्रभाकर आख्यान में धनार्जन को मुख्य बताते हुए कहा गया - भूखे लोगो द्वारा व्याकरण का भक्षण नहीं किया जाता। प्यासों के द्वारा काव्य रस का पान नहीं किया जाता। अतएव हिरण्य का ही उपार्जन करो, क्योंकि उसके बिना सब कलाएँ निष्फल है।¹⁵ आचार्य हेमचन्द्र ने धन (सत्ता, समाज और अर्थ-व्यवस्था) में धर्म (अहिंसा, संयम, नैतिकता) की प्रतिष्ठा की। उन्होंने न सिर्फ जैन परम्परा पर, अपितु सम्पूर्ण भारतीय जन-जीवन पर जो छाप छोड़ी, उसका सुप्रभाव आज भी विद्यमान है। उन्होंने साढ़े तीन करोड़ श्लोक प्रमाण विपुल साहित्य की रचना की। उनके समय को भारतीय समाज, संस्कृति और साहित्य के उत्कर्ष का समय कह सकते हैं। जैसे चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के लिए अर्थशास्त्र की और सोमदेव ने राजा महेन्द्र के लिए नीतिवाक्यामृत की रचना की, उसी प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने राजा कुमारपाल के लिए लघु अर्थनीति की रचना की। उन्होंने सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल को अपने उपदेशों से प्रभावित किया।¹⁶ विक्रम संवत् 1194 में कुमारपाल ने शासन की बागडोर संभाली और उसके बाद राज्य की व्यवस्थाओं में युगान्तरकारी परिवर्तन किये। हेमचन्द्राचार्य के मार्गदर्शन पर उन्होंने जन-हितकारी अनेक राजाज्ञाएँ प्रसारित करवाईं। उनकी राजाज्ञा उत्तर में तुरुस्क लोगों के प्रान्त तक, पूर्व में गंगा नदी के किनारे तक, दक्षिण में विन्ध्याचल तक और पश्चिम में समुद्र तक मानी जाती थी। उनके सारे राजकाज में श्रावक उदयन मेहता बतौर मन्त्री के रूप में सहयोग करते थे।

कुप्रथाओं की समाप्ति : कुमारपाल के राज्यासीन होने के पूर्व तक किसी महिला के विधवा अथवा असहाय हो जाने पर उनकी सम्पत्ति राज्य द्वारा ले ली जाती थी और बदले में मामूली वृत्ति प्रदान की जाती थी। इस राजकीय व्यवस्था के चलते महिलाओं को अत्यन्त दयनीय और तिरस्कृत अवस्था में जीना पड़ता था। कुमारपाल ने कानूनन इस नियम को सदा-सदा के लिए समाप्त करके महिलाओं के आत्म-सम्मान को लौटया और समाज को बुनियादी रूप से मजबूत बनाया। दीन-दुखियों और असहायों के लिए राज्य की ओर से विशेष सुविधाएँ थीं। सम्पूर्ण राज्य में पशु-बलि, पशु-हिंसा, शिकार, नशा-मुक्ति, द्यूत-क्रीड़ा, मृत्यु-दण्ड आदि पर कुमारपाल ने पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया।¹⁷ कुमारपाल सच्चे प्रजापाल थे। उन्होंने प्रजा में नैतिकता, सदाचार और विश्वास स्थापित किया था। इसलिए उनके द्वारा प्रसारित राजाज्ञाओं का अनुपालन जनता द्वारा इच्छापूर्वक किया

जाता था। उनकी तुलना श्रेणिक, अशोक, सम्प्रति, खारवेल और अमोधवर्ष जैसे सम्राटों से की जाती है।

कुमारपाल द्वारा अणुव्रतों का ग्रहण : विक्रम संवत् 1216 में कुमारपाल ने अपने गुरु आचार्य हेमचन्द्र के पास प्रजा के समक्ष जैन गृहस्थाचार के अनुसार जीवन जीने की प्रतिज्ञाएँ ग्रहण कीं। वे प्रतिज्ञाएँ निम्न हैं³⁸ -

1. राज्य रक्षा के लिए युद्ध के अतिरिक्त आजीवन किसी भी प्राणी की संकल्पपूर्वक हिंसा नहीं करना।
2. कभी भी शिकार नहीं करना, शिकार नहीं खेलना।
3. मांस-मदिरा का सेवन नहीं करना।
4. प्रतिदिन जिनालय में पूजा-अर्चना करना और गुरु हेमचन्द्राचार्य की वन्दना करना।
5. अष्टमी, चतुर्दशी आदि विशिष्ट तिथि-दिनों में सामायिक-पौषध आदि विशिष्ट उपासना करना।
6. रात्रि भोजन का त्याग।
7. सप्त व्यसनों का पूर्ण त्याग और स्वदार सन्तोष व्रत धारण करना।
8. अभ्यास के लिए अनशन आदि तपों का आचरण करना।

हालाँकि इन प्रतिज्ञाओं के ग्रहण से पूर्व भी कुमारपाल का जीवन संयम व मर्यादा का जीवन्त रूप था। परन्तु बाद में सार्वजनिक रूप से प्रतिज्ञा ग्रहण करके जनता को अहिंसा और संयम की प्रेरणाएँ दीं। कुमारपाल का राज्य अहिंसा का राज्य था। उनकी आर्थिक और गैर-आर्थिक सभी व्यवस्थाएँ अहिंसा से अनुप्राणित थी। उन्होंने राजपूत-युगीन तथा भारत की सामाजिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में अनेक स्वर्णिम अध्याय जोड़े।

जैनों का अवदान

लोक-हित की उपेक्षा करके आत्म-हित करना सम्भव नहीं है। आत्म-कल्याण के पथ पर बढ़ने वाले जाने-अनजाने और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष लोक-हित के निमित्त बनते हैं। भगवान महावीर के अनुयायी सदियों से आत्म-लोक हित की साधना करने वाले रहे हैं। पूर्व मध्य युग के जैन साहित्य में निम्नांकित लोकोपकारी प्रवृत्तियों का उल्लेख मिलता है³⁹ -

1. **प्रपा** (पबा, प्यारु) : तालाब, कुआँ, बावड़ी आदि। जल व्यवस्था मानव और पशु-पक्षी, सबके लिए होती थी।
2. **सत्तागार** (निःशुल्क भोजनालय) : आतिथ्य और आहारदान।
3. **मण्डप** (आश्रयस्थान, धर्मशाला) : विश्राम स्थल, ग्राम सभा, आगमन गृह, वसति आदि।
4. **आरोग्यशाला** (औषधिदान) : चिकित्सालय, स्वास्थ्य केन्द्र आदि।
5. **सार्थ** (यातायात सुविधा, आजीविका दान) : व्यवसाय के लिए सामूहिक प्रयत्न।
6. **ग्रन्थ भण्डार** (ज्ञानदान, ज्ञानसुरक्षा) : पाठशाला, गुरुकुल, विद्यालय, उपाश्रय आदि। इन भण्डारों के माध्यम से लोग शिक्षा और आजीविका भी प्राप्त करते थे।

आगम युग से लेकर आज तक जैन समुदाय का आर्थिक उन्नति और समाज कल्याण में उल्लेखनीय योगदान रहा है। राजतन्त्रीय शासन प्रणाली में भी भगवान महावीर के अनुयायी अनेक महत्वपूर्ण पदों पर रहते हुए भारतीय अर्थव्यवस्था को नित नये आयाम देते हुए उसे आगे बढ़ा रहे थे। अकबर जैसे मुगल सम्राटों के वित्तीय शासकीय सलाहकार भी जैन धर्मानुयायी थे। अकबर जैन सन्तों का बड़ा आदर करता था। आचार्य हीरविजय को वह गुरु-तुल्य मानता था। शतुंजय तीर्थ से उसने राज्य-कर हटा लिया था। वर्ष में कोई डेढ़-पौने दो सौ दिनों में सम्पूर्ण राज्य में जीव-हिंसा और पशुवध पर पूर्ण प्रतिबन्ध था। राज्य में मांसाहार, मद्यपान, जुआ जैसे व्यसनों के निषेध की राजाज्ञाएँ अकबर ने भी प्रसारित-करवाई थीं। महाराणा प्रताप के परम सहयोगी मेवाड़-उद्धारक भामाशाह के बारे में बताया जा चुका है। वे अर्थ-प्रबन्धन और सैन्य-प्रबन्धन दोनों में कुशल थे। उनकी इस कुशलता पीछे आगमों में वर्णित आचार-दर्शन की भूमिका थी। सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में शायद एक भी ऐसा उल्लेखनीय उदाहरण नहीं है जब किसी जैन नरेश, सेनापति या मन्त्री के कारण किसी विदेशी शत्रु का उसके राज्य पर अधिकार हुआ हो। ऐसा भी शायद ही कोई दृष्टान्त मिले जब किसी जैन सेनानी ने युद्ध में पीठ दिखाई हो। भारत के राज्यवंशों में से बहुभाग के अभ्युदय एवं उत्कर्ष में जैन अधिकारियों, सेठों व प्रजाजन का विशेष योगदान रहा। मध्य एवं मध्योत्तर काल में तो अनेक देशी राज्यों का अस्तित्व, विशेषकर राजस्थान में, उनके कुल-क्रमागत जैन मन्त्रियों, दीवानों, सेनानियों और सेठों (व्यवसायियों) के कारण ही बना रहा ⁴⁰ अहिंसा और समता की अर्थ-व्यवस्था में उनकी ऐतिहासिक भूमिका है।

प्राकृत : रोजी-रोटी की भाषा

मध्ययुग में विपुल प्राकृत-साहित्य का निर्माण हुआ। प्राकृत-साहित्य का सम्बन्ध जन-जीवन और लोक-जीवन से अधिक रहा।⁴¹ इस साहित्य में मानव मात्र के लिए उच्चतर जीवन-मूल्यों की अभिव्यंजना हुई है। प्राकृत आम आदमी की भाषा होने के साथ-साथ रोजी-रोटी की भाषा थी। व्यवसाय के विस्तार के लिए प्राकृत का सहारा आवश्यक था। व्यवसाय वाणिज्य सम्बन्धी अनेक पुस्तकें प्राकृत में प्राप्त होती हैं। सेठ-साहूकार, सार्थवाह के अलावा निमित्तशास्त्र पर अनेक पुस्तकें मिलती हैं। इससे पता चलता है कि यह लोक-रुचि का विषय भी था और आजीविका का साधन भी। 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास'⁴² के पाँचवें भाग में नाट्य, संगीत, कला, गणित, आय, आयुर्वेद, शिल्पशास्त्र, रत्नशास्त्र, मुद्राशास्त्र, धातु-विज्ञान आदि विषयों के ग्रन्थों का विवरण दिया गया है। ग्रन्थ के प्रकाशकीय में लिखा गया कि पूर्वजों के युग-युगादि में ये सब विषय प्रचलित थे। तत्कालीन समय में ये शिक्षा-दीक्षा के भी साधन थे। निःसन्देह, इन विधाओं/विद्याओं का वाणिज्यिक महत्व था और आज भी है।

भगवान महावीर के अनुयायियों ने प्राकृत में सभी विषयों का समावेश करके सभी विषयों और विधाओं को जन-सामान्य तक पहुँचाने का युगान्तरकारी कार्य किया था। भाषा की बाधा से साधारण प्रजा जिस विशेष ज्ञान-विज्ञान, कला-शिल्प और व्यवसाय से अनभिज्ञ थी, वह ज्ञान प्राकृत मनीषियों ने अपने साहित्य के माध्यम से जन-सामान्य तक पहुँचा कर समाज की बड़ी सेवा की। इससे बिना किसी भेदभाव के आर्थिक गतिविधियों में हर वर्ग, वर्ण और जाति की भागीदारी सुनिश्चित हो गई थी। आर्थिक समता के साथ-साथ सामाजिक समता की दिशा में यह एक क्रान्तिकारी घटना थी।

कथा, चरित और अन्य साहित्य में भी मानव के आर्थिक व्यवहार का विशद विवरण मिलता है। प्राकृत साहित्य में अति-विशिष्ट से लेकर बिल्कुल साधारण आदमी का वर्णन है। इसलिए इस साहित्य में अर्थ-जगत् की बड़ी-बड़ी साहसिक घटनाएँ भी हैं और साधारण-से-साधारण काम-धन्धों का आर्थिक महत्व भी है। एक बात और है, प्राकृत आर्ष-भाषा है। उसका सम्बन्ध भगवान महावीर और बुद्ध के कालजयी आप्त-वचनों से है। इसलिए उसमें उत्कृष्ट जीवन-मूल्यों का सहज ही स्फूर्ति रहा है। इन जीवन-मूल्यों के व्यक्ति और समाज का कर्म-क्षेत्र प्रभावित था। अर्थशास्त्र पर नीतिशास्त्र का सुप्रभाव था।

प्राकृत का यह प्रभाव दूसरी भाषाओं की ओर संक्रमण करने लगा। अनाग्रह और सत्याग्रह जैन मनीषियों की विशिष्टता रही। उन्होंने लोक के व्यापक कल्याण के लिए भाषा का जब जो माध्यम उचित था, उसे अपनाया। भगवान महावीर ने कहा था कि भाषा का आग्रह हमें कठिनाइयों से नहीं उबार सकता।³ भाषावाद के समक्ष उनकी यह उद्घोषणा बहुत मूल्यवान है। जैन मनीषियों द्वारा संस्कृत और अपभ्रंश के अलावा हिन्दी, कन्नड़, तमिल, मराठी आदि में भी युग-निर्माणकारी साहित्य रचा गया। राजस्थानी, गुजराती, अंग्रेजी और अन्य अनेक भाषाओं के माध्यम से प्राकृत साहित्य में वर्णित जीवन मूल्य समाज का दिशादर्शन करने की ओर अग्रसर है। वस्तुतः, आर्थिक जगत में जिस बाजार आधारित व्यवस्था के वैश्वीकरण की बात की जा रही है; उसकी बजाय विश्व को सांस्कृतिक, नैतिक व मानवीय मूल्यों के वैश्वीकरण की ओर बढ़ना चाहिये। इससे धरती स्वर्ग तुल्य बनेगी और जो समाज-अर्थव्यवस्था स्थापित होगी, वह सर्वोदय का कारण बनेगी।

मांग और पूर्ति में सन्तुलन

मध्य और मध्योत्तर काल में आबादी का आधिक्य नहीं था। प्रदूषणकारी औद्योगिकीकरण नहीं हुआ था, इसलिए पर्यावरण भी अच्छा था। कृषि आधारित ग्राम्य अर्थव्यवस्था और कृषि, वन व खनिज उत्पादनों पर आधारित उद्योग विकसित थे। प्रचुर उत्पादन था और प्रचुर रोजगार के अवसर उपलब्ध थे। नित्य उपयोग की वस्तुएँ उचित दाम पर सर्वसुलभ थीं। वस्तुओं की मांग और पूर्ति में सन्तुलन था। गरीब तो थे, पर गरीबी नहीं थी।

सन्दर्भ

1. जलज, जयकुमार (डॉ.) भगवान महावीर का बुनियादी चिन्तन, पृ.-17
2. शास्त्री, नेमीचन्द्र (डॉ.) 'भारतीय संस्कृति के इतिहास में जैन वांगमय का अवदान (द्वितीय खण्ड)' पृ.-107
3. शर्मा, कालूराम (डॉ.) 'प्राचीन भारत का इतिहास' पृ.-224 से 226
4. महाप्रज्ञ, आचार्य - महावीर का अर्थशास्त्र' पृ.-16
5. वैद्य, हरिदास 'अकूमंदी का खजाना' प्रथम 'चाणक्य-नीति' अध्याय।
6. चाणक्य सूत्र 1 से 6 तक एवं देखें 'महावीर का अर्थशास्त्र' पृ.-16
7. सेठी, बिरधीलाल, 'अण्डा, मांस, मछली, धीरे-धीरे मारने वाले जहर है' (प्रकाशक - चाँदबाई सेठी पारमार्थिक ट्रस्ट, जयपुर) पृ.-4 पर लिखा - "चन्द्रगुप्त मौर्य, विक्रमादित्य, महाराणा प्रताप, छत्तपति शिवाजी कट्टर शाकाहारी थे।" महाराणा प्रताप के परम सहयोगी भामाशाह जैन श्रावक थे। राजस्थान पत्रिका 24-11-2001 के बुधवारीय 'परिवार परिशिष्ट' में 'मन्त्र दिवाकर' ग्रन्थ के सन्दर्भ से लिखा कि एक जैन मुनि की प्रेरणा से महाराणा प्रताप ने संकट के समय में भगवान पार्श्वनाथ की उपासना की और संकट-मुक्त हुए।
8. शास्त्री, नेमीचन्द्र (डॉ.) 'भारतीय संस्कृति के इतिहास में जैन वांगमय का अवदान (द्वितीय खण्ड)' पृ.-108 पर आधारित।
9. ओशो रजनीश भी इस विचार से पूर्ण सहमत रहे।
10. जैन, जगदीश चन्द्र (डॉ.) 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' तीसरा और चौथा अध्याय।
11. जैन, जगदीश चन्द्र (डॉ.) 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' पृ.-2
12. जैन शिलालेख संग्रह द्वितीय भाग, अभिलेख संख्या 277 डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री के 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' पृ.-341
13. भट्टाचार्य, सच्चिदानन्द 'भारतीय इतिहास कोश' (1967) पृ.-256

14. शर्मा, कालूराम (डॉ.) 'प्राचीन भारत का इतिहास' - पृ.-316 एवं 'सार्थवाह' डॉ. मोती चन्द्र पृ.-125
15. जैन, कमल (डॉ.) 'वसुदेवहिण्डी : एक अध्ययन' पृ.-106 एवं वसुदेवहिण्डी खण्ड दूसरा पत्र-126
16. जैन, कमल (डॉ.) 'वसुदेवहिण्डी : एक अध्ययन' पृ.-125
17. जैन, जगदीश चन्द्र (डॉ.) 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' पृ.-668 एवं देखें जैन साहित्य का बहद् इतिहास भाग-5 इक्कीसवाँ प्रकरण पृ.-237-238
18. जैन, कमल (डॉ.) 'वसुदेवहिण्डी : एक अध्ययन' पृ.-136
19. जैन साहित्य का बहद् इतिहास भाग-5, इक्कीसवाँ प्रकरण पृ.-237-238 एवं देखें 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' पृ.-667
20. जैन, प्रेम सुमन (डॉ.) 'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन' तीसरा व चौथा अध्याय
21. जैन, प्रेम सुमन (डॉ.) 'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन' दूसरा अध्याय
22. कुव. 231.28. 'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन' के पृ.-180 पर उद्धृत।
23. जैन, प्रेम सुमन (डॉ.) 'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन' पृ.-180
24. देखें - इसी ग्रन्थ में गहस्थाचार में स्फोट-कर्म कर्मादान पर विचार।
25. जैन, प्रेम सुमन (डॉ.) 'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन' पृ.-139 से 141
26. वही, पृ.-157-158
27. वही, पृ.-168
28. आचार्य, देवेन्द्र मुनि 'भगवान महावीर : एक अनुशीलन' परिशिष्ट-2
29. राज्यस्य मूलं क्रमो विक्रमश्च - विद्यावद्धि समुद्देश सूत्र-26

30. नीतिवाक्यामृत अरिषड्वर्ग समुद्देश सूत्र-1
31. नीतिवाक्यामृत कोश समुद्देश सूत्र-14
32. नीतिवाक्यामृत 22/16
33. शर्मा, एम. एल. (डॉ.) नीतिवाक्यामृत में राजनीति, पृ.-5-6
34. आवश्यकचूर्णि और चउप्यन महापुरिस चरियं
35. जैन, जगदीश चन्द्र (डॉ.) 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' पृ.-446
36. हस्तीमलजी (आचार्य), जैन धर्म का मौलिक इतिहास, चतुर्थ खण्ड, पृ.-394 एवं जैन, जगदीश चन्द्र (डॉ.) जैन कथा साहित्य विविध रूपों में, पृ.-12
37. जैन, ज्योति प्रसाद (डॉ.) 'प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ' भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन पृ.- 234
38. शास्त्री, नेमीचन्द्र (डॉ.) 'भारतीय संस्कृति के इतिहास में जैन वांगमय का अवदान (द्वितीय खण्ड)' पृ.-120
39. जैन, प्रेम सुमन (प्रो.) जैन साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ.-18
40. जैन, ज्योति प्रसाद (डॉ.) 'प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ' पृ.-369-370
41. जैन, प्रेम सुमन (प्रो.) जैन साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ.-8
42. प्रकाशक-पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।
43. न चित्ता तायए भासा - उत्तराध्ययन 6/10

आधुनिक अर्थव्यवस्था

मानव जाति के ज्ञात इतिहास में भौतिक जीवन सम्बन्धी सबसे अधिक क्रान्तिकारी परिवर्तन बीसवीं शताब्दी में हुए। हालांकि, इन परिवर्तनों की शुरुआत विभिन्न यन्त्रों व मशीनों के आविष्कारों के साथ उन्नीसवीं शताब्दी में हो चुकी थी। इस दौर में तीन बड़ी घटनाएँ हुई - औद्योगिक विकास, वैज्ञानिक-तकनीकी उन्नति और लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था। विज्ञान और उद्योग साथ-साथ चले। विज्ञान की मदद से उद्योगों का आधुनिकीकरण हुआ और इससे विज्ञान का व्यावसायीकरण हुआ। विज्ञान और वाणिज्य की दोस्ती से संसार में पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाएँ स्थापित होने लगी। पूंजीवाद की ताकत को देखते हुए राजसत्ताओं ने भी इस व्यवस्था को प्रश्रय देने में अपना भला समझा। पूंजीवाद सत्ता को साथ लेकर साम्राज्यवाद की ओर बढ़ा और संसार के निर्धन देशों और राजसत्ताओं में व्यापार के बहाने राजनीतिक उपनिवेश बनाने लगा। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप विश्व में समाजवाद और लोकतन्त्र के स्वर गूँजने लगे।

पूंजीवाद

पूंजी धनोपार्जन का एक साधन है। मानव की असीम तृष्णा और अति-संग्रह की वृत्ति से सम्पत्ति और सत्ता का कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रीयकरण पूंजीवाद है। 19वीं सदी में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप आधुनिक पूंजीवाद जन्म ले चुका था। पूंजीवाद के फलस्वरूप शोषण, सामाजिक-आर्थिक विषमता, साम्राज्यवाद आदि बुराइयों ने अपने पाँव पसारे। निजी स्वामित्व, निजी लाभ, उत्तराधिकार, उद्यम की स्वतन्त्रता आदि इस व्यवस्था की विशेषताएँ होती हैं। वर्तमान में जो पूंजीवाद दिखाई पड़ता है, वह उसके सैद्धान्तिक रूप से काफी भिन्न है। बढ़ता उपभोक्तावाद और बाजारवाद इसी व्यवस्था के नये नाम हैं। यह अर्थशास्त्री केनिज के इस विचार का समर्थन करता है कि भौतिक सम्पन्नता के विकास में अहिंसा आदि नैतिक मूल्यों का कोई स्थान नहीं है। पूंजीवादी समाज में कला, साहित्य, मानवीय मूल्य (Values) और सम्बन्ध, सभी का अन्तिम मूल्य (Price) बाजारू मूल्य बन जाता है, जिसमें महत्व इस बात का नहीं कि किसी कलाकार और साहित्यकार ने कितनी गहरी अनुभूति या मानवीय सत्य को सफल

अभिव्यक्ति दी है बल्कि यह है कि उसने एक व्यावसायिक समाज की जरूरत के मुताबिक कितना खपत के लायक माल तैयार किया है। ऐसे समाज में आदमी की संवेदनशीलता और सृजनशीलता नष्ट होती चली जाती है। इससे उसका आत्म-बोध और अस्मिता-बोध समाप्त हो जाता है। व्यक्ति भीतर से रिक्त हो जाता है। आगमों की भाषा में जो व्यक्ति शिल्पी, कलाकार और कारीगर थे, पूंजीवादी व्यवस्था ने उन सबको 'श्रमिक' बना डाला। इस व्यवस्था ने मानव-मानव के बीच के समता और बन्धुत्व के मूल्यों का लोप कर दिया।

संसार के अधिकांश देशों में लोकतन्त्रीय व्यवस्था आ गई तो पूंजीवाद आर्थिक उपनिवेश की ओर बढ़ने को आतुर है। पूंजीवाद पूरी तरह भौतिकवाद पर आधारित है। फिर भी, सभ्यता और विकास के अनेक क्षेत्रों में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने दूसरी व्यवस्थाओं के साथ मिलकर योगदान किया है। बेशक, वह योगदान संग्रह के विसर्जन पर ही सम्भव हुआ। असंग्रह और ट्रस्टीशिप की अवधारणाओं से प्रेरित पूंजीवाद परोक्ष रूप से समाजवाद की ओर बढ़ता है। परन्तु बाजार-व्यवस्था पुनः उसे रोक देती है।

समाजवाद और साम्यवाद

उन्नीसवीं शताब्दी में कार्ल मार्क्स (1818-1883) ने पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की शोषण-प्रवृत्ति के विरुद्ध बिगुल बजा दिया। उन्होंने कहा 'इतिहास का निर्माण राजा-रानियों के किस्सों, सेना-नायकों की जय व पराजय तथा जनसंख्यात्मक कारकों से न होकर, आर्थिक कारकों द्वारा हुआ है।' पूंजीपतियों द्वारा निर्धन और मजदूर वर्ग (सर्वहारा वर्ग) के शोषण को देखकर मार्क्स करुणा और विद्रोह से भर उठे थे। मार्क्स के अनुसार शोषण की व्यवस्था में अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus Value) काम करता है। पूंजीपति को जो अतिरिक्त व अति-लाभ होता है, वह श्रमिक के श्रम का अतिरिक्त मूल्य है। जिसे पूंजीपति हड़प जाता है, यही श्रम का शोषण है। शोषण मुक्त समाज की स्थापना के लिए उसने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त की स्थापना की। इस सिद्धान्त के अनुसार बाहरी व्यवस्थाओं के परिणाम स्वरूप मनुष्य में होने वाले जैव-रासायनिक परिवर्तन ही 'मन' है। इसका अर्थ यह है कि जैसी बाह्य व्यवस्थाएँ होंगी, मानव का मन वैसा ही हो जायेगा। पदार्थ प्राथमिक सत्ता है और मन उसके आधार पर विकसित चीज है। इसलिए व्यवस्थाएँ बदल देने पर सब ठीक हो जायेगा। व्यवस्था परिवर्तन में

मार्क्स साधन-शुचिता की परवाह नहीं करते हैं। उनके समाजवाद (Socialism) का उग्र रूप ही साम्यवाद (Communism) है। साम्यवाद का नारा है 'एक सबके लिए और सब एक के लिए' तथा 'प्रत्येक को क्षमतानुसार कार्य करना है और प्रत्येक को आवश्यकता के अनुसार मिलेगा।'

मूल में भूल

पूँजीवादी और मार्क्सवादी, दोनों ही विचारधाराएँ भौतिकवाद पर आधारित हैं। इसलिए इन विचारधाराओं में प्रकृति और मनुष्य हाशिये पर चले गये और अर्थ केन्द्रीय तत्व बन गया। इसलिए मानव-कल्याण का कोई स्थाई आदर्श स्थापित होने की बजाय विश्व में शोषण, हिंसा, विषमता, वर्ग-संघर्ष, लूटपात आदि घटनाएँ होती रहीं। मार्क्स का सपना था - समाजवाद। सपना अच्छा था। परन्तु सपने का दर्शन और यथार्थ तक पहुँचने की प्रक्रिया तर्कसंगत नहीं थी। मार्क्स की दो बुनियादी भूलें थीं? -

1. मानव के संस्थागत रूप पर ऐकान्तिक बल और उसके मानवीय रूप का सम्पूर्णतः विस्मरण। मार्क्स की व्यवस्था-परिवर्तन से व्यक्ति-परिवर्तन की बात सफल नहीं हो पाई। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है स्टालिन का व्यक्तिवादी एकाधिपत्यवाद। जिसने मार्क्स के आदर्शों के बहाने मार्क्स के आदर्शों की अपने जीवन में ही धजियाँ उड़ा दी। परिणाम स्वरूप नौकरशाही का एक ऐसा वर्ग तैयार हो गया, जिसका मुख्य कार्य लोकसत्ता को मजबूत बनाकर समाजवाद की स्थापना करना था, परन्तु वह आर्थिक-राजनीतिक सत्ताधीश बनकर जनता का उत्पीड़क और शोषक बन गया। बर्नार्ड शॉ को कहना पड़ा कि सत्ता के उपासक उच्च पदाधिकारियों की सामन्तशाही का दूसरा नाम नौकरशाही है।^१

2. दूसरी भूल मार्क्स ने, विशेषतः उसके उत्तराधिकारियों ने की वह थी - साधन-साध्य के विवेक की विस्मृति। मार्क्स द्वारा पूँजीवादियों को दी गई 'संग्राम' की चेतावनी को मार्क्स के उत्तराधिकारियों ने रक्त-क्रान्ति का रूप दे दिया। लेनिन ने कहा - 'राजनीति में कोई नैतिकता नहीं होती, अनिवार्य आवश्यकता ही प्रयोजनीय वस्तु होती है। हमें धोखाधड़ी, विश्वासघात, कानून-भंग, झूठ बोलने आदि के लिए तैयार रहना चाहिये। जिनसे हमारा मतैक्य नहीं है, उनके प्रति हमारी शब्दावली ऐसी ही होनी चाहिये, जिससे जन साधारण के मन में उनके प्रति घृणा और अरुचि पैदा हो।'^{१४} इस तरह साम्यवाद मूल में ही नकारात्मक दृष्टिकोण लेकर आगे बढ़ा।

व्यक्तिवादी पूंजीवाद राजसत्तात्मक पूंजीवाद के रूप में बदल गया। राजसत्तात्मक पूंजीवाद में तानाशाही जुड़ने से मौलिक मानवीय स्वतन्त्रताएँ भी छिन गईं। मार्क्स के उत्पादन की गुणवत्ता को सुधारने और प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण की बातें भी विस्मृत कर दी गईं।^१ इनके अलावा मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त महज कायिक श्रम को मूल्यांकित करता है और बौद्धिक श्रम व प्रबन्धकीय कौशल की उपेक्षा करता है।

पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों व्यवस्थाओं में संसार में संघर्ष बढ़ा और अशान्ति घटी। मानव के समग्र कल्याण की दिशा में कोई ठोस कार्य नहीं हुआ। जो अर्थशास्त्र संसार में विकसित हुआ, वह इच्छा, आवश्यकता और मांग पर आधारित रहा। इच्छा का क्षेत्र सबसे व्यापक, आवश्यकता का उससे छोटा और मांग का क्षेत्र उससे भी सीमित है। आचार्य महाप्रज्ञ आगमिक अर्थशास्त्र के सन्दर्भ में आधुनिक अर्थशास्त्र में सुविधा, वासना (आसक्ति या मूर्च्छा), विलासिता और प्रतिष्ठा को और जोड़ देते हैं।^१ क्यों कि ये तत्व मानव की इच्छा, आवश्यकता और मांग को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। विकास की अवधारणा भी इन्हीं तत्वों के इर्द-गिर्द घूमती रही। इसलिए 'अधिक उत्पादन और अधिक उपभोग' जैसी अवधारणाएँ बल पकड़ने लगी।

पर्यावरण की क्षति

डॉ. प्रेम सुमन ने सभ्य मानव के आठ महापाप बताये हैं - आवश्यकता से अधिक जनसंख्या में वृद्धि, प्रकृति के सभी क्षेत्रों में प्रदूषण का विस्तार, जीवन के हर क्षेत्र में अति-प्रतियोगिता, अतिभोग के प्रति तीव्र लालसा, जीवन की कोशिकाओं का हास, परम्परा से प्राप्त संस्कृति की अवहेलना, एकान्तवाद एवं दुराग्रह का प्रचार और अणुशस्त्रों का अन्धा निर्माण। तृष्णा और क्रूरता इन पापों के मूल कारण हैं। अधिकाधिक उत्पादन में पर्यावरण की चिन्ता किसी ने नहीं की। जब स्थिति बद से बदतर होने लगी तो 20वीं शताब्दी के सत्तर के दशक में विश्व का ध्यान इस ओर गया। संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में जून 1972 में स्टॉकहोम (स्वीडन) में स्टॉकहोम पर्यावरण और विकास सम्मेलन हुआ। तब तक मानव की लालसाएँ बहुत बढ़ चुकी थी। प्रकृति और संस्कृति के क्षरण की भारी कीमत पर जो विकास किया जा रहा था, उस पर एकाएक अंकुश लगाने में राजनीतिक प्रयास अधिक कारगर नहीं हुए। 3 और 4 दिसम्बर, 1984 की राति को

हुई भोपाल गैस दुर्घटना में 4000 से अधिक लोग आधिकारिक तौर पर मारे गये और लाखों लोग रोगग्रस्त हो गये। दुनिया का ध्यान फिर इस अन्धाधुन्ध विकास की ओर गया। भारत में भी पर्यावरण (संरक्षण) अधिनियम-1986 बना। संसार के हर क्षेत्र में पर्यावरण पर ध्यान दिया जाने लगा। परन्तु मानव अपनी भोगवादी वृत्ति और कई प्रकार के दुराग्रहों के कारण अहिंसा और संयम की निरापद-उत्कृष्ट जीवन शैली को सम्यक् रूप से अपनाने में परेशानी अनुभव करता है। उसकी यह परेशानी, संसार की कई परेशानियों का कारण बनी हुई है।

भ. महावीर और महात्मा गांधी

महात्मा गांधी अपनी आत्मकथा में लिखते हैं कि उनके परिवार का जैन धर्म से दीर्घ सम्बन्ध रहा था। जैन मुनियों का उनके परिवार में बहुत सम्मान था। जैन मुनि श्री बेचर स्वामी उनके परिवार के सलाहकार थे। विद्यार्थी जीवन में विदेश जाने से पूर्व उन्होंने बेचर स्वामी से ही मद्यपान, मांसाहार और अनाचार सेवन के निषेध की प्रतिज्ञाएँ की थी, जिनकी बदौलत गांधीजी जीवन में अनेक समस्याओं से बचे।^९

श्रीमद् राजचन्द्र तो उनके लिए गुरु-तुल्य ही थे। गांधीजी ने कहा कि यूरोप के तत्वज्ञानियों में मैं टॉल्स्टॉय को पहली श्रेणी और रस्किन को दूसरी श्रेणी का विद्वान समझता हूँ; पर श्रीमद् राजचन्द्र भाई का अनुभव इनसे भी बढ़ा-चढ़ा था। मेरे जीवन पर मुख्यतः श्रीमद् राजचन्द्र की छाप पड़ी है। टॉल्स्टॉय और रस्किन की अपेक्षा भी श्रीमद् राजचन्द्र ने मुझ पर गहरा प्रभाव डाला है। श्रीमद् राजचन्द्र से प्राप्त जैन धर्म और दर्शन सम्बन्धी अनेक पुस्तकों का अध्ययन गांधीजी ने किया। दोनों के बीच पत्र-संवाद भी बहुत होता था।^९ दक्षिण अफ्रीका प्रवास के दौरान भी गांधीजी ने श्रीमद् राजचन्द्र से पुस्तकें मँगवाई थी। उन्होंने जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरि, हेमचन्द्राचार्य, अमृतचन्द्रसूरि प्रभृति आचार्यों के विशेषावश्यक भाष्य, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि ग्रन्थ पढ़े थे, ऐसा अनेक सन्दर्भों से स्पष्ट होता है।^{१०} श्रीमद् राजचन्द्र ने उन्हें अन्य जैन ग्रन्थों के अलावा उत्तराध्ययन-सूत्र भी दिया था। उत्तराध्ययन में जातिवाद का तर्कसंगत ढंग से प्रतिवाद किया गया है। उसमें चाण्डाल कुलोत्पन्न मुनि हरिकेशबल के तपोमय जीवन की महिमा गाई गई है। यह बहुत सम्भव है कि गांधीजी ने मुनि हरिकेशबल के नाम और व्यक्तित्व से प्रभावित और प्रेरित होकर "हरिजन" शब्द प्रयोग किया। महात्मा

गांधी के चुम्बकीय अहिंसक व्यक्तित्व के निर्माण में जैन धर्म दर्शन की सर्वाधिक प्रभावी भूमिका थी। उनकी आत्मकथा में आहार में द्रव्य-मर्यादा, रात्रि-भोजन निषेध और ब्रह्मचर्य का संकल्प जैसे अनेक उत्तम नियम हैं, जो जैनाचार के मुख्य अंग हैं।

अणुव्रत और गांधीजी

महात्मा गांधी के ग्यारह नियम, जिनका आर्थिक-सामाजिक प्रभाव भी कम नहीं है, और आगम की व्रत व्यवस्था में काफी साम्य है। जिसे निम्न प्रकार से दर्शाया जा सकता है¹¹ -

आगमिक व्रत-व्यवस्था	गांधीजी के नियम
अहिंसा व्रत	अहिंसा व्रत
सत्य व्रत	सत्य व्रत
अचौर्य व्रत	अचौर्य व्रत
ब्रह्मचर्य	ब्रह्मचर्य
अपरिग्रह	अपरिग्रह
दिशा परिमाण	(शरीर श्रम)
उपभोग-परिभोग परिमाण	अस्वाद
अनर्थदण्ड	भय-वर्जन
सामायिक	सर्वधर्म समभाव
देशावकाशिक	(स्पर्श-भावना)
पौषध व्रत	(स्वदेशी)
अतिथि संविभाग	(अन्य व्रतों में इसका समावेश)

भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम में अहिंसा और सत्य का प्रयोग पूरे संसार के इतिहास में प्रसिद्ध हो गया। गांधीजी के बाद की दुनिया की अनेक लोकतान्त्रिक, आर्थिक और सामाजिक लड़ाइयों में अहिंसा का प्रयोग गांधीजी की देन है। स्वातन्त्र्य प्राप्ति में निष्काम कर्मठता की आवश्यकता होती है। यह निष्काम कर्मठता गांधीजी को जैन धर्म से मिली।¹² उनके सभी व्रत समाज की आर्थिक व्यवस्था से जुड़े हैं। उनकी खादी में अहिंसा, राजकाज और अर्थशास्त्र तीनों का

समावेश हो जाता है। अपरिग्रह व्रत को उन्होंने विशेष तौर पर 'ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त' (न्यास सिद्धान्त) के रूप में निरूपित किया।

अपरिग्रह और ट्रस्टीशिप

स्वामित्व के सम्बन्ध एक प्रकार की अधिकारिता अर्थात् अधिकार का दावा या हकदारी के सम्बन्ध होते हैं। निजी स्वामित्व वाली बाजार व्यवस्था में अन्य बातों के अलावा चार अधिकारिताएँ सहज स्वीकार्य होती हैं - व्यापार आधारित, उत्पादन आधारित, श्रम आधारित और उत्तराधिकार या हस्तान्तरण आधारित अधिकारिताएँ (Entitlement)। इनके अलावा विनिमय अधिकारिता की एक अलग सत्ता है।¹³ बाजार में वस्तु उपलब्ध होते हुए भी ऋय-शक्ति कुछ व्यक्तियों के पास केन्द्रित रहती है। जिनके पास विनिमय अधिकारिता अथवा ऋय शक्ति होती है, वे संसाधनों का भरपूर उपयोग तो करते ही है, अपव्यय और दुरुपयोग भी करते हैं। इसके विपरीत जिनके पास ऋय-शक्ति का अभाव होता है, वे पर्याप्त संसाधनों के होते हुए आवश्यक और मूलभूत वस्तुओं से भी मोहताज हो जाते हैं। इस तरह समाज में सापेक्ष रूप से अभाव और समस्याएँ बनी रहती हैं। अपरिग्रह उनका समाधान करता है।

अपरिग्रह का सम्बन्ध संग्रह पर नियन्त्रण से है। उस नियन्त्रण के अनेक उपाय हैं। जिसमें स्वत्व और स्वामित्व के स्वीमांकन और विसर्जन की बात है। ट्रस्टीशिप के अनुसार परम्परा और परिस्थिति से प्राप्त धन, साधन में भी आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। प्राप्त सम्पत्ति और साधनों पर स्वामित्व की भावना से मुक्त हो कर व्यक्ति अपने आप को न्यासी माने। अपने आपको धन-सम्पत्ति का न्यासी मानने वाला मूर्च्छा और आसक्ति से आसानी से मुक्त हो जायेगा और जरूरत के मुताबिक विसर्जन और सम-वितरण करता रहेगा। ट्रस्टीशिप के दो पहलू हैं¹⁴ - संक्रमण काल का पहलू। जिसमें संग्रह के विसर्जन की दृढ़ भावना और निष्ठा है। दूसरा पहलू है - केवल धनिक ही न्यासी नहीं है, श्रमिक और अल्प-संग्रह वाला भी न्यासी है। गांधीजी मार्मिक बात कहते हैं - मेहनत से कमाई रोटी पर भी व्यक्ति का नहीं, भूख का अधिकार है। स्पष्ट है कि गांधीजी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त अपरिग्रह, असंग्रह, अचौर्य, अनासक्ति और संविभाग का ही रूप है।

सर्वोदय

सर्वोदय का अर्थ है - सबका उदय। जिससे/जिसमें सबका हित/कल्याण हो - मनुष्य का भी और मनुष्येतर प्राणियों का भी, वह सर्वोदय है। तीर्थंकर महावीर की अहिंसा सर्वोदय की जननी है। बापू ने कहा - जब कभी अहिंसा की प्रतिष्ठा होगी तो अवश्य अहिंसा के महान प्रवर्तक भगवान् महावीर की याद सबसे अधिक होगी और उनकी बताई अहिंसा का सबसे अधिक आदर होगा।¹⁵ सर्वोदय का सर्वप्रथम प्रयोग जैन साहित्य हुआ है। आचार्य समन्तभद्र ने भगवान महावीर की स्तुति 'युक्त्यनुशासन' में इसका प्रयोग किया -

सर्वान्तवत्तद् गुण मुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।

सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थं मिदं तवैव ॥¹⁶

महात्मा गांधी ने रस्किन की 'अन्टू दि लास्ट' पुस्तक का अनुवाद किया और उसका नाम 'सर्वोदय' रखा। सर्वोदय के बारे में आत्मकथा में उन्होंने तीन बिन्दु दिये¹⁷ -

1. सबकी भलाई में अपनी भलाई है।
2. वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एक होनी चाहिये, क्यों कि आजीविका का अधिकार सबको समान है।
3. सादा मेहनत मजदूरी का, किसान का जीवन सच्चा जीवन है।

अहिंसा सर्वोदय का मुख्य आधार है। गांधीजी के आर्थिक-सामाजिक विचारों पर भगवान महावीर के सिद्धान्तों का बहुत प्रभाव है। आज पूरी दुनिया में उनके विचारों की कद्र है। भगवान महावीर, महात्मा गांधी, मार्क्स और केनिज के व्यक्तित्व को आचार्य महाप्रज्ञ निम्न रूप में दर्शाते हैं¹⁸ - भगवान महावीर अहिंसक क्रान्ति के पुरोधा है, (जिसमें अपरिग्रह और अनेकान्त का समावेश है), गांधीजी अहिंसा समन्वित सर्वोदयी आर्थिक व्यवस्था के पुरोधा है, मार्क्स साम्यवादी आर्थिक क्रान्ति के पुरोधा है और केनिज पूंजीवादी आर्थिक क्रान्ति के पुरोधा है।

कल्याणकारी अर्थशास्त्र

ऐसा नहीं है कि अर्थशास्त्रियों ने मानव के विभिन्न प्रकार की गैर-आर्थिक सन्तुष्टियों और हितों पर ध्यान नहीं दिया हो। वस्तुतः अर्थ तो साधन मात्र है, जो साध्य है, वह अर्थ नहीं है; परन्तु अर्थ में मापनीय है। इसलिए मार्शल का यह

कहना ठीक है कि अर्थशास्त्र एक ओर धन का अध्ययन है, दूसरी ओर, जो अधिक महत्वपूर्ण है, वह मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है। अर्थशास्त्री ए.सी.पीगू के अनुसार आर्थिक कल्याण सामाजिक कल्याण का वह भाग है, जिसे मुद्रा के मापदण्ड से प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः मापा जा सकता है।¹⁹ कल्याणकारी अर्थशास्त्र का कार्य आदर्श अर्थव्यवस्था की स्थापना करना है। इस स्थापना में सैद्धान्तिक अथवा वास्तविक अर्थशास्त्र के नियमों और विश्लेषण-उपकरणों (Analytical Tools) को काम में लिया जाता है। ऐसा लगता है कि कल्याणकारी अर्थशास्त्र पूंजीवाद और समाजवाद के बीच पुल बनना या बनाना चाहता है। परन्तु वह वैसा कर नहीं पाता है। इसलिए रोबिन्स और परेटो जैसे अर्थशास्त्रियों द्वारा 'आदर्श अर्थव्यवस्था' की स्थापना में नीतिशास्त्र के हस्तक्षेप को जरूरी नहीं मानना आश्चर्यजनक नहीं लगता है। नीतिशास्त्र को आवश्यक मानने वाले अर्थशास्त्री कल्याणकारी अर्थशास्त्र का 'पुनर्निमाण' करते हुए दो सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं²⁰ -

1. **क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त** : इस सिद्धान्त के अनुसार कोई आर्थिक परिवर्तन किसी को हानि पहुँचाये बिना कुछ लोगों की स्थिति श्रेष्ठ बना देता है तो इस परिवर्तन को सुधार मान लेना चाहिये। आलोचकों के अनुसार यह सिद्धान्त वितरणात्मक पहलू की उपेक्षा करता है।

2. **समाज कल्याण क्रिया** : इस नियम के अनुसार मूल्य-निर्णयों (नैतिक मापदण्डों) को अर्थशास्त्र से बाहर निकाल दिया जाय तो अर्थशास्त्र का मूल उद्देश्य ही पराजित हो जायेगा। इसमें उत्पादन और विनिमय के साथ-साथ वितरण पर भी ध्यान दिया जाता है। लोकतन्त्रीय मतदान प्रणाली से समाज कल्याण क्रिया का निर्माण किया जाता है।

सीमित साधनों और संसाधनों में सबकी सन्तुष्टि सुनिश्चित करने के लिए कतिपय अर्थशास्त्रियों ने आवश्यकताओं में कमी करने के विचार को भी अर्थशास्त्र में स्थान देने का आग्रह किया। प्रो. जे.के. मेहता के अनुसार अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानवीय आचरण का एक इच्छा-रहित अवस्था में पहुँचने के एक साधन के रूप में अध्ययन करता है। अर्थशास्त्रियों में कल्याणकारी अर्थशास्त्र के स्वरूप को लेकर विभिन्न मत हैं। ये मत विभिन्न परिस्थितियों और पूर्वाग्रहों की वजह से हैं। अनेकान्त उसका सटीक समाधान करता है। इसीलिए अर्थशास्त्र के नियमों और विश्लेषण-उपकरणों को लागू करने में सापेक्षता का विचार किया जाता है।

बाजारवाद

बीसवीं शताब्दी में 'गांधीजी की आर्थिक-व्यवस्था' को छोड़कर किसी भी अर्थव्यवस्था में प्रकृति और संस्कृति का न तो समुचित जिक्र है और न ही कोई फिक्र है। फलस्वरूप व्यवस्था और अर्थव्यवस्था 'मुक्त' रूप से आगे बढ़ती है। चतुर और चालाक व्यक्ति अर्थव्यवस्था की इस मुक्तावस्था को अपने लाभकारी प्रवाह की ओर मोड़ने में सफल होते हैं। इस खुली व्यवस्था में गांधीवाद तो कहीं खो जाता है परन्तु अर्थव्यवस्था को प्रवाहित करने वाली मुद्रा पर गांधी अंकित रहते हैं। उस मुद्रा पर उपनिषद् का अमर वाक्य 'सत्यमेव जयते' और अहिंसा के प्रचारक सम्राट् अशोक का धर्मचक्र भी अंकित रहता है। सच! बाजारवादी हर चीज का बाजारीकरण करने में कुशल होते हैं। वे उन अमूर्त चीजों का भी व्यावसायीकरण कर देते हैं, जिन पर सारी मूर्त सत्ता टिकी हुई है। यहीं बाजारवाद की ताकत और उम्र बढ़ जाती है। वह पूंजीवाद और उपभोक्तावाद की राह चलते जरूरत पड़ने पर समाजवाद अथवा इस जैसे अन्य वाद/वादों की लाठी/लाठियाँ भी थाम लेता है। उसे भूमण्डलीकरण, उदारीकृत अर्थव्यवस्था, ढाँचागत समायोजन और वैश्विक ग्राम जैसे नये-नये नाम भी देता है। परन्तु उसकी मूल प्रकृति और संस्कृति में प्रकृति और संस्कृति की रत्ती भर चिन्ता नहीं है। मानव उसके लिए एक संसाधन है और पशु-पक्षी जैसे कोई बेजान वस्तु हो। संवेदना नहीं है, इसलिए वेदना ही वेदना है।

उपभोक्तावाद

उपभोगवाद या उपभोक्तावाद बाजारवाद का सशक्त आधार है। इसमें उन तमाम चीजों को मानव जीवन के लिए आवश्यक चीजों के रूप में स्थापित कर दिया जाता है, जिनकी कतई जरूरत नहीं होती है। व्यापक गरीबी के बीच उपभोक्तावाद गैर-जरूरी और खर्चीली चीजों की भूख जगाता है। यह सब करने के लिए वह ऐसे आकर्षक, लुभावने, तड़कीले, भड़कीले और हैरानियत भरे विज्ञापनों का सहारा लेता है, जो सचाई से कोसों दूर होते हैं। ये विज्ञापन बच्चों और महिलाओं के बाल-सुलभ और नारी-सुलभ सद्गुणों का हरण व हनन कर रहे हैं। इन विज्ञापनों का भारी भरकम खर्च भी अन्ततः उपभोक्ता पर ही पड़ता है। जिस समाज में अधिसंख्य लोगों को शुद्ध पेयजल नसीब नहीं होता हो, उसमें संसाधित पेय (सोफ्ट-ड्रिंक्स) जैसी नितान्त अनावश्यक चीजों की प्यास जगाना सरासर अन्याय है।

अनावश्यक वस्तुएँ जब आवश्यक बनने लगती हैं तो मनुष्य की आवश्यकताएँ भी असीम हो जाती हैं। इन असीम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक किसी भी प्रकार का माध्यम अपनाने में संकोच नहीं करता है। समाज में विचित किस्म के अपराध पनपते हैं। उपभोक्तावाद के सहायक के रूप में बैंकिंग व्यवसाय भी क्रेडिट-कार्ड और तरह-तरह की ऋण सुविधाएँ मुहैया कराता है। इस प्रकार के अनुबन्धों में निम्न-मध्यवर्गीय आदमी का जीवन बन्दी या बन्धक जैसा बनकर रह जाता है। वह अपने ही भोग और परिग्रह में उसी प्रकार उलझता है, जैसे स्वयं के द्वारा निर्मित जाले में मकड़ी फँसती है। ऐसे में मानव सहज स्वाभाविक जीवन से दूर कृत्रिम जीवन की ओर यानि अन्तहीन और अपरिचित परेशानियों की ओर बढ़ता है। उपभोक्तावाद की अपसंस्कृति से हमारे पारम्परिक, पारिवारिक और सामाजिक मूल्यों का हास हुआ है। मनोरंजन के साधनों में जो सामूहिक आनन्द था, उसका स्थान एकाकी सुख ने ले लिया। बाजार की भीड़ में व्यक्ति अकेला है। टेलीविजन के सामने परिवार और सम्बन्धियों के बीच भी वह अकेला है। देश-दुनिया की उसे खबर है, परन्तु अपनों और अपने पड़ौसियों से वह बेखबर है।

नारी का चीर-हरण

जो नारी हमारी माँ, बहिन, बेटे, भार्या आदि रूपों में श्रद्धा, सम्मान और स्नेह की प्रतिमूर्ति हुआ करती थी, वह अब विज्ञापन और व्यवसाय की वस्तु है, मॉडल है। उम्र और अदाओं के मुताबिक उसके सौन्दर्य और यौवन की विभिन्न बाजारों में अलग-अलग कीमत है। दुखद आश्चर्य तो यह है कि नारी भी अपने वस्तु होने के धुआँधार प्रचार में अपना व्यक्तित्व खो बैठी। स्त्री-पुरुष समानता की बात करने वालों का भी न जाने क्यों स्त्री और पुरुष के निर्माणवीकरण की ओर ध्यान नहीं जा रहा है। आखिर, मनुष्य मनुष्य है; कोई मशीन या रोबोट तो नहीं। मीडिया भी अपने लाभ के लिए बाजारवाद की तरफदारी करता है। वह उन्हीं खबरों को तवज्जो देता है जो बिकाऊ हो। चाहे उनका असर समाज के चरित्र पर कैसा भी पड़े। मीडिया की खबरों में गरीबी, बेकारी, भुखमरी, पिछड़ापन और विषमता जैसी समस्याओं तथा अहिंसा, मानवता, दया, त्याग और सहयोग जैसे जीवन-मूल्यों का अभाव है। जबकि सेक्स, हिंसा, हत्या, आतंक, रोमांस, ऐश्वर्य और भोग-विलास जैसी चीजों की भरमार है।

बाजार के आधार

बाजारोन्मुख अर्थतन्त्र छः आधारों पर टिका हुआ है²¹ - 1. एक जैसा माल (स्टैंडर्डइजेशन), 2. मनुष्य का एकांगी विकास (स्पेशियलाइजेशन), 3. प्रचण्ड व्यवस्था तन्त्र (सिंक्रोनाइजेशन), 4. केन्द्रीकृत विकास (कंसेंट्रेशन), 5. अधिकतम कमाई का ध्येय (मेक्झिमाइजेशन) और 6. आर्थिक-राजनीतिक सत्ताओं का केन्द्रीकरण (सेण्ट्रेलाइजेशन)। इन आधारों के तीन प्रमुख सूत्र हैं²²- 1. अधिक उत्पादन 2. अधिक उपभोग और 3. अधिक मुनाफा। इससे आगे या पीछे उसे किसी से कोई मतलब नहीं। उसके लिए तीन तरह के लोग महत्वपूर्ण हैं - उत्पादक, व्यापारी और उपभोक्ता। यदि आप इन तीनों में से कोई नहीं हैं तो बाजार की नजरों में आपका कोई मूल्य नहीं है। जैसे बाजार व्यक्ति को उपभोक्ता के रूप में देखना चाहता है, उसी प्रकार राजनेता उसे मतदाता के रूप में देखना चाहता है। जब से अर्थव्यवस्था पर बाजारवाद हावी हुआ है, तब से राजनीति भी व्यवसाय में बदल गई प्रतीत होती है। धर्म और धार्मिक-पारमार्थिक संगठनों पर भी इसका प्रभाव पड़ा है।

भूमण्डलीकरण

बाजारवाद का वैश्वीकरण अथवा भूमण्डलीकरण होता है। यानि यह देशों की सीमाएँ पार करके अन्तर्राष्ट्रीय रूप ग्रहण करता है। इस दौरान बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपने व्यावसायिक शोषण का जाल बिछाती हैं। तीसरी दुनिया के देशों यानि अविकसित, अल्प-विकसित और विकासशील देशों पर इसका कई रूपों फैलाव होता है। प्रेक्षकों का कहना है कि ये कम्पनियाँ स्थानीय, क्षेत्रीय और स्वदेशी व्यापार के हितों को सुनियोजित ढंग से नुकसान पहुँचाती हैं। केवल व्यापार ही नहीं, स्थानीय सांस्कृतिक स्वरूप को भी ये व्यावसायिक उपक्रम तहस-नहस कर देते हैं। मानव के चिरकालीन अनुभवों में पके-परखे टिकाऊ जीवन-मूल्यों की अवहेलना का एक उदाहरण पर्याप्त है कि नवजात शिशु के भरपूर पोषण के लिए प्रकृति प्रदत्त माँ के स्तनपान की स्वस्थ नैसर्गिक परम्परा के स्थान पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ 'बेबी फूड' को ले आती हैं। उपनिवेश काल में जो काम पुलिस-फौज के हथियार करते थे, उत्तर-उपनिवेश काल में वही काम विश्व बैंक, मुद्रा कोष और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा किया जा रहा है। इन कम्पनियों ने तीसरी दुनिया के देशों की आर्थिक स्वायत्तता को नष्ट करके व्यापक पैमाने पर

बेरोजगारी, गैर-बराबरी, और उपभोक्तावादी अपसंस्कृति फैलाई है। अब तो विकसित देशों में इनके कारण सामाजिक तनाव बढ़ता जा रहा है।²³ ये कम्पनियाँ रोजमर्रा के जीवन में काम आने वाली चीजों से लेकर युद्ध के संहारक अस्त-शस्त तक बनाती हैं। भूमण्डलीकरण त्याग-तपस्या की महान पावन संस्कृति का नहीं, भोग-उपभोग की अपसंस्कृति का हो रहा है, जो धरती के पर्यावरण और मानव जाति के भविष्य के लिए शुभ संकेत नहीं है।

भय और हिंसा का अर्थतन्त्र

भगवान महावीर ने कहा परिग्रह हिंसा का मूल है।²⁴ संसार में होने वाले युद्धों के लिए यह बात पूरी तरह लागू होती है। युद्ध कभी राजनीतिक कारणों नहीं, बल्कि आर्थिक कारणों से लड़े जाते हैं। प्रथम विश्व युद्ध के बाद यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। जब इन कम्पनियों के आर्थिक हित आपस में टकराते हैं तो उसका परिणाम पूरी मानव जाति को झेलना पड़ता है। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद अमेरिका की 23 बड़ी कम्पनियों ने नाभिकीय हथियार बनाना शुरू कर दिया। हथियारों के उत्पादन और व्यापार से इन कम्पनियों को अनाप-शनाप मुनाफा हुआ। साथ ही विश्व में वियतनाम, कोरिया, इरान-इराक आदि युद्धों के अलावा आतंकवाद तेजी से फैला। वर्तमान में दुनिया के 195 देशों में से कम से कम 8 देश परमाणु शक्ति सम्पन्न हैं।

परमाणु आयुधों का जाखीरा

अमेरिका ने अब तक 28 बार दुनिया के विकासशील देशों को अपने आर्थिक व राजनैतिक निर्णय मनवाने के लिए परमाणु-शस्त्र प्रयोग की धमकी दी है और 90 बार परमाणु अप्रसार सन्धि (एन.टी.पी.) का उल्लंघन किया है। अकेले अमेरिका के पास 7000 सामरिक परमाणु हथियार और 1200 कूटनीतिक परमाणु हथियार हैं। इनके अलावा 2700 हथियार निष्क्रिय शस्त्रागार में पड़े हैं। रूस के पास भी सक्रिय रूप से तैनात 8400 परमाणु हथियार हैं तथा 10000 अन्य परमाणु हथियार सुरक्षित पड़े हैं। यूरोप के नाटो सदस्य देशों के पास 200 गुप्त परमाणु हथियार हैं। जो एन.टी.पी. का उल्लंघन है। अन्य देशों के पास भी पर्याप्त परमाणु हथियार हैं।²⁵ उत्पादन, व्यापार और प्रयोग के अलावा इन हथियारों की तस्करी का एक अलग अर्थतन्त्र है।

कुछ देश परमाणु शक्ति के बल पर दुनिया की आर्थिक शक्तियों का एक ध्रुवीकरण करना चाहते हैं। हिंसा और भय के बल पर धनी देशों का सामूहिक

पूँजीवाद संसार में बढ़ रहा है। ये धनी देश दुनिया के निर्धन देशों को लोकतन्त्र, मानवाधिकार, रोग-मुक्ति और विकास के नाम पर आर्थिक मदद भी देते हैं। परन्तु वह ऊँट के मुँह में जीरा वाली स्थिति ही है। उदाहरण के तौर पर वर्तमान में अमेरिका करीब 450 बिलियन डॉलर अपने सैन्य-प्रबन्धन और हथियारों पर खर्च करता है; जबकि 15 बिलियन डॉलर से भी कम वह गरीब देशों के 'विकास', पर्यावरण आदि पर खर्च करता है, जो उसके कुल सैन्य खर्च का 3.33 प्रतिशत से भी कम होता है।¹⁶ यहाँ एक बात गौरतलब है कि अमीर वर्गों व देशों द्वारा निर्धनों की चिन्ता भी सम्भवतः इसलिए की जाती है कि कहीं वह गरीबी कोई भयानक अनियन्त्रित रूप धारण करके उनके वैभव-विलास को नुकसान नहीं पहुँचा दे। यही बात पर्यावरण और अन्य समस्याओं के सम्बन्ध में समझनी चाहिये। यह दृष्टिकोण स्वार्थपरक होने से अहिंसा, समता, सह-अस्तित्व और सृष्टि की एकात्मता जैसे नियमों के अनुकूल नहीं हो पाता है और दुनिया वांछित परिणामों से वंचित रह जाती है।

परमाणु अस्त्रों की विकिरणों से स्वास्थ्य और पर्यावरण का भारी नुकसान होता है। छोटे-से ग्रह धरती पर कोई दो-चार देश, कुछ समुदाय या कुछ व्यक्ति ही रहे, यह विचार मूलतः सही नहीं है और वैसा सम्भव भी नहीं है। सह-अस्तित्व के बगैर दुनिया को बचाना नामुमकिन है। दुनिया परमाणु अस्त्रों से या उनके भय से नहीं, अपितु शुद्ध पर्यावरण, समता, अभय और अहिंसा की दिशा में किये जाने वाले ईमानदार प्रयासों से बचाई जा सकेगी। परमाणु अप्रसार सन्धि जैसे वैश्विक नियम अहिंसा की महत्ता को उजागर करते हैं। विश्व राजनीति में भारत की ओर से पंचशील की उद्घोषणा में भी अहिंसा के स्वर हैं। जून 1954 में निम्न पंचशीलों की घोषणा की गई¹⁷ -

1. एक दूसरे राष्ट्र की प्रादेशिक अखण्डता और सार्वभौमिकता का सम्मान।
2. पारस्परिक अनाक्रमण।
3. एक दूसरे राष्ट्र के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना।
4. एक दूसरे की समानता को मान्यता देना और परस्पर लाभ पहुँचाना।
5. शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को अपनाना।

इन पंचशीलों में भगवान महावीर और भगवान बुद्ध के उपदेशों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। आवश्यकता है नियमों के निष्ठापूर्वक अनुपालन की। दुनिया की भलाई

के लिए पर्यावरण-संरक्षण, निर्धनता से मुक्ति, आरोग्य, शिक्षा आदि पर समुचित धन का नियोजन होना चाहिये। हिंसाकारी शस्त्रास्त्रों के व्यापार पर नियन्त्रण के लिए अर्थशास्त्रियों को भी विचार करना चाहिये। भगवान महावीर हथियारों के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सभी व्यापारों का स्पष्ट निषेध करते हैं। उन्होंने विश्व को अनाक्रमण और निःशस्त्रीकरण का सन्देश दिया। उपासक वरुण और महाराजा चेटक ने उनसे अनाक्रमण के संकल्प किये थे।²⁸ निःशस्त्रीकरण के उन्होंने तीन सूत्र दिये - शस्त्रों का अव्यापार, शस्त्रों का अवितरण और शस्त्रों का अल्पीकरण।²⁹ ये सूत्र विश्व की शान्ति और समृद्धि के सूत्र हैं।

सन्दर्भ

1. गुप्ता, एम.एल और शर्मा डी.डी. (डॉ.) 'सामाजिक विचारक' पृ.-141 एवं देखें - प्रगति प्रकाशन-मास्को द्वारा प्रकाशित 'मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्त के मूल तत्व'
2. रूपचन्द्र, मुनि 'अपरिग्रह के सम्बन्ध में मार्क्स और महावीर' 'जिनवाणी' जून, जुलाई, अगस्त, 1986 अपरिग्रह विशेषांक पृ.-298
3. गुप्ता, एम.एल और शर्मा डी.डी. (डॉ.) 'सामाजिक विचारक' पृ.-116
4. रूपचन्द्र, मुनि 'अपरिग्रह के सम्बन्ध में मार्क्स और महावीर' 'जिनवाणी' जून-अगस्त, 1986 अपरिग्रह विशेषांक पृ.-299-300
5. 'मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्त के मूल तत्व' पृ.-225, 227
6. महाप्रज्ञ, आचार्य, महावीर का अर्थशास्त्र, पृ.-18
7. जैन, प्रेम सुमन (डॉ.) पर्यावरण और धर्म, पृ.-15
8. गांधी, मोहनदास कर्मचन्द, सत्य के प्रयोग पृ.-32
9. गोवर्धनदास (ब्रह्मचारी), 'महात्मा गांधी एवं कवि राजचन्द्रजी प्रश्नोत्तर' पुस्तक की भूमिका में महात्मा गांधी के विचार। देखें - आत्मकथा का 'रायचन्दभाई' अध्याय। देखें हंसराज जैन की 'श्रीमद् राजचन्द्र' पुस्तक पृ.-431-439
10. नगराज, मुनि (डॉ.), अहिंसा पर्यवेक्षण, पृ.-112-113
11. जैन, सागरमल (डॉ.) - जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन - पृ.-309
12. भगवान महावीर आधुनिक सन्दर्भ में - डॉ. नरेन्द्र भानावत सम्पादित पृ. 58-59।
13. सेन, अमर्त्य, गरीबी और अकाल, पष्ठ-16
14. धर्माधिकारी, दादा 'ट्रस्टीशिप के दो पहलू' 'जिनवाणी' जून, जुलाई, अगस्त, 1986 अपरिग्रह विशेषांक पृ.-232

15. जैन, भागचन्द (डॉ.) का लेख 'महावीर : बापू के मूल प्रेरणा स्रोत' 'भगवान महावीर आधुनिक सन्दर्भ में' पुस्तक के पृ. 57 से उद्धृत।
16. वही, प.-59 तथा तथा देखें 'गांधी : व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव'- काका कालेलकर पृ.-469
17. गांधी, मोहनदास करमचन्द, सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, चौथे भाग का 18वाँ अध्याय, पृ.-260
18. महाप्रज्ञ, आचार्य, महावीर का अर्थशास्त्र पृ.-81
19. पीगू, ए. सी. 'दि इकोनोमिक्स ऑफ वेलफेअर' 1932, पृ.-10
20. सेठ, एम.एल. 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' पृ.-630
21. जोशी, नन्दिनी के विचार डॉ नेमी चन्द की पुस्तक 'अहिंसा का अर्थशास्त्र' पृ.-31।
22. पण्डित, सुरेश का लेख 'खतरे लेखकीय प्रतिबद्धता को ताकत देते हैं' 'महावीर समता सन्देश' (नवम्बर 2002) पृ.-26
23. शर्मा, बनवारी लाल (डॉ.) (निदेशक - गांधी विचार एवं अध्ययन संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) 'बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का मकड़जाल' पुस्तक की प्रस्तावना।
24. 'संगनिमित्तं मारु' - भाव पाहुड 132
25. व्यास, वेद का लेख 'असुरक्षित दुनिया के विकल्प', 'महावीर समता सन्देश' (दिसम्बर 2004) पृ.-20
26. सच्स, जेफरी डी, का लेख 'ए न्यू इयर्स रिजोल्यूशन' प्रकाशित - दि इकोनोमिक टाइम्स 3 जनवरी, 2005 पृष्ठ-10
27. शास्त्री, गणेश मुनि, आधुनिक विज्ञान और अहिंसा पृ.-120
28. भगवई, 7/194-202
29. मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ), श्रमण महावीर, पृ.-164

तुलनात्मक विचार

साधन-साध्य की शुचिता

आगम का अर्थतन्त्र अहिंसा का अर्थतन्त्र है। वह संयम से अनुप्राणित और अनेकान्त से अनुवेष्टित है। अपरिग्रह उसकी आधारशिला है। वह इतना मानवीय है कि मानव तो क्या, मानवेत्तर प्राणियों के प्रति भी उसकी पूरी संवेदना है। समाजशास्त्र की भाँति अर्थशास्त्र की मुख्य इकाई व्यक्ति है, जिसे आधुनिक अर्थशास्त्र में उपभोक्ता नाम दिया गया है। आगमिक अर्थशास्त्र का सबसे बड़ा तथ्य व्यक्ति का परिष्कार और साधन-शुद्धि है। व्यक्ति के अन्तर्गत उत्पादक, व्यापारी और उपभोक्ता तीनों आ जाते हैं। उत्पादक और व्यापारी भी उपभोक्ता होते हैं। परन्तु उत्पादक और व्यापारी अथवा वितरक के रूप में उनकी प्रामाणिक भूमिका की अपेक्षा रहती है। इसलिए व्यक्ति शुद्धि के साथ साधन-शुद्धि स्वतः जुड़ी हुई है। उत्पादन के सम्बन्ध में भ. महावीर के तीन सूत्र महत्वपूर्ण हैं¹ -

1. अहिंसप्ययाणे : हिंसक शस्त्रों का निर्माण नहीं करना,
2. असंजुत्ताहिकरणे : हथियारों का संयोजन नहीं करना, और
3. अपावकम्मोवदेसे : पापकर्म की, हिंसा की शिक्षा नहीं देना।

हथियार भय और हिंसा के अर्थतन्त्र का यार होता है। विश्व में प्रति मिनट 8 करोड़ 40 लाख रुपये हथियारों के उत्पादन पर यानि हिंसा पर खर्च किये जा रहे हैं। हिंसा पर हो रहे खर्च को विकास के सन्दर्भों में देखें तो चौंकाने वाले तथ्य हमारे सामने होंगे² -

- ★ विश्व के सभी देश एक दिन में अपनी फौजों पर जितना खर्च करते हैं, उतने के उपयोग से धरती को पूरी तरह मलेरिया-मुक्त किया जा सकता है।
- ★ यदि एक टैंक न बनाया जाय तो उससे होने वाली बचत से 8 दिन तक एक लाख लोगों का पेट भरा जा सकता है।
- ★ एक टैंक की कीमत से 30 हजार बच्चों के लिए 500 विद्यालय खोले जा सकते हैं।

★ एक लड़ाकू विमान के मूल्य से 40 हजार गाँवों को स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध कराई जा सकती हैं।

★ एक परमाणु पनडुब्बी की कीमत में 23 विकासशील देशों के 1 करोड़ 60 लाख बच्चों को सुनियोजित शिक्षा दी जा सकती है।

विश्व-राजनीति में अहिंसा की दिशा में आगे बढ़ने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की निष्पक्ष भूमिका की अपेक्षा है। दुनिया की खुशहाली के लिए निम्न बिन्दु विचारणीय है-

★ राजनीतिक उपनिवेश की पूर्ण समाप्ति। स्वतन्त्रता और समानता की हवा में सबका सर्वांगीण विकास।

★ 'आर्थिक और सांस्कृतिक उपनिवेश' की कूटनीति से बचते हुए देशों के बीच आर्थिक व सांस्कृतिक सहयोग बढ़ाना।

★ जाति, नस्ल, रंग आदि के आधार पर मानव-मानव में भेद नहीं करना।

★ परमाणु परीक्षणों पर रोक। परमाणु हथियारों को नष्ट करना या परमाणु शक्ति का शान्तिपूर्ण उपयोग करना।

★ अनाक्रमण का संकल्प। लड़ने, लड़ाने और भिड़ाने वालों पर संयुक्त राष्ट्र संघ निगरानी और नियन्त्रण रखें।

★ मानवाधिकारों के साथ-साथ धरती के अन्य जीवधारियों के अधिकारों की चर्चाएँ भी विश्व-मंच पर की जाय। यान्त्रिक बूचड़खानों को क्रम से कम करना। दुनिया में शाकाहार के पक्ष में महौल बन रहा है। मनुष्येतर प्राणियों के प्रति करुणा का भाव पैदा हो रहा है। दुनिया की आर्थिक भलाई के लिए यह सब आवश्यक है।

★ हथियारों के उत्पादन और व्यापार पर अंकुश लगे। आतंकवाद के कारणों को खोजें और उसे समूल नष्ट करने के लिए सभी देश सहमति दें।

★ पर्यावरण की रक्षा के लिए सभी देश निर्धारित मापदण्डों का पालन करें।

राजनीतिक इच्छा शक्ति के साथ-साथ इन नियमों के पालन के लिए नागरिकों की जीवन शैली में परिवर्तन भी वांछनीय है। इसके लिए नागरिक आचार संहिता और प्रचार माध्यमों की भूमिका से जन-जागरण आवश्यक है।

शिक्षा और स्वास्थ्य

व्यक्ति-शुद्धि के लिए शिक्षा को बहुत बड़ा निमित्त माना गया है। भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति का उद्देश्य था चरित्र का संगठन, व्यक्तित्व का निर्माण, संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों को सम्पन्न करने के लिए उदीयमान पीढ़ी का प्रशिक्षण^१ परन्तु अब तो ऐसा लगता है कि शिक्षा-प्राप्ति का उद्देश्य अधिकाधिक पैसा कमाने के अलावा कुछ हो ही नहीं। स्वयं शिक्षा एक बहुत बड़ा व्यवसाय बन गई है। शिक्षा का व्यवसायीकरण आधुनिक अर्थशास्त्र की विडम्बना है। आधुनिक अर्थतन्त्र में शिक्षा और स्वास्थ्य के नाम पर भी लाखों-करोड़ों और अरबों-खरबों के वारे-न्यारे हो रहे हैं। साधारण व्यक्ति के लिए अच्छी न्यूनतम शिक्षा भी दूभर हो गई है और चिकित्सा की तो पूछिये ही मत! वह निम्न वर्ग के लिए असम्भव जैसी और मध्यवर्गीय व्यक्ति के लिए कमरतोड़ महंगी है। बड़ी बीमारियों का इलाज तो मध्यवर्गीय व्यक्ति के लिए भी असम्भव जैसा ही लगता है।

दवा-उद्योग का निदर्शन

इस समय भारतीय दवा बाजार में करीब 60000 दवाइयाँ हैं, जिनमें से सिर्फ 250 दवाइयाँ हमारे काम की है। शेष 59750 दवाइयाँ एकदम बेकार हैं। इन दवाओं को बेचकर ये कम्पनियाँ 800 प्रतिशत तक मुनाफा कमा रही है। एक एक दवा बाजार में 40 से अधिक नामों से बिक रही है। 90 प्रतिशत ऐसे टॉनिक बनाकर बेचे जा रहे हैं, जो मानव शरीर के लिए बिलकुल अनुपयोगी हैं। भारत के इस दवा उद्योग के करीब 90 प्रतिशत हिस्से पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का कब्जा है। जिनके जरिये करोड़ों रुपया प्रतिवर्ष बाहर चला जाता है।^१ यह सारा कारोबार उन्हीं चिकित्सकों और चिकित्सा-कर्मियों के आसरे फलफूल रहा है, जिन्होंने सेवा के संकल्प के साथ शिक्षा ग्रहण की थी। इन सब तथ्यों के अलावा लगभग पूरा दवा उद्योग एलोपैथी पर अवलम्बित है और एलोपैथी अहिंसक और निरापद नहीं है। उसकी हर दवा के साइड-इफेक्ट्स हैं। एलोपैथी और हिंसा के अर्थतन्त्र का एक ही स्वभाव है। उसमें तुरन्त उपचार तो है, परन्तु आगे अनेक बीमारियों के रास्ते खुल जाते हैं। इसी प्रकार हिंसा पर टिका अर्थतन्त्र तुरन्त सुखद और निरापद प्रतीत होता है। परन्तु कुछ अर्से बाद उसके अभिशाप प्रकट होने लगते हैं। चिकित्सा-जगत् आधुनिक अर्थतन्त्र के चरित्र का एक उदाहरण मात्र है। आज हर क्षेत्र में

लोभ-लिप्सा और आपाधापी मची है। आगमिक जीवन शैली निसर्गतः स्वास्थ्य की रक्षक है, इसलिए वह सुख, शान्ति और समृद्धि की हेतु भी है।

विकास की विद्रूपताएँ

जैन आगम ग्रन्थों में कृषि और आत्म-निर्भर ग्राम-तन्त्र अर्थव्यवस्था के आधार थे। समय के साथ परिस्थितियों में आमूलचूल बदलाव हुए। व्यवस्थाओं में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए या किये गये। समय बदलता है, मूल्य नहीं। मनुष्य ने अपने तात्कालिक स्वार्थ के लिए तैकालिक मूल्यों की उपेक्षा करते हुए विकास के ऐसे तरीके ईजाद कर लिये, जिनमें सर्वोदय के सारे सपने चूर-चूर होने लगे। संन 1979 से 2004 की 25 वर्षों की अवधि में भारत में कृषि क्षेत्र में लगे लोगों की संख्या 64 प्रतिशत से घट कर 54 प्रतिशत रह गई। देश में करीब 3.6 करोड़ युवा बेरोजगार हैं और करोड़ों जैसे-तैसे अपना काम चला रहे हैं। स्वतन्त्रता के समय 1947 में देश की जितनी आबादी थी, उतने यानि करीब 35 करोड़ लोग आजादी के करीब छः दशक बाद भी आज भूखे सोने पर मजबूर हैं। विश्व में यह संख्या 80 करोड़ बताई जाती है, जिसमें 30 करोड़ बच्चे होते हैं। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार प्रति 3.6 सैकिण्ड में विश्व में एक व्यक्ति की भूख के कारण मौत हो जाती है। जिसमें पाँच वर्ष की उम्र से कम के बच्चों की संख्या अधिक होती है। आज के समय में खाद्यान्न की कमी भूखमरी का मुख्य कारण नहीं है। इसका मुख्य कारण है समाज के एक वर्ग के पास विनिमय अधिकारिता (Entitlement) का अभाव तथा दूसरा कारण है कमजोर व असमान वितरण व्यवस्था। अपरिग्रह के सिद्धान्त में स्वत्व (Entitlement) और स्वामित्व (Ownership) का विसर्जन तथा संविभाग (सम+विभाग) मुख्य तथ्य हैं, जो भूखमरी, अल्प-पोषण और कुपोषण की समस्याओं का मूलोच्छेदन करने में सक्षम हैं।

तेज आर्थिक रफ्तार और क्रान्तिकारी तकनीकी विकास के बीच करोड़ों लोगों को पर्याप्त भोजन नहीं मिलना और करोड़ों लोगों का बेरोजगार रहना या अर्द्ध-रोजगार पर निर्भर रहना सबके लिए चिन्ता और चिन्तन का विषय है। यह केन्द्रित अर्थव्यवस्था का परिणाम है। जन सामान्य की उपेक्षा करके की गई उन्नति अन्ततः अवनति में परिवर्तित हो जाती है। ऐसे संकटपन्न समय में पुनः कृषि और ग्राम विकास पर जोर दिये जाने की जरूरत है। बेतहाशा बढ़ रहे शहरीकरण व औद्योगिकीकरण को रोकने के लिए ग्राम-तन्त्र को मजबूत बनाना और तकनीकी

विकास को ग्राम, ग्राम-तन्त्र और कृषि से जोड़ना आवश्यक है। भगवान महावीर का अहिंसा और समता का सिद्धान्त विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था की स्थापना करता है। वह सह-अस्तित्व पर आधारित है। उसमें सबका हित सन्निहित है।

ऐसा लगता है जैसे मानव एक इकाई विकास करता है तो दो या दो से अधिक इकाई विनाश! पर्यावरण, समता समाज-रचना और मानवीय-मूल्यों की दृष्टि से देखा जाय तो वर्तमान की विकास की अवधारणा अत्यन्त महंगी, खर्चीली और घाटे का सौदा ही सिद्ध हुई है। पूरे संसार में हिंसा और असंयम के दुख फैले हुए हैं। एक तरफ गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ हैं, दूसरी ओर दुर्गन्धयुक्त कच्ची बस्तियाँ हैं। गरीबी-अमीरी तो हर कालखण्ड में रही है, परन्तु मानव-बस्तियों की ऐसी विद्रूपताएँ सम्भवतः पहले कभी नहीं थी। औद्योगिकीकरण, शहरीकरण, पर्यावरण प्रदूषण से अनेक दूसरी समस्याएँ खड़ी हुई हैं। बढ़ती आबादी, उग्रवाद, आतंकवाद जैसी समस्याएँ दुनिया के अमन चैन में बाधक बनी हुई हैं। जिनके समाधान के लिए विचार-विमर्श तो खूब हो रहा है, परन्तु समस्याओं के मूल तक जाने के लिए कोई तैयार नहीं अथवा बुनियादी तरीकों से समस्याओं का समाधान नहीं किया जा रहा है।

शान्ति के सम्मेलनों से,
कष्ट माँ के ना कटेंगे।
अहिंसा की हवाओं से,
प्रलय के बादल छँटेंगे।

तुलना और निष्पत्ति

आगमों में वर्णित जीवन-शैली मानव, मानवता और दुनिया को बचाने के लिए बुनियादी समाधान प्रस्तुत करती हैं। वह एक मानवीय अर्थशास्त्र प्रस्तुत करती है, जो पूंजीवाद और समाजवाद, दोनों ही के दोषों से मुक्त है। पूंजीवादी, साम्यवादी और मानवीय या अहिंसा के अर्थशास्त्र में मौलिक अन्तर है, जिसे निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट किया जा रहा है -

1. दर्शन : पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों भौतिकवाद पर खड़े हैं। जबकि अहिंसा का अर्थशास्त्र एकीकृत मानवीयता पर आधारित है।
2. उद्देश्य : पूंजीवाद में वैयक्तिक अमीरी बढ़ती है और साम्यवाद में राज्य की शक्ति; जबकि अहिंसा के अर्थशास्त्र में पुरुषार्थ चतुष्टय की सन्तुलित साधना की जाती है।

3. **मानव का स्वरूप** : पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों मानव को आर्थिक प्राणी मानते हैं। अहिंसा का अर्थशास्त्र मानव को महज आर्थिक प्राणी नहीं मानता, अपितु उसे शरीर, बुद्धि, मन और आत्मा की अनन्त सम्भावनाओं की इकाई मानता है।
4. **जीवन शैली** : पूंजीवाद में विलासिता का जीवन है और साम्यवाद में यन्त्रवत् जीवन; जबकि अहिंसा के अर्थशास्त्र में नैसर्गिक, आध्यात्मिक और मानवीय जीवन है।
5. **गतिविधियाँ और नियन्त्रण** : पूंजीवाद में असीमित आजादी है और साम्यवाद में राज्य सभी स्वतन्त्रताओं को छीन लेना चाहता है। जबकि अहिंसा के अर्थशास्त्र में आत्मानुशासन है, इसलिए सहज स्वतन्त्रता है।
6. **सम्पत्ति स्वामित्व** : पूंजीवाद में असीमित स्वामित्व है और साम्यवाद में व्यक्तिगत स्वामित्व का अभाव है। अहिंसा के अर्थशास्त्र में आवश्यक स्वामित्व स्वीकार्य है। अपरिग्रह अथवा न्यास-सिद्धान्त स्वामित्व को नियमित करता है।
7. **कार्य-प्रणाली** : पूंजीवाद शोषण पर आधारित है और साम्यवाद में राज्य व्यक्ति की योग्यताओं का धीमा/अदृश्य शोषण करता है। अहिंसा का अर्थशास्त्र संयम और त्याग पर अवस्थित है।
8. **प्रकृति** : पूंजीवाद में व्यक्तिवाद है और साम्यवाद में राज्य का अवांछनीय नियन्त्रण; जबकि अहिंसा के अर्थशास्त्र में सह-अस्तित्व और सामाजिकता की भावना है।
9. **ढंग** : पूंजीवाद में अनावश्यक स्पर्धा और होड़ा-होड़ी है और साम्यवाद में राज्य की शक्ति का कठोर अंकुश है। अहिंसा के अर्थशास्त्र में सहकारिता है।
10. **शासन** : पूंजीवाद में बहुदलीय प्रजाजन्त और साम्यवाद में एकतन्त्रवाद है। अहिंसा के अर्थशास्त्र में कर्तव्य आधारित शासन है।
11. **श्रम का फल** : पूंजीवाद में पूंजीपति अधिकांश हड़प जाते हैं और साम्यवाद में राज्य सर्वशक्तिमान होता है। अहिंसा का अर्थशास्त्र सामाजिकता की भावना और सम-वितरण पर आधारित है।

12. **रोजगार** : पूंजीवाद में रोजगार प्रस्थिति और रिक्तता पर निर्भर है और साम्यवाद में वह राज्य के हाथों में होता है। अहिंसा का अर्थशास्त्र योग्यता को प्रधानता देता है।

13. **विचार प्रक्रिया** : पूंजीवाद और साम्यवाद में स्वतन्त्र वैचारिकता का हनन है, जबकि अहिंसा का अर्थशास्त्र अनेकान्त को महत्व देता है।

इस प्रकार अहिंसा का अर्थशास्त्र पूंजीवाद और साम्यवाद के दोषों का निराकरण करता है। जैन आगम ग्रन्थों में वर्णित आचार-दर्शन और सिद्धान्त अर्थशास्त्रीय महत्व के निम्न बिन्दुओं पर बल देते हैं -

- ★ अहिंसा, शाकाहार, संयम, सादगी और मितव्ययिता।
- ★ अपरिग्रह, असंग्रह, अनासक्ति और त्याग।
- ★ वैचारिक सहिष्णुता और विश्व-शान्ति के लिए अनेकान्त का दृष्टिकोण।
- ★ स्वावलम्बन, पुरुषार्थ और कर्तव्यपरायणता।
- ★ सह-अस्तित्वपूर्ण व्यवस्था।
- ★ प्रकृति और संस्कृति का संरक्षण।
- ★ सामाजिक व मानवीय एकता।
- ★ पारस्परिक अनुग्रह और सहयोग भाव।
- ★ संसार को बाजार नहीं, परिवार मानना।
- ★ साधन व साध्य की शुचिता पर बल।
- ★ व्यवसाय में प्रमाणिकता और ईमानदारी।
- ★ विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था।
- ★ केन्द्र में अर्थ नहीं; मनुष्य होता है।

आज विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास ने मानव सभ्यता और संस्कृति के अभिनव द्वार खोल दिये हैं। संचार क्रान्ति ने तो मनुष्य की जीवन चर्या और विश्व की व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन कर दिये हैं। उसके पास सुख के साधन तो प्रचुर हैं, परन्तु शान्ति की साधनाएँ कम। वह एक जैविक इकाई है और उसकी मूलभूत नैसर्गिक आवश्यकताएँ हैं। वह एक सामाजिक प्राणी है और उसकी सामाजिक आवश्यकताएँ भी हैं। अर्थशास्त्र मनुष्य की आवश्यकताओं

को पूरा करने की विधियों और प्रविधियों का शास्त्र है। परन्तु उसकी अन्तहीन और गैर-वाजिब इच्छाओं ने अर्थशास्त्र को अनर्थकारी संहारक शस्त्र की भाँति बना दिया है। आगमिक जीवन शैली अर्थशास्त्र को शान्ति और समृद्धि का शास्त्र बनाती है। अहिंसा का अर्थशास्त्र नीतिशास्त्र के साथ संयोजित है। वह जीवन और जीवन की गुणवत्ता का समादर करता है। विश्व की स्थायी उन्नति और सुख-शान्ति के लिए अहिंसा के अर्थशास्त्र का कोई विकल्प नहीं है। भगवान महावीर के ये शब्द आज अधिक प्रासंगिक हो गये हैं - 'अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं।' अर्थात् शस्त्र (हिंसा) तो एक-से-एक बढ़कर हैं। परन्तु, अशस्त्र (अहिंसा) से बढ़कर कुछ नहीं है।⁹

न्याय के लिए नैतिकता का नीर चाहिये।
सत्य के लिए समता का समीर चाहिये।
विश्व खड़ा है विनाश के कगार पर,
अहिंसा के अवतार प्रभु महावीर चाहिये।¹⁰

सन्दर्भ

1. महाप्रज्ञ, आचार्य, महावीर का अर्थशास्त्र पृ.-42
2. जैन, नेमीचन्द (डॉ.) 'डॉ.नेमीचन्द जैन व्यक्तित्व और कृतित्व' पृ.-262
3. अल्लेकर, एजूकेशन इन ऐंशिअंट इण्डिया, 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज' (डॉ.ज.च.जैन) के पृ.-286 पर उद्धृत।
4. दीक्षित, राजीव 'बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का मकड़जाल' पृ.-40
5. राजस्थान पत्रिका, सम्पादकीय 28 जनवरी, 2005, पृ.-8
6. नफा-नुकसान, जयपुर (9-10 फरवरी, 2005), पृ.-8
7. धींग, दिलीप (डॉ.) की काव्य कृति 'बरगद के बीज' से।
8. महाप्रज्ञ, आचार्य की पुस्तक महावीर का अर्थशास्त्र के पृ.-160 पर अंग्रेजी में उपलब्ध चार्ट पर आधारित।
9. आचारांग सूत्र 1/3/4
10. धींग, दिलीप (डॉ.) की काव्य कृति 'मुक्ताक-मुक्ता' से।

उपसंहार

जैन आगम ग्रन्थों में प्रतिपादित आर्थिक चिन्तन के अन्तर्गत कई दृष्टियों से विचार किया गया है। इसमें तीन दृष्टियाँ मुख्य रही हैं - आगम साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन, आगमिक सिद्धान्तों व आचार-दर्शनों का अर्थशास्त्रीय मूल्यांकन और वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आगमिक अर्थ-तन्त्र और जैनाचार का विवेचन। यह सारा वृत्तान्त जितना रोचक है, उससे कई गुना अधिक मार्गदर्शक है। एक के बाद एक अनेक नये आयाम हमारे समक्ष प्रकट होते चले जाते हैं। जो वर्तमान मानव और विश्व के अनेक अनुत्तरित प्रश्नों का उत्तर देते हैं और अनेक अनसुलझी समस्याओं का समाधान करते हैं।

आगम-साहित्य का महत्त्व

जैन आगम ग्रन्थ विश्व साहित्य की अनमोल निधि है। शताब्दियाँ बीत जाने पर भी आगम-साहित्य का महत्त्व न सिर्फ कायम है, अपितु वह निरन्तर बढ़ता जा रहा है। आगमों का महत्त्व मुख्यतः तीन कारणों से बढ़ रहा है -

1. वैज्ञानिक अनुसंधान : ज्यों-ज्यों विज्ञान और तकनीक का विकास होता गया आगम-साहित्य का महत्त्व बढ़ता गया। कितने ही उपयोगी तथ्य, जिन्हें प्रायः नकार दिया जाता था, अब उन्हें बहुत आदर के साथ स्वीकार किया जा रहा है। ऐसे तथ्य दार्शनिक, तत्व-ज्ञान सम्बन्धी और जीवन शैली से जुड़े हुए हैं। अपने मौलिक दर्शन, व्यावहारिक सिद्धान्तों, स्व-पर हितकारी जीवन शैली और आडम्बर-मुक्त उपासना-पद्धतियों की वजह से जैन धर्म आज विश्व में एक सर्वाधिक वैज्ञानिक धर्म के रूप में प्रतिष्ठित है।

जो बातें विज्ञानियों द्वारा आज कही जा रही है, आगम-साहित्य में उनके स्पष्ट निर्देश मिलते हैं और जैन परम्परा में सदियों से उनका अनुपालन होता रहा है। एक उदाहरण इसके लिए पर्याप्त है। दो दशक पूर्व राजस्थान में नारू-बाला रोग बहुत फैल गया था। एक विशेष कृमि से होने वाले इस रोग से मरीज को असह्य पीड़ा से गुजरना पड़ता था। इससे कितने ही रोगियों को अपनी जान भी गँवानी पड़ी। शासन की ओर से रोग और रोगियों के बारे में सांख्यिकीय आँकड़े जुटाये गये। एक आश्चर्यजनक तथ्य सामने आया कि जैन समाज में नारू-बाला रोग के

मरीज नगण्य संख्या में पाये गये। पता चला कि जैनी पानी छान कर पीते हैं और तप आदि की विशेष परिस्थितियों में छानने के अलावा उसे उबाल कर भी पीते हैं। यह रोग जिस कृमि से होता था, वह अनछने पानी के माध्यम से मानव शरीर में पहुँच जाती थी। तब जाकर सरकार की ओर से यह धुआँधार प्रचार किया गया कि पानी छान कर पिया जाये। स्मरण रहें, आर्थिक उन्नति सहित जीवन की सभी उन्नतियों का मूल बेहतर स्वास्थ्य है।

2. **आगम-अनुसंधान** : पिछली अर्द्ध-शताब्दी में आगम-साहित्य और जैनविद्या के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य हुआ है। आगमों के विभिन्न दृष्टियों से अध्ययन, शोध और अनुसंधान से नित नये तथ्य प्रकाश में आये। इन अनुसंधानों के फलस्वरूप जैन धर्म की प्राचीनता, ऐतिहासिकता, मौलिकता आदि के बारे में अनेक भ्रम टूटे। अब यह तथ्य दिन के उजाले की तरह सुस्पष्ट है कि जैन धर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है। इसका अपना स्वतन्त्र और मौलिक दर्शन है। साथ ही यह भी स्पष्ट हुआ कि प्राकृत भी प्राचीनतम बोली और भाषा है। इन सबके अलावा प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विषय में भी आगम-साहित्य से ऐसी विपुल उपयोगी जानकारी मिलती है, जो अन्यत्र अनुपलब्ध या दुर्लभ है। कम्प्यूटर के आविष्कार में भी जैन आगम आधार बने थे।

3. **प्रासंगिकता** : बढ़ते भौतिकवाद और बिगड़ते पर्यावरण के साथ-साथ संसार को एक के बाद एक अनेक नई समस्याओं से जूझता पड़ रहा है। एक तरफ विकास के आश्चर्यजनक प्रतिमान स्थापित किये गये और किये जा रहे हैं, दूसरी ओर युद्ध, आतंक, हिंसा, हत्या, भ्रष्टाचार, दुराचार, शोषण, भुखमरी जैसी समस्याएँ समाप्त होने का नाम नहीं ले रही हैं। यह स्थिति विकास की अवधारणा को एकपक्षीय सिद्ध करती है। आगम-ग्रन्थ समस्याविहीन सर्वांगीण विकास की राह सुझाते हैं। ऐसे अनेक कारणों से आगम-साहित्य की प्रासंगिकता और उपयोगिता बढ़ती जा रही है। निःसन्देह, आगे भी यह बढ़ती रहेगी।

जैन आगमों के इसी महत्व के कारण शोध-कार्य के लिए इस विषय का चयन किया। इस शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में प्रमुख जैन आगम-ग्रन्थों का एक विशेष दृष्टि से समीक्षात्मक संक्षिप्त परिचय दिया गया है। जिसमें आगम की परिभाषा, अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आगमों का परिचय है। अध्याय के दूसरे परिच्छेद में मूल-सूत्र, छेद-सूत्र प्रकीर्णक और व्याख्या-साहित्य का परिचय है।

तीसरे परिच्छेद में शौरसेनी आगम साहित्य का परिचय दिया गया है। इस परिचय में आगमों का परिमाण और विषय सामग्री से सम्बन्धित जानकारी है। आगम-साहित्य हमें दीर्घ कालखण्ड, विशाल क्षेत्रफल, बहुधर्मी संस्कृति, भाषा आदि के बारे में महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्रदान करता है।

जैन परम्परा में अर्थ सम्बन्धी अवधारणाएँ

शोध-प्रबन्ध के दूसरे अध्याय में जैन परम्परा में अर्थ सम्बन्धी अवधारणाओं पर विचार किया गया है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव श्रमण-संस्कृति के ही आदि संस्थापक नहीं थे, वे श्रम और कर्म (पुरुषार्थ) की महान संस्कृति के भी प्रथम सूतधार थे। असि (राजतन्त्र), मसि (अर्थतन्त्र), कृषि (प्रजातन्त्र), विद्या (ज्ञान-विज्ञान), वाणिज्य (व्यापार-व्यवसाय) और शिल्प (कला-संस्कृति) का प्रायोगिक व सर्व उपयोगी ज्ञान प्रदान करने वाले ऋषभदेव अर्थशास्त्र के आद्य संस्थापक भी थे। आगम-युग में अर्थशास्त्र होने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। अर्थ के महत्व को रेखांकित करने वाले उदाहरण और उद्धरण प्रचुर हैं। प्रत्येक तीर्थंकर की माँ तीर्थंकर के च्यवन-कल्याणक के समय धन और समृद्धि की देवी लक्ष्मी और रत्नराशि के स्वप्न देखती हैं। आगम-ग्रन्थों में बताया गया है कि आत्म-विकास और व्यक्तित्व-विकास के लिए जिन साधनाओं की आवश्यकता होती है, उनकी शुरुआत सम्यग्दर्शन से होती है तथा उनकी पूर्णता कैवल्य और मुक्ति (मोक्ष) की उपलब्धि पर होती है। यह तथ्य गौरतलब है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में अर्थ-विसर्जन (सुपात्र-दान) मुख्य निमित्त के रूप में बताया गया है और कैवल्य (मुक्ति) के लिए वज्रऋषभनाराच का शारीरिक संहनन होना अनिवार्य है। अतुल शारीरिक बल (भौतिक सामर्थ्य) की शर्त, एक अर्थपरक बात है। इससे यह फलित होता है कि साधना और आत्म-विकास में भी आदि से अन्त तक 'अर्थ' की भूमिका होती है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अर्थ का अर्थ केवल 'वित्त' या मुद्रा से ही नहीं है, वरन् उन सभी निमित्तों और उपादानों से हैं, जो हमारे जीवन की बेहतर व्यवस्थाओं के लिए आवश्यक है।

अर्जन और विसर्जन में विवेक

भारतीय संस्कृति में चार पुरुषार्थ की चर्चा है - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें अर्थ की अपनी महत्ता है और जीवन के सन्तुलन के लिए चारों में सामंजस्य आवश्यक है। यह सामंजस्य इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति

अर्थ का उपार्जन कैसे करता है और उसका उपयोग कैसे करता है। आगम-ग्रन्थ हमें धन के सम्यक् उपार्जन और सम्यक् उपयोग की अनेक दृष्टियाँ और विधियाँ बताते हैं। धनोपार्जन करना सभी जानते हैं, परन्तु दूसरों के हितों को आहत किये बगैर धनोपार्जन कैसे करना, यह कला कम व्यक्ति जानते हैं। आगमिक दृष्टि दूसरों के हितों की रक्षा करने के साथ दूसरों के हितों में सहायक बनने की है। तत्त्वार्थ सूत्र का अमर वाक्य *परस्परोपग्रहो जीवानाम्* अहिंसा, समता और समृद्धि के अर्थशास्त्र का प्रेरक उद्घोष है। पारस्परिक सहयोग और पारस्परिक निर्भरता पर पूरा संसार गतिमान है। धनोपार्जन से अधिक कठिन है - धन का सम्यक् उपयोग करना। आगम-ग्रन्थ मनुष्य को वह सद्-विवेक भी प्रदान करते हैं कि धन का अधिकतम सदुपयोग और सद्व्यय कैसे किया जाय। भगवान महावीर के अनुयायियों ने धन के सम्यक् उपार्जन और सम्यक् उपयोग के अनेक उदाहरण समय-समय पर प्रस्तुत किये हैं।

अर्थोपार्जन के साधन

शोध-प्रबन्ध के दूसरे अध्याय के तीसरे परिच्छेद में आगमों में वर्णित अर्थोपार्जन के साधनों पर विचार किया गया है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने भूमि, श्रम, पूंजी और प्रबन्ध को अर्थोपार्जन के साधनों के रूप में बताया है। इन्हें आधार मानते हुए यह विवरण प्रस्तुत किया गया है कि आगम-ग्रन्थों में कहाँ क्या है। भूमि के अन्तर्गत वन-सम्पदा, खनिज-सम्पदा और जल-सम्पदा को लिया गया है। मूलतः धर्म-शास्त्र होने से इन ग्रन्थों में इन सम्पदाओं का अर्थशास्त्रीय विवेचन भले ही न हो, परन्तु जो विवरण मिलता है, उसके अर्थशास्त्रीय निष्कर्ष हमारे लिए बहुत उपयोगी है। भूमि, जल और वन प्रदूषण-मुक्त थे। वे सभी जीवों के प्राकृतिक आवास के लिए सर्वथा अनुकूल थे। इसलिए सभी जीव-जन्तुओं और पशु-पक्षियों की सभी जातियाँ और प्रजातियाँ उस समय विद्यमान थीं। मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों के बीच एक सह-अस्तित्वपूर्ण जीवन शैली थी। प्रकृति से मानव का घनिष्ठ सम्बन्ध था।

प्रकृति की सुरम्य गोद में तीर्थकर, ऋषि-मुनि, योगी और अन्य साधक साधनाएँ करते थे। भगवान महावीर ने वनों में साढ़े बारह वर्षों तक कठोर साधनाएँ कीं। साधना काल में सम्पूर्ण प्रकृति से वे एकाकार हो गये थे। वे सम्पूर्ण प्रकृति से मौन-संवाद करते थे। मैत्री उनके रोम-रोम में थी, इसलिए वे अभय थे और

निर्वैरभाव सन्देश दे रहे थे। चण्डकौशिक नाग के उद्धार के माध्यम से उन्होंने मानव जाति को सन्देश दिया कि प्रकृति में प्रत्येक प्राणी की महत्ता और उपयोगिता है। इसलिए किसी भी प्राणी के प्राणों का न तो हरण करना चाहिये और न ही किसी प्राणी की स्वतन्त्रता में बाधक बनना चाहिये। चण्डकौशिक जैसा जहरीला प्राणी भी रूपान्तरित हो सकता है। मानव में तो रूपान्तरण और उच्चतम विकास की सारी सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। उनका साधना-काल प्रकृति और प्रकृति में निवास करने वाले प्राणियों तथा वनवासी बन्धुओं के साथ सह-अस्तित्वपूर्ण जीवन का जीवन्त उदाहरण है। कैवल्य के पश्चात् भगवान महावीर उद्यानों में ठहरते थे। अध्यात्म समाज-व्यवस्था का आधार था। हरे-भरे सघन वन और खिलते-महकते उपवन उस समय के वरदान थे। उस समय का मानव शुद्ध-स्वच्छ हवा में साँस लेता था और शुद्ध-स्वच्छ जल उसे उपलब्ध था। इन सब माध्यमों का वह व्यावसायिक उपयोग भी करता था। आज जल, जंगल और जमीन पर अधिकार के लिए आन्दोलन हो रहे हैं। उस समय ये साधन सबके लिए सहज उपलब्ध थे।

श्रम और पूंजी

परिश्रम किये बगैर कुछ भी पाना सम्भव नहीं है। अर्थोपार्जन और जीवन की समृद्धि के लिए मानव-श्रम का महत्व तब से लेकर आज तक बना हुआ है। पेट के लिए व्यक्ति अपना श्रम बेचता था। इससे दास-प्रथा पनप गई थी। भगवान महावीर का जीवन और आगमों के अनेक उदाहरण दास-प्रथा की खिलफत करते हैं। वे मानव-श्रम को मानवीय गरिमा प्रदान करते हैं। शोषण-मुक्त व्यवस्था के निर्देश आगमों में जगह-जगह मिलते हैं। आचारांग में भगवान महावीर कहते हैं कि किसी को शासित नहीं करना चाहिये, किसी को परिताप नहीं देना चाहिये। वे मानव को बहुत ही गहराई से प्रतिबोधित करते हैं कि जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है। उपासकदशांग और आवश्यक सूत्र में प्रथम अणुव्रत में निर्देश दिया गया है कि श्रावक अपने अधीनस्थ कर्मचारियों समुचित देखभाल करें, उन्हें समय पर समुचित वेतन दें और उन पर उनकी क्षमता से अधिक कार्यभार नहीं डालें।

पूंजी-निर्माण, पूंजी-अनुरक्षण और पूंजी-वृद्धि के लिए भगवान महावीर के श्रावक सचेष्ट थे। उपासकदशांग के आनन्द आदि श्रावकों की सम्पत्ति के वर्गीकरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय लेखांकन और अंकेक्षण की प्रणालियाँ विद्यमान थी। जिनके आधार पर व्यापारी अपने व्यवसाय

का लेखा-जोखा रखते और उसे जाँचते थे। जैन-सूत्रों से पूंजी-निर्माण के लिए बचत और निवेश की प्रेरणा तो मिलती है, परन्तु संग्रह की नहीं। श्रावकों की दिनचर्या और जीवन-चर्या से यह पता लगता है कि वे कुशल प्रबन्धक और दूरदर्शी योजक भी थे। एक ओर वे लम्बे-चौड़े व्यवसाय का संचालन करते थे, दूसरी ओर धर्म और समाज के लिए भी पर्याप्त समय का नियोजन करते थे। उचित प्रबन्धन के बिना ये व्यवस्थाएँ सम्भव नहीं थी। उस समय के सार्थवाह उत्तम व्यावसायिक प्रबन्धक और जिम्मेदार नेतृत्वकर्ता के रूप में समुदाय और देश को उल्लेखनीय सेवाएँ प्रदान कर रहे थे। भगवान महावीर का तीर्थ तो उत्कृष्ट प्रबन्ध का स्वरूप ही था। वह विनय, आत्मानुशासन, समता, सहिष्णुता, त्याग आदि नियमों व सदुणों पर आधारित था। उनके अनुयायी अपने व्यावसायिक प्रबन्धन में इन नियमों का अनुपालन करके उच्च आदर्शों की स्थापना कर रहे थे।

मुद्रा और राजस्व

आगम-युग में अर्थशास्त्र था तो अर्थशास्त्र को सुगमता से संचालित करने वाली वस्तु 'मुद्रा' भी थी। हिरण्य या सुवर्ण मुख्य सिक्के थे, जो स्वर्ण और रजत के होते थे। इनके अलावा निम्न प्रकार के सिक्के प्रचलित थे -

1. **सुवर्ण-माष** : उत्तराध्ययन में इसका उल्लेख मिलता है। यह सोने का होता था।
2. **कार्षापण** (काहावण) : बिम्बसार (श्रेणिक) के समय राजगृह में इसका प्रचलन था। यह स्वर्ण, रजत और ताम्र, तीनों धातुओं का होता था।
3. **माषक** (मास) और अर्ध-माषक (आधा मासा) : इनका उल्लेख सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन में मिलता है।
4. **रुवग** (रुप्यक) : आवश्यक चूर्ण में यह शब्द आया है। वर्तमान में प्रचलित रुपया इसी शब्द से बना है।
5. **पन्निक** (पण) : यह शब्द पण्य से बना है, जिसका अर्थ है - बिक्री योग्य वस्तुएँ। व्यवहार भाष्य में इसका उल्लेख मिलता है।
6. **काकिणि** : यह ताम्बे का छोटा सिक्का होता था तथा दक्षिणापथ में प्रचलित था। उत्तराध्ययन टीका में इसका उल्लेख मिलता है।

इनके अलावा पायंकक, कवडुग (कौड़ी), द्रम, दीनार, केवडिग, सामरक आदि विभिन्न प्रकार की मुद्राओं के उल्लेख व्यवस्थित विनिमय प्रणाली और

विकसित अर्थव्यवस्था की सूचना देते हैं। समय-समय पर अनेक राजाओं ने अपने राज्य की मुद्राओं पर आगम और जैन धर्म से सम्बन्धित प्रतीकों का अंकन करके अहिंसा के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की। मुद्रा की भाँति माप-तौल के माध्यम भी पर्याप्त थे। जिनमें मान, उन्मान, अवमान, गणिम और प्रतिमान मुख्य हैं। विनिमय के इन माध्यमों की सुगमता से बैंकिंग प्रणाली भी विकसित हो रही थी।

व्यापार, वाणिज्य और उद्योगों का संचालन प्रजा-हित के लिए होता रहे तथा शासन के द्वारा उनका नियन्त्रण और नियमन होता रहे, इसके लिए राजस्व और कर-प्रणालियों की विद्यमानता के उल्लेख भी आगम-ग्रन्थों में मिलते हैं। खुशी और उत्सव के अवसरों पर राज्य द्वारा प्रजा को करों से मुक्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। भगवान महावीर के जन्मोत्सव पर राज्य की ओर से कर माफ कर दिये थे। ज्ञाताधर्मकथांग में करारोपण और कर-मुक्ति के अनेक प्रसंग हैं। करारोपण और अन्य माध्यमों से प्राप्त आय का राज्य लोक हितकारी कार्यों में व्यय करता था। शासन व्यवस्था और सैन्य व्यवस्था पर काफी धन खर्च किया जाता था। आगम सूत्रों में कल्याणकारी राज्य की स्थापना के अनेक निर्देश दिये गये हैं।

प्राथमिक उद्योग (Primary Industries)

शोध-प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में जैन आगमों में वर्णित आर्थिक जीवन पर अनेक दृष्टियों से विवेचन किया गया है। कृषि और पशुपालन उस समय के मुख्य धन्धे थे। भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है। कृषि अहिंसा की आधारशिला है। मांसाहार से विरत होने और सात्विक भोजन की व्यवस्था के लिए कृषि ही एकमात्र आधार है। जैन ग्रन्थों के अनुसार भगवान ऋषभदेव कृषि के प्रथम उपदेष्टा रहे हैं। कृषि को आर्य-कर्म और अल्पारम्भी माना गया है। ग्रन्थों में प्रायः सभी प्रकार की फसलों और कृषि-उपजों का उल्लेख है। मानव का कृषि ज्ञान बहुत उन्नत था। कृषि के साथ ही कृषि के सहायक के रूप में पशुपालन किया जाता था। समाज व्यवस्था और प्राथमिक उद्योग के रूप में ये व्यवसाय प्रतिष्ठित थे। भगवान महावीर के मुख्य श्रावक आनन्द आदि भी इन व्यवसायों से जुड़े थे। दुग्ध और दुग्ध-उत्पादों के व्यवसाय के रूप में पशुपालन का महत्व था। साथ ही खेती-बाड़ी, यातायात और सवारी के रूप में भी पशु-पालन की बहुत उपयोगिता थी। पशु परिवार के सदस्यों की भाँति होते थे। आगमों का आचार-दर्शन पशुओं प्रति संवेदना की प्रबल प्रेरणाएँ देता है। वहाँ मांस-प्राप्ति के लिए पशुपालन का

स्पष्ट निषेध है। आगमों में अठारह प्रकार के करों का वर्णन है। वे मुख्यतः कृषि से सम्बन्धित थे और गाँवों में लगाये जाते थे। इससे खेती-बाड़ी और गाँवों की विकसित अवस्था का पता चलता है। क्योंकि जहाँ आय है, सामर्थ्य है, वहीं करारोपण किया जाता है।

कृषि के अलावा उद्यानिकी (बागवानी) का व्यवसाय भी था। फूल और इत्र इससे प्राप्त होते थे। उत्सवों के समय पुष्प और पुष्पहार के उपयोग के उदाहरण मिलते हैं। वर्धमान महावीर दीक्षा के समय जिस शिविका में आरूढ़ होकर महाभिनिष्क्रमण करते हैं, उसमें पुष्प-सज्जा भी की गई थी। व्यवसाय के लिए उपयोगी वृक्ष भी उगाये जाते थे। वनों में सहज उगे वृक्षों से लकड़ी, फल, फूल, पत्ते, जड़ी-बूँटियाँ, गोंद आदि अनेक वनोत्पाद लोगों की जीविका के आधार थे। श्रावक को निर्देश दिया गया है कि वह वनों को नुकसान पहुँचाने वाले धन्धे नहीं करें। खनन व्यवसाय भी प्राथमिक उद्योग के रूप में स्थापित था। उससे साधारण और मूल्यवान पत्थर, रत्न-मणियाँ, विभिन्न प्रकार की धातुएँ आदि प्राप्त होते थे। इन सब चीजों का व्यवसाय होता था।

द्वितीयक उद्योग (Secondary Industries)

द्वितीयक उद्योग के अन्तर्गत प्राथमिक उद्योगों पर आधारित उद्योगों को परिगणित किया जाता है। पुरुषों की बहत्तर और महिलाओं की चौंसठ कलाओं के अन्तर्गत अनेक ऐसी कलाएँ और शिल्प-विद्याएँ हैं, जो प्राथमिक उद्योगों पर अवलम्बित थीं। ये कलाएँ तत्कालीन शिक्षा-पद्धति की बहुआयामिता और उपयोगिता के साथ-साथ व्यापार-वाणिज्य के बहुआयामी विकास का प्रमाण भी है। लगभग सभी प्रकार के उद्योग-धन्धों की सूचना किसी न किसी रूप में आगम-साहित्य में मिलती है। वस्त्र उद्योग उन्नत अवस्था में था। अनेक प्रकार और कीमत के वस्त्रों का उत्पादन होता था। वस्त्रों पर कशीदाकारी होती थी और उन्हें रंगा भी जाता था। महाभिनिष्क्रमण के समय वर्धमान महावीर को अल्प भार का एक लाख सुवर्ण मुद्राओं के मूल्य का वस्त्र धारण करवाया गया।

धातु उद्योग के अन्तर्गत लौह-उद्योग था। यह उद्योग कृषि उपकरण, अस्त्र-शस्त्र, गाड़ियाँ तथा जीवन व्यवहार में काम आने वाली अनेक वस्तुओं की पूर्ति करता था। कितनी ही चीजें अनेक उत्पादों से मिलकर बनती हैं। लौह उद्योग के साथ काष्ठ उद्योग का महत्व था और वास्तु उद्योग का भी। लोहे की तरह

लकड़ी की स्वतन्त्र रूप से अनेक चीजें बनती थी। गृह-निर्माण में लकड़ी, लोहा, पत्थर और अन्य अनेक वस्तुएँ काम में आती थीं। ग्रन्थों में बड़े-बड़े भव्य भवनों और बहुमंजिले प्रासादों का वर्णन उत्तम गृह निर्माण विद्या का प्रमाण है। इन भवनों की बाहरी और भीतरी सजा के लिए अनेक वस्तुएँ काम आती थी और उनके भी व्यवसाय थे। जैसे मकानों की दीवारों पर चित्र बनाये जाते थे, इससे चित्र-व्यवसाय होने की सूचना मिलती है। शिविकाओं, वाहनों और अन्य स्थानों पर भी चित्र बनाये जाते थे। मकानों के शिखरों, झरोखों, रथों, सिंहासनों आदि को मणिरत्नों से जड़ा जाता था। अनेक व्यवसाय एक दूसरे व्यवसाय से जुड़े हुए थे। स्वर्ण-रजत व्यवसाय और रत्न-व्यवसाय भी एक दूसरे से जुड़े हुए थे। रत्नों का खूब व्यापार होता था। विदेशी भी यहाँ रत्न खरीदने आते थे। राजाओं और सेठों के भण्डार सोने चाँदी और रत्नों से भरे हुए होते थे। स्वर्ण-रजत और रत्नों की हर देश और काल में परिवर्तनीयता तथा उपयोगिता रहती है, इसलिए बचत और संग्रह के रूप में इनका उपयोग किया जाता था।

— गुड़, शक्कर, तेल, दवाइयाँ, प्रसाधन, नमक, चर्म आदि अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे आगम युग में विद्यमान थे। प्रज्ञापना-सूत्र में अहिंसक और अल्प-आरम्भ वाले शिल्प और व्यवसायों को आर्य (उत्तम और अनिन्दित) माना है।

व्यापार और व्यापार-केन्द्र

जैन आगमों से ज्ञात होता है कि सभी स्तरों पर और सभी क्षेत्रों में व्यापार, व्यवसाय और वाणिज्य फैला हुआ था। स्थानीय व्यापार करने वाले छोटे व्यापारी वणिक् कहलाते थे और बड़े व्यवसायियों को गाथापति कहा गया है। आनन्द श्रावक भी गाथापति था। धन-सम्पन्न व्यापारी को इम्भ कहा गया है। व्यापारिक काफिले को सार्थ कहा जाता था। सार्थवाह सार्थ का संचालक होता था। वह उस समय का बहुत महत्वपूर्ण और प्रतिष्ठित व्यक्ति होता था। जो संयुक्त विदेशी व्यापार में पराक्रम करने वाला होता था। विदेशी व्यापार के कारण वह एक नहीं, अनेक देशों की अर्थव्यवस्था के उत्थान में योगदान करता था। लोगों के व्यापार में प्रत्यक्ष रूप से सहायक बनता था। राज्य और समाज में उसका बहुत मान-सम्मान होता था। ग्रन्थों में तीर्थंकर महावीर को महासार्थवाह की उपमा दी गई है। सार्थवाह के योगदान और महत्व का अनुमान इससे लगाया जा सकता है। महिलाओं के द्वारा व्यवसाय करने की सूचनाएँ मिलती हैं। व्यापारियों के संगठन भी होते थे। अनेक

नगर व्यापार-केन्द्र और व्यापारिक मण्डियों के रूप में विख्यात थे। जहाँ अनेक प्रकार के माल का आवागमन, विपणन और ऋय-विक्रय होता था।

देशी-विदेशी व्यापार के लिए प्रसिद्ध व्यापारिक मार्गों का वर्णन भी आगम-ग्रन्थों में मिलता है। स्थल, जल और समुद्री मार्गों से व्यापार होता था। इन मार्गों से आयात-निर्यात होता था। अर्थोपार्जन के लिए लोग कठिन से कठिन मार्गों से भी व्यापार करने का साहस कर लेते थे। स्थल मार्गों की यात्राएँ स्थल-वाहनों से की जाती थीं, जिनमें गाड़ियाँ, शकट, रथ आदि का उपयोग होता था। जल-वाहनों में नौकाएँ, जहाज, पोत आदि के उल्लेख प्राप्त होते हैं। ग्रन्थों में वायु-मार्ग से आवागमन के उल्लेख भी मिलते हैं। वाहनों के निर्माण और मरम्मत का व्यवसाय भी होता था। आगम ग्रन्थों में उज्वल और साहसी आर्थिक चरित्रों के अनेक आख्यान मिलते हैं। तत्कालीन भारतवर्ष की वाणिज्यिक गतिविधियों के बहुमूल्य दस्तावेज के रूप में उनका जीवन आगम के स्वर्णिम पृष्ठों पर अंकित है। उपासकदशांग के दस श्रावकों के अलावा रोहिणी ज्ञात, माकन्दी सार्थवाह, धन्य सार्थवाह, समुद्रपालीय आदि नाम उल्लेखनीय हैं।

अणुव्रत और समता

शोध-प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में गृहस्थाचार का अर्थशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। गृहस्थ-जीवन का संचालन मुख्यतः व्यवसाय और वाणिज्य पर आधारित होता है। गृहस्थाचार के अधिकांश नियमों, व्रतों और अतिचारों का आर्थिक जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। गृहस्थाचार के अन्तर्गत बारह व्रत और उनके साठ अतिचार और पन्द्रह कर्मादानों का अर्थिक विवेचन किया गया है। साठ अतिचारों का निषेध व्यक्तित्व विकास की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। मानवीय, सामाजिक हितों का ध्यान रखते हुए, राजकीय नियमों का पालन करते हुए, व्यक्ति की प्रतिष्ठा की सुरक्षा के साथ अर्थोपार्जन करने की पुनीत व्यवस्था गृहस्थाचार में विद्यमान है। गृहस्थाचार के बारह व्रतों में पाँच अणुव्रत, तीन गुण व्रत और चार शिक्षाव्रत हैं। अणुव्रत यानि छोटे-छोटे व्रत, जो जीवन-निर्माण में सहायक बनते हैं। अणुव्रतों की ताकत इतनी है कि वे अणुबम की शक्ति को भी परास्त कर सकते हैं। वे व्यक्ति के पुनीत संकल्पों और प्रशस्त उद्देश्यों के साथ जुड़े हैं। उनमें सर्वत्र त्याग विद्यमान है, जो समतावाद की आधारशिला है। अहिंसा में समता की अनुभूति है, सत्य में समता का व्यवहार है, अचौर्य में समता की वेदना है, ब्रह्मचर्य

में समता का विकास है और अपरिग्रह में समता का संघटक-संस्थान है। गरीबी में इच्छाओं और अनावश्यक इच्छाओं की व्यथा है और अमीरी में अतृप्ति का दुःख है। सन्तुष्टि और वृत्ति-सन्तुलन त्याग पर निर्भर है। अणुव्रत मानव को भीतर से तृप्त करते हैं। वे समाज और देश में उच्चतर नैतिक मूल्यों के द्वारा समृद्धि, संतुष्टि और समता के आर्थिक-चरित्र की स्थापना करते हैं। अणुव्रतों के माध्यम से भगवान महावीर मानव को धार्मिक बनाने से पहले नैतिक बनाते हैं।

गुणव्रत और संयम

गुणव्रत मनुष्य और समाज की गुणवत्ता को बहुगुणित करते हैं। इनकी स्थापना से पूर्व भगवान महावीर रात्रि भोजन निषेध का महत्वपूर्ण व्रत समाज को देते हैं। जो स्वास्थ्य और संयम का महत्वपूर्ण आधार है। दिशा-परिमाण में साम्राज्यवाद का निषेध है और आत्म-निर्भरता की प्रेरणा है। उपभोग परिभोग परिमाण 'संयमः खलु जीवनम्' की आचार-संहिता प्रदान करता है। अर्थशास्त्र की भाषा में यह व्रत उपभोक्ता की सीमान्त, सम-सीमान्त उपयोगिता और उपभोक्ता की बचत में वृद्धि करता है। वर्जित व्यवसाय के अन्तर्गत पन्द्रह कर्मादान अर्थोपार्जन में साधन-शुद्धि की सीख देते हैं। एक सद्गृहस्थ को ऐसा धन्धा नहीं करना चाहिये, जो हिंसक हो, तथा समाज, मानवीयता और पर्यावरण की दृष्टि से अनुपयुक्त हो। अपव्यय और अनुत्पादक व्यय वर्तमान जीवन शैली का बड़ा अभिशाप है। यह व्यक्तिगत, सामूहिक, राजकीय और व्यावसायिक सभी स्तरों पर विभिन्न रूपों में हो रहा है। अनर्थदण्ड विरमण व्रत सभी प्रकार के अपव्ययों पर अंकुश लगाता है।

शिक्षा व्रत और संविभाग

शिक्षा व्रत मानव को योग्य बनाते हैं। तनाव-मुक्ति के प्रबन्धन में इन व्रतों की महत्ता है। अतिथि संविभाग व्रत सेवा और सामाजिक समता का बड़ा आधार है। जैनों ने अपने जीवन में इस व्रत का बहुत विस्तार किया है। दान इसी का एक रूप है, जिसे श्रावक का आवश्यक कर्तव्य बताया गया है। दान दीनता या एहसान करने की क्रिया नहीं है, अपितु त्याग, सहयोग, अनासक्ति और स्वत्व-विसर्जन की साधना है। करारोपण दान का राजकीय रूप है। आनुपातिक दृष्टि से देखा जाय तो देश में जैन समाज सर्वाधिक कर देने वाला समाज है। सेवा, साधना, शिक्षा, चिकित्सा जैसे पारमार्थिक कार्यों में भी जैन समाज अग्रणी है। आगम युग

से लेकर आज तक जैनों की दानशीलता की महिमा से इतिहास भरा पड़ा है। राष्ट्र पर आये किसी भी प्रकार के संकट के समय जैनों ने अपनी मुक्त दानशीलता का परिचय दिया है। केवल धन का विसर्जन ही नहीं, कर्तव्य के अनेक मोर्चों पर उन्होंने अपनी निष्ठापूर्ण सक्रिय सहभागिता निभाई है।

व्यसन-मुक्ति और सम्पन्नता

जैन आगम स्थानांग सूत्र में वर्णित दस प्रकार के धर्म नागरिकों के लिए ग्राम/नगर से लेकर राष्ट्र और मानवता के प्रति कर्तव्यों का निर्देश करते हैं। आचार्यों ने गृहस्थाचार का समय-समय पर बहुत विकास किया, उसे नये आयाम दिये और युगानुकूल बनाने के प्रयास किये। इस क्रम में सात कुव्यसनों का त्याग बहुत महत्वपूर्ण है। जीवन के सुख और सौभाग्य को बचाने के लिए व्यसन-मुक्ति परमावश्यक है। जैनों की सम्पन्नता की एक बड़ी वजह उनका व्यसन-मुक्त होना है। एक व्यक्ति दिन के सौ रुपये कमाता है और उन्हें शराब आदि व्यसनों में उड़ा देता है। दूसरा केवल पिचहत्तर रुपये कमाता है, जिनमें से पचास रुपये से अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करता है और पच्चीस रुपये की बचत करता है। पहला व्यक्ति अधिक कमाने के बावजूद व्यसनों के कारण स्वयं और परिवार को दरिद्रता के गर्त में धकेल देता है, जबकि दूसरा व्यक्ति कम कमाने के बावजूद निरन्तर समर्थ और सम्पन्न होता रहता है। जो लोग सम्पन्न व्यक्तियों पर शोषण का आरोप लगाते हैं, उन्हें उनकी जीवन-शैली का अध्ययन भी करना चाहिये। गृहस्थाचार के विकास में आचार्य हेमचन्द्र प्रणीत मार्गानुसारी के 35 गुण एक नैतिक-आर्थिक मनुष्य के लिए अनेक उपयोगी तथ्य प्रस्तुत करते हैं।

सिद्धान्त और दर्शन का आर्थिक पक्ष

शोध प्रबन्ध के पाँचवें अध्याय में भगवान महावीर के सिद्धान्त और दर्शन का अर्थशास्त्र के साथ सह-सम्बन्ध का अध्ययन किया गया है। किसी भी व्यवस्था के पीछे कोई न कोई सिद्धान्त, दर्शन या मान्यता काम करती है। जैनाचार, जैन जीवन शैली या आगमों से निर्देशित जीवन शैली के पीछे भगवान महावीर के सिद्धान्त और दर्शन की सुदृढ़ भूमिका है। व्यक्तित्व विकास में सम्यक् दर्शन पहली भूमिका है। दर्शन के सम्यक् होने पर ज्ञान और चारित्र्य भी सम्यक् बन जाते हैं। जीव और अजीव के स्वरूप का परिज्ञान सम्यक्त्व की भूमिका पर होता है। यह ज्ञान ही अहिंसा का आधार बनता है। जो व्यक्ति जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आश्रव-

संवर और निर्जरा-बन्ध को समझता है, उसका आचरण दूसरों जैसा होते हुए भी दूसरों से भिन्न होता है। उसका विवेक सदा प्रदीप्त रहता है, इसलिए वह पाप नहीं करता है - *समत्तदंसी न करेई पावं*। आहार करने के साथ वह अनाहार का महत्व भी समझता है। निर्जरा के लिए एक नहीं, बारह प्रकार के तपों द्वारा जीवन को नित नये आयाम देता है। उसकी तपस्याएँ उसके लिए ही नहीं, सबके लिए लाभदायक सिद्ध होती है। तप का आर्थिक मूल्यांकन रोचक है।

कर्मवाद जैन धर्म का मुख्य सिद्धान्त है। आर्थिक दृष्टि से इसकी सबसे बड़ी फलश्रुति पुरुषार्थवाद और कर्मण्यता का परिष्कार है। इसके बाद कषाय-मुक्ति का आर्थिक मूल्यांकन किया गया है। लोभ से शोषण और अप्रामाणिकता बढ़ती है। क्रोध से युद्ध, आक्रमण, प्रहार, हत्या आदि घटनाएँ होती हैं। माया से अविश्वास और अमैत्री तथा मान से घृणा आदि बुराइयाँ पनपती हैं। इन बुराइयों से हमारे सामाजिक-आर्थिक जीवन में तरह-तरह की समस्याएँ पैदा होती हैं। निर्लोभता, निराभिमानीता, ऋजुता-मृदुता और क्षमा-सहिष्णुता से ये सारी समस्याएँ नौ दो ग्यारह हो जाती हैं।

अहिंसा और अनेकान्त

वस्तु-स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त भी जैन दर्शन का मौलिक और वैज्ञानिक सिद्धान्त है। यह अहिंसा और स्वतन्त्रता की गहरे अर्थों में व्याख्या करता है। जिसकी समझ गहरी हो जाती है, उस पर कोई विचार या नियम थोपने की आवश्यकता नहीं रहती है। आत्मवाद की निष्पत्ति वस्तु-स्वातन्त्र्य से होती है। आचारांग सूत्र में दिया गया स्थावर कायिक जीवों की रक्षा का सन्देश वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण की दृष्टि से बहुत मूल्यवान हो गया है। स्थावर जीवों की रक्षा के साथ तस जीवों की रक्षा और तस जीवों की रक्षा के साथ स्थावर जीवों की रक्षा जुड़ी हुई है। पारिस्थितिकी और जैव-विविधता की दृष्टि से अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या का बहुत महत्व हो जाता है। इससे सूक्ष्म-अहिंसा के अनुपालन की प्रेरणा मिलती है। आत्मवाद की इस आधारभूमि पर मानववाद भी खड़ा है। आगम-साहित्य में मानवीय एकता के अनेक उदाहरण हैं। भगवान महावीर के संघ में बिना किसी भेद के सबको उन्नति के समान अवसर प्राप्त हैं तो सार्थवाह के सार्थ में भी हर जाति, वर्ण और वर्ग के व्यक्ति होते हैं।

अनेकान्त का सिद्धान्त विश्व को जैन दर्शन की मौलिक देन है। अनेकान्त ने मानव-जाति के विकास में अपूर्व योगदान किया है। अर्थशास्त्र में भी अनेकान्त

की उपयोगिता असन्दिग्ध है। अर्थशास्त्रीय नियमों, सूत्रों और मानकों को लागू करने में अनेकान्तिक दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है। कुशल प्रबन्धन, वैचारिक सहिष्णुता और सामाजिक एकता के लिए अनेकान्त आज सबका मार्गदर्शन कर रहा है। यह अहिंसा का वैचारिक पक्ष है।

अहिंसा सभी सिद्धान्तों का केन्द्रीय बिन्दु है। आगमों के सन्दर्भ में अहिंसा की चर्चा के अनेकानेक आयाम हैं। शोध-प्रबन्ध के पाँचवें अध्याय के पाँचवें परिच्छेद में प्राणी-रक्षा और शाकाहार का अर्थशास्त्रीय अध्ययन किया गया है। मांसाहार की बेतहाशा बढ़ती प्रवृत्ति और बूचड़खानों की रक्त-रंजित आर्थिको से संसार अनेक संकटों से घिरा हुआ है। शाकाहार आरोग्यदायक और पर्यावरण का मित्र है। धरती पर छाई जल-संकट और भुखमरी की समस्याओं को शाकाहार अपना कर दूर किया जा सकता है। युद्ध और आतंक की समाप्ति में भी शाकाहार एक कारगर उपाय है। यान्त्रिक बूचड़खानों ने तो हमारे अर्थ-तन्त्र को तार-तार कर दिया है।

आत्म-संयम और परिवार-नियोजन

शोध-प्रबन्ध के पाँचवें अध्याय के छठे परिच्छेद में संयम की चर्चा है। संयम की कई दृष्टियों से चर्चा की गई। भगवान महावीर महत्व की बात कहते हैं कि जो चीजें निर्जीव हैं, उनके उपयोग में भी संयम और विवेक होना चाहिये। इसके बाद आत्म-संयम (ब्रह्मचर्य) और जनसंख्या के सिद्धान्त का विवेचन है कि किस प्रकार जनसंख्या-नियन्त्रण और परिवार-नियोजन के लिए आत्म-संयम एक निरापद उपाय के रूप में भटकती मानवता को नई राह दिखाता है। ब्रह्मचर्य समाज में सदाचार की स्थापना करता है। स्त्री पुरुषों को वह अनेक परेशानियों से बचाता है। अर्थशास्त्र में जिसे मानव-संसाधन कहा जाता है, सदाचार से वह समर्थ और बलशाली होता है। स्त्री-स्वतन्त्रता और स्त्री-पुरुष समानता में भी ब्रह्मचर्य की अनूठी भूमिका है।

अपरिग्रह का अर्थशास्त्र

शोध प्रबन्ध के अन्तिम छठे अध्याय में आगमिक और आधुनिक अर्थव्यवस्था का तुलनात्मक मूल्यांकन किया गया है। साथ ही जैन परम्परा की दृष्टि से मध्यकालीन आर्थिक-सामाजिक विचारों और विचारकों पर चर्चा की गई है। प्रथम परिच्छेद में भगवान महावीर के अर्थशास्त्रीय व्यक्तित्व में उनके जीवन

की उन घटनाओं पर विचार किया गया है, जिनका आर्थिक दृष्टि से बहुत महत्व है। द्वितीय परिच्छेद में अपरिग्रह की चर्चा है। अपरिग्रह आगमिक अर्थशास्त्र का मूल व्रत है। अचौर्य इसका सहवर्ती है। अपरिग्रह और अचौर्य की मूल भावना पर आधारित समाज-व्यवस्था से आधुनिक आर्थिक सामाजिक विचारक भी आकर्षित हुए हैं। अपरिग्रह का व्रत व्यक्ति की आन्तरिक रिक्तता को भरता है। उपभोग-परिभोग परिमाण और इच्छा-परिमाण इसके संचालन में सहायक बनते हैं। हिंसा की मुख्य वजह परिग्रह है, इसलिए अपरिग्रह अहिंसा और अहिंसक तथा समतामय समाज व्यवस्था का आधार है। आगम ग्रन्थों में परिग्रह के तीस नाम बताकर उसे हर कोण और हर स्तर पर छोड़ने की सलाह दी गई है। अपरिग्रह अप्रमाद और कर्तव्यनिष्ठा का प्रेरक तत्व है, इसलिए वह विकास का कारण है। यह व्रत व्यक्तित्व रूपान्तरण से व्यवस्था परिवर्तन में सहायक बनता है।

मध्यकाल पर प्रभाव

भगवान महावीर के विचारों से मानव के व्यक्तित्व और समाज की व्यवस्थाओं में क्रान्तिकारी तब्दीलियाँ हो रही थीं। उनका प्रभाव अनेक रूपों में आगे से आगे बढ़ रहा था। प्रभावशाली मौर्य साम्राज्य के संचालनकर्ता चन्द्रगुप्त ने तीर्थंकर महावीर की श्रमण परम्परा में श्रमण जीवन अंगीकार कर लिया। इस घटना से जन जीवन पर भगवान महावीर के विचारों का गहरा प्रभाव हुआ। कौटिलीय अर्थशास्त्र के रचयिता महामात्य चाणक्य की स्वल्प निजी सम्पदा को आगमिक जीवन शैली के निदर्शन के रूप में समझा जा सकता है। मध्यकाल के अनेक शासक और विचारक जैन परम्परा से प्रभावित रहे। चौथी पाँचवीं सदी के ग्रन्थ वसुदेवहिण्डी में वर्णित आर्थिक जीवन पर विमर्श के बाद आठवीं सदी के ग्रन्थ कुवलयमालाकहा में वर्णित आर्थिक जीवन पर विचार किया गया है। जैन श्रमणों ने हर युग में गृहस्थ-वर्ग को अणुव्रतों की जीवन शैली बताई। व्रतों की व्यवस्था से समाज की अर्थव्यवस्था पर अनुकूल असर होना स्वाभाविक था। दसवीं सदी के विचारक सोमदेव सूरि ने 'नीतिवाक्यामृत' लिखकर समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र से नीतिशास्त्र को जोड़ा। बारहवीं सदी में कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने अपने युग को गहराई तक प्रभावित किया। अठारह देशों के सम्राट् कुमारपाल के वे सर्वेसर्वा मार्गदर्शक थे। कुमारपाल का राज्य अहिंसक राज्य-व्यवस्था और समतामय समाज-व्यवस्था का आदर्श उदाहरण है। सम्राट् कुमारपाल का जीवन अणुव्रतों से अनुप्राणित था। हर युग और कालखण्ड में भगवान महावीर के अनुयायी शासन

और समाज की धुरी बनकर रहे। व्यापार और वाणिज्य का संचालन खासतौर पर उनके हाथों में रहा। अर्थव्यवस्था में उनका योगदान अपरम्पार है। जैनों द्वारा प्राकृत भाषा को महत्व दिये जाने से लोकतन्त्रात्मक और विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था को बल मिला।

आधुनिक अर्थव्यवस्था और अहिंसा

इस अध्याय के अगले परिच्छेद में आधुनिक अर्थव्यवस्था के कई स्वरूपों पर विचार किया गया है। औद्योगिक क्रान्ति और वैज्ञानिक तकनीकी विकास के बीच विश्व की आर्थिक सामाजिक व्यवस्थाओं में युगान्तरकारी परिवर्तन हुए। कहीं पूंजीवाद को ठीक समझा गया तो कहीं समाजवाद और साम्यवाद को ठीक समझा गया। दोनों के अपने-अपने गुण-दोष हैं। जैन दर्शन व्यवस्थाओं के सापेक्षिक मूल्यांकन और श्रेष्ठ के समन्वय पर बल देता है। बीसवीं सदी में महात्मा गांधी सादगी, संयम, अहिंसा, अपरिग्रह आदि पर आधारित व्यवस्था पर जोर देते हैं। सक्षम ग्राम-तन्त्र का विचार भी इससे जुड़ा है। गांधीजी के विचार आगमिक जीवन व्यवस्था से बहुत निकट हैं। उनके आश्रम-व्रत, सर्वोदय और ट्रस्टीशिप में अणुव्रतों का आदर्श प्रकट होता है। अर्थशास्त्रियों का ध्यान भी ऐसी व्यवस्था की ओर गया, जिसमें मनुष्य भौतिक विकास के साथ-साथ, अपना सर्वांगीण विकास कर सके। उसे बड़ा आकर्षक नाम दिया गया - कल्याणकारी अर्थशास्त्र। परन्तु मानव की भौतिक इच्छाओं के अनन्त आकाश ने सन्तुष्टि, संयम, अपरिग्रह जैसी मूल्यवान् बातों को बहुत चतुराई से उपेक्षित कर दिया।

आर्थिक व्यवस्थाएँ बाजार के स्वरूप में अपना जाल फैलाकर प्रचुर भोग, उपभोग व परिभोग के माध्यम से उपभोक्तावाद को स्थापित करने का प्रयास करती हैं। इसके लिए वह तरह-तरह के प्रलोभनकारी विज्ञापनों का सहारा लेती हैं। बाजारवादी व्यवस्था की गतिशीलता में औरत एक बहुत बड़े औजार का काम करती हैं। आश्चर्य यह है कि नारी-मुक्ति की जोश-खरोश से बातें करने वाले इस पर चुप्पी साधे हुए हैं। उपभोक्तावाद को विश्वव्यापी बनाने के लिए वैश्वीकरण और भूमण्डलीकरण जैसे नये नाम और नारे गढ़े जाते हैं। इस बीच विकसित और धनी देश परमाणु शक्ति का डर बताकर विश्व में भय और हिंसा का माहौल पैदा कर रहे हैं। बारूद के ढेर अथवा हिंसा पर खड़ी व्यवस्थाएँ संसार को कब कितना

नुकसान पहुँचा दे, कुछ नहीं कहा जा सकता है। इस अनिश्चय में अहिंसा ही एक निश्चयात्मक और निश्चिन्तता प्रदान करने वाला निरापद रास्ता दिखाई पड़ता है। जैन आगम का अथवा अहिंसा का अर्थशास्त्र साधन और साध्य की शुचिता, अल्प-भोग, अल्प-परिग्रह, धन का विकेन्द्रीयकरण, प्रकृति व संस्कृति का संरक्षण, अशोषण जैसे स्थायी महत्व के मूल्यों पर बल देता है, जिनकी आज के विश्व को तीव्र आवश्यकता है। इसी विचार को केन्द्र में रखकर इस शोध-प्रबन्ध द्वारा जैन आगमों के आर्थिक मूल्यों को व्याख्यायित करने का प्रयास रहा है।

साहित्यकार डॉ. दिलीप धींग

साहित्य और समाज में कवि डॉ. दिलीप धींग एक सुपरिचित नाम है। महज बारह वर्ष की उम्र में कविता से लेखन की शुरुआत करने वाले डॉ. धींग ने विभिन्न विषयों और शैलियों में अब तक करीब डेढ़ हजार पद्यात्मक और सैकड़ों गद्यात्मक रचनाएँ लिखी हैं। जैन पत्र-पत्रिकाओं में सर्वाधिक प्रकाशित होने वाले युवा रचनाकार डॉ. धींग की अनेक कविताएँ और गीत लोगों को कण्ठस्थ हैं। मेवाड़ के कुछ जैन मन्दिरों में डॉ. धींग रचित राजस्थानी भाषा के पार्श्वनाथ जिन पूजन काव्य से नित्य पूजन किया जाता है। उनकी विविध वार्ताएँ, गीत, कविताएँ, परिचर्चाएँ आदि आकाशवाणी, उदयपुर से प्रसारित हुई हैं। वर्ष 2005-06 में अखिल भारतीय उत्तराध्ययन सूत्र एवं जैन तत्वज्ञान प्रतियोगिताओं का संयोजन करके उन्होंने घर-घर में आगम-स्वाध्याय की अलख जगाई।

आचार्य देवेन्द्र मुनि के करीब दो सौ प्रवचनों की प्रेस-रिपोर्टिंग सहित हजारों खबरें उन्होंने अखबारों के लिए लिखी हैं। प्रासंगिक व प्रेरक विषयों पर करीब पाँच हजार पत्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं और अखबारों के सम्पादकों के नाम लिखे और प्रकाशित हुए, जो रिकॉर्ड है। मंचों से प्रभावशाली काव्यपाठ करने वाले डॉ. धींग कुशल वक्ता हैं और सभाओं के संचालन में भी निपुण हैं।

सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर द्वारा जैनविद्या एवं प्राकृत की स्नातकोत्तर परीक्षा में स्वर्ण-पदक से सम्मानित डॉ. धींग ने 'जैन आगमों का अर्थशास्त्रीय मूल्यांकन' विषय पर विद्या-वाचस्पति (डॉक्टरेट) की उपाधि प्राप्त की। बरगद के बीज और 'मुक्तक-मुक्ता' उनकी कविताओं की प्रकाशित पुस्तकें हैं। समय से संवाद, मेरी कविताएँ, मेरे गीत, मेरे निबन्ध (नाम अनिर्णीत) आदि उनकी अप्रकाशित कृतियाँ हैं।

डॉ. दिलीप धींग ने शाकाहार, व्यसनमुक्ति, संस्कार, सदाचार जैसे मुद्दों पर अनेक गोष्ठियों, संगोष्ठियों, सम्मेलनों, कार्यशालाओं, यात्राओं आदि का आयोजन-संयोजन किया तथा ऐसे स्थानीय से लेकर राष्ट्रीय आयोजनों में सक्रिय सहभागिता निभाई है। धर्म, दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान के लिए अ.भा. श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ द्वारा अक्टूबर 2006 में डॉ., धींग को

राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित 'आचार्य हस्ती स्मृति सम्मान' से विभूषित किया गया। अखिल भारतीय स्तर पर शाकाहार और व्यसन-मुक्ति के लिए उल्लेखनीय कार्य करने के लिए उन्हें 'बेस्ट अवार्ड-2000' से सम्मानित किया गया। सतत् साहित्य-साधना व सेवा के लिए दर्जनों संस्थाओं ने उनको सम्मानित व अभिनन्दित किया है। अनेक साहित्यिक/सांस्कृतिक प्रतियोगिताओं में उन्हें पुरस्कार मिले हैं। लेखक अशोक बोहरा के अनुसार 'यदि आप आध्यात्मिक क्षेत्र के स्थान पर केवल साहित्यिक लेखन करते तो कवि कुमार दुष्यन्त के समकक्ष हिन्दी के सुस्थापित हस्ताक्षर होते।' स्वाध्यायी के रूप में देश-विदेश में अनेक बार पर्युषणकालीन सेवाएँ दे चुके 36 वर्षीय डॉ. दिलीप धींग समाज, साहित्य और संस्कृति के विकास में बहुमूल्य योगदान कर रहे हैं।

सम्पर्क :

डॉ. दिलीप धींग

ट्रेड हाउस, दूसरी मंजिल

26, अश्विनी बाजार

उदयपुर (राजस्थान)

दूरभाष:- 9414472720



प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

सोसायटी फॉर साइन्टिफिक एण्ड एथिकल लिविंग, जयपुर

ISBN-978-81-89698-45-4